सि० सीतल स्मारक ग्रन्थमाला-प्रथम पुष्प।

स्वतंत्रताका सोपान।

लेखक—

स्व० श्री० जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारीजी सीतलप्रसादजी

[करीब १०० आध्यात्मिक ग्रन्थोंके रचयिता या अनुवादक]

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

सम्पादक, जैनमित्र व मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय-सूरत।

प्रथमवार] वीर सं० २४७० [ई० सन् १९४४

मूल्य-तीन रुपया।

श्री०

स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी और स्मारक ग्रन्थमाला।

स्वनामधन्य स्वर्गीय जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर श्री० ब्र० शीतलप्रसादजीको भार जैन समाजमें कौन नहीं जानता ? क्योंकि आपके स्वपरोपकारी कार्यसे आपका नाम घर घरमें प्रचलित है व चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकेगा। सब कोई यही कहते हैं कि श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी एक ऐसे कर्मण्य ब्रह्मचारी होगये हैं जिनकी पूर्ति होना असंभव है।

श्री० ब्रह्मचारीजीका जन्म—लखनऊमें सं० १९३५ कार्तिक (सन् १८७८) में हुआ था और स्वर्गवास भी लखनऊमें ही सं० १९९८ (ता० ३० फर्वरी सन् १९४२) को हुआ था। माताका नाम था नारायणदेवी व पिताका नाम था ला० मक्खनलालजी। गृहस्थावस्थाका नाम लाला शीतलप्रसादजी था और दीक्षावस्थाका नाम भी ब्र० शीतलप्रसादजी था। आपने ३२ सालकी आयुमें एक ही मासमें अपनी ही कुटुम्बमें तीन आदमियोंके स्वर्गवास समारकी असारता जानकर फिर विवाह नहीं किया और बम्बई जाकर स्व० दानवीर जैनकुलभूषण सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे पी की संगमें रहने लगे व समाजसेवा करने लगे। और ३२ वर्षकी आयुमें सोलापुर जाकर श्री १०५ ऐलक पन्नालालजीसे ब्रह्मचारी दीक्षा ली थी। आपने सन् १९०२ से ४ तक जैन गजट (हिन्दी)

चलाया था और सन १९०९से १९२९ तक 'जैनमित्र' का सपादन बहुत सफलतापूर्वक किया था, फिर आपने दूसरे विचारोंके कारण 'जैनमित्र' की सम्पादकी छोड़कर सनातन जैन समाज स्थापित किया और सनातन जैन' पत्र निकाला (जिससे हम सहमत नहीं थे न हैं) तो भी मरते दम तक आपने 'जैनमित्र' की धार्मिक सेवा करना नहीं छोड़ाथा। आपके धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक लेख तो 'जैनमित्र' के प्रत्येक अंकमें चालू ही रहते थे।

आपने अपने जीवनमें लेखनीको कभी विश्राम नहीं दिया। रात्रिको दो दो बजेसे उठकर लेख व पुस्तकका मैटर लिखा करते थे व रेलकी सफरमें भी अपनी कलमको विश्राम नहीं देते थे। इससे ही डॉक्टरोंका कहना था कि अधिक लिखते रहनेसे ही हाथको कंप वायु होगया है, तो भी आपने इसकी परवाह नहीं की थी व मरते दम तक साहित्यसेवा की थी।

आप वर्ष भरमें ४ माह तो एक स्थानपर (चातुर्मासार्थ) ठहरते थे और शेष ८ मा.में ८ दिन भी एक स्थानपर नहीं ठहरते थे अर्थात् समाजसेवा व जैनधर्म-प्रचारार्थ रात दिन भ्रमण ही किया करते थे। धर्म प्रचारार्थ ऐसा भ्रमण करनेवाला त्यागी हमें तो आज तक भी नहीं दिखाई देता।

आपको आध्यात्मिक विषयकी अतीव लगन थी और आप कहते थे कि आध्यात्मिक उन्नति ही परम सुखका कारण है। इसमे आपने जो करीब १०० छोटे बड़े ग्रंथोंकी रचना या अनुवाद करके छपवाये थे या मुफ्त बटवाये थे व प्राय आध्यात्मिक विषयके हैं।

ब्रह्मचारीजी संस्कृत, हिंदी, गुजराती, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी भाषाओंके जानकार थे व इन प्रत्येक भाषामें उपदेश व व्याख्यान दे सकते थे। अजैनोंमें जैन धर्मके प्रचारार्थ जो कार्य आप कर गये हैं वह चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकेगा।

विद्यादान व शास्त्रदान करनेका उपदेश आप सतत् ऐसा दिया करते थे कि आपके उपदेशसे हजारों व लाखोंका विद्यादान होता था तथा प्रत्येक वर्ष 'जैनमित्र' द्वारा शास्त्रदानके लिये आप ५००) से १०००) तक एक २ दानीसे दिला सके थे। इसीसे तो प्रत्येक वर्ष 'जैनमित्र' के ग्राहकोंको उपहार ग्रंथ दिया जाता था जो आपके स्मारक फण्डसे अब भी चालू रखना है।

ब्रह्मचारीजीका विस्तृत जीवनचरित्र ग्रंथ तो श्री० प० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट संपादन करके मूल्यसे प्रकट करनेवाले हैं अत इसग्रंथमें स्थानाभावसे आपका विस्तृत परिचय हम नहीं दे सके हैं।

ब्र० सीतल स्मारक फंड और स्मारक ग्रंथमाला—श्री० पूज्य ब्रह्मचारीजीका स्वर्गवास होनेके १॥ माह पहले ही हमने लखनऊमें ब्रह्मचारीजीकी सम्मतिसे यह निश्चित किया था कि आपके स्मारकमें एक सीतल स्मारक फंड १००००) का खोला जायगा ताकि उसकी आयसे प्रतिवर्ष "जैनमित्र" के ग्राहकोंको एक२ ग्रंथ उपहार देसकें और सीतल स्मारक ग्रंथमाला हमेशाके लिये चालू होजावे। अत॰ आपका स्वर्गवास होते ही हमने यह फंड जैनमित्र द्वारा चालू किया था, जिसमें सतत् अपील करते रहनेपर भी १००००) पूरे नहीं हुए तौभी ६०००) से कुछ अधिक भरे गये हैं, इतनेसे ही

सन्तोष करके " सीतल स्मारक ग्रन्थमाला " का कार्य चालू कर रहे हैं, लेकिन इतने फंडसे यह कार्य पूर्णरूपेण चलना असंभव है। अतः शेष रुपया यथाशक्य प्रकाशक पूर्ण करेंगे ही ऐसी ।

लखनऊमें सीतल जैन छात्रालय ब्रह्मचारीके स्मारकमें परिषदकी ओरसे खोलनेको तथा देहलीमें 'सीतल जैन भवन' खोलनेको अलग स्मारक फंड खुले थे वे अभी तो नाम मात्रके हैं। क्योंकि उसका प्रचार कार्य इतना मन्द है कि उनके पूर्ण होनेकी सम्भावना बहुत कम है। ये दोनों फण्ड खोलनेकी घोषणाओंसे तो जैनमित्रके ब्र०सीतल स्मारक फण्डके १००००) पूरे नहीं हो सके हैं अन्यथा दस क्या बीस हजार रुपये पूरे होनेमें देर नहीं लगती। हम कहां तक कहें 'जैनमित्र' की अपीलसे ब्रह्मचारीजीकी सेवाके लिये जो रु० इकट्ठे हुए थे उनमेंसे बचे हुए करीब १२००) भी लखनऊसे इस फण्डको नहीं मिले हैं, तौ भी इस स्मारक ग्रन्थमालाका कार्य चालू कर ही दिया है। हां कागजकी पारावार दुष्काल व महगीसे इस प्रथम ग्रन्थराजमें सूद उपरान्त मूल रकममेंसे भी खर्च करना पड़ा है जो अनिवार्य था।

सीतल स्मारक ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प-श्री ब्र० सीतलप्रसादजीका बृहत् सचित्र जीवनचरित्र ही प्रकट करनेका हमारा विचार था और उसके लिये हम प्रयत्नशील थे व इसके लिये बहुत मसाला हम पं० अजितप्रसादजी सा० को लखनऊ भेज चुके थे, उसके बाद श्री पं० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट लखनऊ जिन्होंने मरते दमतक ब्रह्मचारीजीको अपने घरमें रखकर आपकी सेवा करनेमें कोई कमर नहीं

रखी थी उनका विचार हुआ कि हम ब्रह्मचारीजीका जीवनचरित्र बहुत सुन्दर व बहुत बड़ा निकालेंगे और उसका प्रचार अल्प मूल्यसे करना ठीक होगा तथा आपने 'जैनमित्र' द्वारा उस विषयकी प्रसादी भी प्रकट करना चालू कर दिया है। अतः हमने इस स्मारक ग्रंथमालाका प्रथम ग्रंथ स्व० ब्रह्मचारीजी द्वारा ५ वर्ष तक सतत् लिखित 'स्वतंत्रता' नामक लेखोंको "स्वतन्त्रताका सोपान" नामक ग्रंथके रूपमें प्रकट करना ही उचित समझा है।

ब्र० सीतल स्मारक फंड सूरतमें जो रुपये आये हैं उसकी सूची इस प्रथम ग्रंथमें देना भी हमने उचित समझा है जो इस प्रकार है—

ब्र० शीतलस्मारक फंड–सूरतकी खास रकमें।

५५१)	सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी	कलकत्ता
६०१)	मूलचंद किसनदास कापड़िया	सूरत
३२५)	ब्र० शीतलप्रसादजीके कुछ रुपये सेठ माणिकचंद पानाचंद कम्पनीमें जमा थे उसका ब्याज	बम्बई
२५०)	स्व० जे० एल० जैनी ट्रस्टफण्ड मा० मित्तल साहब	इन्दौर
२०७॥≥)	ब्र० शीतलप्रसादजीने १०००) श्राविकाश्रमको अर्पण, अर्पण किये हैं उसके सूदके ह० ललिताबाईजी	बम्बई
२००)	श्री० बाबू छोटेलालजी जैन	कलकत्ता
१५१)	श्री० सेठ लालचन्दजी सेठी	उज्जैन
१५१)	श्री० श्रीमंत रा० ब० सेठ हीरालालजी सा०	इन्दौर
१५१)	श्री० सेठ बालचन्द हीराचन्द दोशी सी आई ई	बम्बई
१०१)	श्रीमती विमलाबाई जीवनलाल छिम्मनदास कापड़िया	सूरत
१०१)	श्री० अमृतलाल छगनलाल पन्नीवाला	सूरत

१०१) श्री० प० जैन महिलाश्रम ललिताबाईजी श्राविकाश्रम बम्बई
१०१) सौ० कुसुमावती मोतीचन्द शाह बी ए ,,
१०१) श्रीमतीबाई कापडिया श्राविकाश्रम ,
१०१) नगीनलाल मुरतलाल शाह द्वा० मुरतलाल जीवलाल कोसम्बा
१०१) सेठ रामाराम गम्भीरमल ठोंग्या
द्वा० सेठ गुलाबचन्दजी ठोंग्या इन्दौर
१०१) श्री सेठ पन्नेचन्दजी सेठी फर्म सेठ परसराम हुलीचन्दजी ,,
१०१) सेठ हीराचन्द गुमानजी द्वा० माणिकचन्द पानाचन्द कम्पनी बम्बई
१०१) सेठ रतनचन्द हीराचन्द दोशी एम० ए० ,,
१०१) सेठ गदालाल बड़जात्या चन्दैल टूरकी ओरस
द्वा सेठ सूरजमलजी बड़जात्या इन्दौर
१०१) श्री० श्रीमत रा० रा० सर सेठ हुकमचन्दजी साहब इन्दौर
१०१) स्व० बापूभाई मूलचन्द कापडिया स्मरणार्थ सूरत
१०१) श्री सेठ मन्नूलालजी साहब आगासौद
६३॥) दिगम्बर जैन पंचान धरणगाव
५१) सेठ इश्वरलाल किसनदास कापडिया सूरत
७४॥-) स्व मीतलप्रसादजीके खातेसे सूदके
द्वा सेठ माणिकचन्द पानाचन्द कम्पनी बम्बई
५१) सेठ तलकचन्द रामाराम जौहरी ,,
५१) ,, जयन्तीलाल ललुभाई परीख ,
५१) ,, मोतीचन्द साकेरचन्द तामवाला सूरत
५१) ,, नाथूराम मुन्नालाल बैसाखिया सागर
५१) सेठ भगवानदास शोभाराम बीड़ीवाले सभैया सागर
४२॥) समस्त दि जैन समाज जबलपुर
३५) श्री० बालीबाई कीकाभाई बलतचन्द घीवाला सूरत
२) सौ० ललिता ठाकोरदास भगवानदास जौहरी बम्बई
२५) रामचन्द्रलाल जैन इसलामनगर
२५) बैरिस्टर चम्पतरायजी सा० जैन करांची

४३1) श्राविकाश्रम बम्बईकी श्राविकाओंसे	बम्बई
२१) दिगम्बर जैन पचान	दाहौद
२५) सेठ माइचद रूपचन्द दोशी	बम्बई
२५) ,, चदुलाल कस्तूरचद	,,
२५) ,, अमरचद चुनीलाल ज़रीवाला	,,
२५) ,, हीरालाल जेचद जौहरी	,,
२५) ,, भगवानदास के० वदस	,,
२५) ,, ठाकोरदास भगवानदास जौहरी	,,
२५) ,, नवनीतलाल रतनचद झवेरी	,,
२०) ,, केवलदास कालाभाइनी कपनी	बम्बई
२५) ,, कुशुदास जैन मुंशीलाल गुलाबराय	,,
२५) सेठ त्रिभुवनदास नीनलाल	बाराबंकी
२५) श्रा० चदनबाई तलकचद नेलाभाई वासवाला	,,
२५) सेठ नेमचद बालचद वकील	,,
२५) ,, माणेकलाल मथुराप्रसाद बजाज	उस्मानाबाद
२५) ,, गुरुप्रसाद हीरालाल जैन	सागर
२५) ,, पूरनचन्दजी गोधा	इलाहाबाद
२०) ,, नेमीलाल भगवानलाल जैन	उज्जैन
११) ला० रूपचन्द जैन गार्गीय	नीट
११) सेठ तोतुबा त्रिमनशा चवरे	पानीपत
११) ,, सखिचद मगनलाल सरैया	मलकापुर
१८) श्री दि० जैन पचान	सूरत
१५) ,, केशवलाल त्रिभोवनदास	वसो
१५) ,, त्रिभोवनदास रणछोड़दास चौकसी	वडौदा
१०) ,, सोभागचद कालिदास	बम्बई
१०) ला० रघुवीरसिंह जैन	टक्का
११) श्री० चद्र जैन	दहर्द
१०) ,, रतनसिंह जैन स्टेशन मास्टर	

१५) बा० नगीनदास नाथीदास कम्पनी	बम्बई
१०) „ जावनलाल चम्पालाल जैन	अजड
११) „ इब्राहीम गिरलाल मनजी बीसनयो कोठी	मधुवन
११) „ गुलाबचन्द टलचन्द फर्म	बम्बई
११) जि० गानुभाइ मूलचन्द किसनदास कापड़िया	सूरत
११) रमनली मूलचन्द किसनदास कापड़िया	
१०) नं० किशन दजी जैन उदासीनाश्रम	इन्दौर
११) „ मोहनलाल श्यामलालजी जैन	आगरा
११) हराचन्द महावीरप्रसाद जैन	इटावा
१०) „ रतनचन्द जैन पहारिया	सिहोरा
१०) राजकिशोर जैन	बाल्का
१०) मथुराप्रसादजी एम० डी० जी०	देहली
१०) जानकीदास जैन बी० ए०	„
१०) सेठ रिखबदासजी जैन मित्रमण्डल	
१०) ज्योतिरत्न प० निहालचन्द गिरधरदजी जैन वैद्य	फरुखनगर
११) सेठ अम्बालाल बालचन्द शाह	बम्बई
११) „ हमचन्द हरचन्द चौकसी	„
१०) „ राजमल गुलाबचन्द जैन फर्म	भेलसा
११) „ फभुदास हमचन्द शाह	सूरत
११) „ रतनलाल जैन कालकावाले	देहली
११) माणिकलाल हिरालाल गांधी	धन्धपुर

११) स्व० मगनबेन, ताराबाला छगनलाल घेलाभाइकी विधवाकी ओरसे हा हीरालाल सूरत

१०) काठारी पन्नालाल दलचन्द	दाहोद
१०) सूरजभान दीनदयाल जैन	नागरा
१०) ... चक्रवर्तिजी एम० ए०	मदरास
१० मथाई स्व० विष्णुपन्तकी स्मृतिमें श्राविकाश्रम	बम्बई
६ बा० जानकीदास जैन बी० ए०	नई देहली

प्रस्तावना।

स्वर्गीय पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी, आध्यात्मिक ज्ञान व प्रचारार्थ आध्यात्मिक लेखनी अलग २ रूपमें सतत् चलती रहती थी और इस कारणसे ही आप "जैनमित्र" द्वारा ई० सन् १९०९ से आध्यात्मिक लेख, प्रत्येक अंकमें लिखा करते थे जो मरते दम तक चालू रहा था।

इस प्रकार जैनमित्रमें जो आध्यात्मिक लेख प्रकट होते थे वे पुस्तक रूपमें प्रकट करानेका ब्रह्मचारीजीका विचार था वह भी आपके ही प्रयाससे पूर्ण हुआ था और वे 'मित्र' के उपहारमें भी बट थे व अंतिम लेख स्वतंत्रता भी आपके वियोगके बाद भी प्रकट होकर जैनमित्रके ग्राहकोंको भेटमें बट रहा है।

ऐसी अंतिम पुस्तकमें हम ठीक समझते हैं कि आपकी ऐसी पुस्तकोंका सामान्य परिचय भी दिया जावे जो इसप्रकार है—

(१) अनुभवानंद—यह लेख 'जैनमित्र" ता० २१ मई १९००से प्रारंभ होकर १० अक्टूबर १? तक छपा था जो पुस्तकाकार छपकर प्रकट होगया है व अभी भी मिलता है। इसमें 'अगम दुर्ग'से लगाकर 'अनुभव सुख ही सार है' यहां तक यह आध्यात्मिक लेखोंका समह है। पृ० १२८ मू० ॥)

(२) स्वसमरानंद अथवा चेतन-कर्मयुद्ध—इस विषयका

लेख "जैनमित्र" वर्ष १३ अंक १ वीर संवत २४३८ से प्रारम्भ होकर वर्ष १७ अंक २० वीर सं० २४४२ तक चला था जो पुस्तकाकार प्रगट होगया है। इसमें 'क्षयोपशम लब्धि' से लगाकर 'अयोग कवलीसे सिद्ध परमात्मा' तक कुल ३८ विषयोंका संग्रह है। पृ० ८१, सहायता मिलनेसे मूल्य सिर्फ तीन आना।

(३) निश्चयधर्मका मनन–इस विषयका लेख 'जैनमित्र' वर्ष १८ ता० ४–११–१६ से प्रारंभ होकर वर्ष २७ अंक ५२ ता० २८–१–२६ तक चला था जो २००) सहायता मिलनेसे पुस्तकाकार प्रगट होचुका है व स्वल्प मूल्यमें मिलता है। इसी ग्रंथमें 'आत्मिक दुर्ग–आत्मिक जहाज से लगाकर 'आत्मप्रतिष्ठा' तक कुल २५८ आध्यात्मिक विषयोंका महान संग्रह है। पृष्ठ ३९७ व लागतसे भी कम मूल्य सिर्फ १।)

(४) आध्यात्मिक सोपान–यह लेख "जैनमित्र" वर्ष ३० अंक ३० वीर सं० २४५१ तक चला था जिसमें 'देशना-लब्धि'से लगाकर 'चतुर्थ शुक्लध्यान–श्री सिद्ध भगवान' तक कुल ७४ आध्यात्मिक विषयोंका संग्रह है। सहायता मिलनेसे "दिगम्बर जैन" मासिकपत्रके २४ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट बटा था व १) मूल्यसे मिलता था जो अब अप्राप्य है। पृष्ठ ३२५ (क्या कोई दानी महाशय इसका पुनर्मुद्रण करावेंगे?)

(५) सहजानंदका सोपान–स्व० ब्रह्मचारीजीने 'जैनमित्र' वर्ष ३१ अंक १ वीर सं० २४५६ से २४६२ तक भेदविज्ञान, स्वानुभव और सहजानंद ऐसे तीन विषयोंके लेख लिखे,

जो सहायता मिलनेसे सहजानंदका सोपान नामसे प्रकट होकर 'जैनमित्र' के ४० वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें बटा था व अब भी अल्प मूल्यमें मिलता है।

इसमें सद्विज्ञानमें 'अज दृष्टांत' से लेकर 'आत्मभानु आराधना' तक ५० लेखोंका संग्रह है। फिर स्वानुभव नामक विषयमें 'एकांत मिथ्यात्व निषेध' से लेकर 'सच्ची दीवमालिका' तक ४९ लेखोंका संग्रह है और सहजानंद नामक विषयमें 'आत्माका स्वभाव' से लेकर 'गुप्त मोक्षमार्ग' तक ५० आध्यात्मिक लेखोंका अमूतपूर्व संग्रह है। पृ० २७४ व मू० एक रुपया।

(६) स्वतन्त्रताका सोपान—यह तो पाठकोंके सामने ही है। यह लेख ब्रह्मचारीजीने जैनमित्र वर्ष ३८ वीर स० २४६२ से, वर्ष ४३, वीर स० २४६८ अङ्क १९ ता० १०—२—४४ तक लिखा था। इसमें स्वतन्त्रतादेवीकी पूजासे लेकर 'कायगुप्ति विचय धर्मध्यान निर्जराभाव' तक कुल २५० आध्यात्मिक लेखोंका अपूर्व संग्रह है जिसको एक आध्यात्मिक ज्ञानभण्डार या स्व० ब्रह्मचारीजीकी अन्तिम प्रसादी ही समझना चाहिये।

"जैनमित्र" की ग्राहक संख्या इतनी बढ़ गई है कि ग्राहकोंको भेंट इनमें ही इसकी संख्या पूर्ण होजायगी अतः अब नहीं मिल सकेगा। पृ० सं० ४२५ है। कोई दानी श्रीमान सहायता देंगे तो इसकी दूसरी आवृत्ति भविष्यमें निकल सकती है। इसप्रकार जैन समाज व ब्रह्मचारीजीके प्यारे जैनमित्रमें ब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक लेखोंके संग्रह-ग्रन्थोंका यह परिचय है।

यह 'स्वतंत्रताका सोपान' ग्रंथराज विनामूल्य ही जैनमित्रके ४४–४५ वें वर्षके ग्राहकोंको घर बैठे पहुंच जायगा। इसके लिये प्रत्येक ग्राहकका कर्तव्य है कि वे इस ग्रंथको अब स्वाध्याय रूपसे एकबार तो क्या अनेकबार ध्यानपूर्वक पढ़ें और कुटुम्बके भाई बहिनोंको शास्त्र रूपमें सुनावें ताकि सबको आध्यात्मिक ज्ञानका गहन विषय समझमें आसकेगा और ब्रह्मचारीजीका व हमारा इसे प्रकट करनेका परिश्रम सफल हो सकेगा।

वीर सं० २४७०
दीपावली
ता० १७–१०–४४

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
–प्रकाशक।

विषय सूची ।

नमें,
ाज्य-
ा व
ाोग

। श्री वीतरागाय नमः ।

ब्र० ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी कृत–

स्वतंत्रताका सोपान।

१–स्वतंत्रता देवीकी पूजा।

धन्य है स्वतंत्रता देवी! तू जिसके घरमें वास करती है वह परम सुखी व निराकुल होजाता है। तेरी महिमा अपार है। जिस उपवनमें वृक्षोंको फूल फलादिसे हराभरा होनेके लिये, उनको अपनी स्वाभाविक उन्नति करनेके लिये, उनको अपने स्वतंत्र भावका संग करनेके लिये कोई विघ्न बाधा नहीं है वहीं स्वतंत्रताका निवास है। जिस धर्मकी उन्नति करनेके लिये, धार्मिक सिद्धांतोंका प्रचार करनेके लिये, धार्मिक रीतिके अनुसार धर्मका लाभ उठानेके लिये, उनमें दीक्षित हो हरएकको अपनी२ योग्यताके अनुसार प्रगति करनेके लिये कोई रुकावट नहीं है, कोई बंधन नहीं है वहीं स्वतंत्रता देवीका राज्य है। जिस समाजको धर्मानुकूल चलकर अपने दोषोंको हटानेमें, सद्गुणोंकी प्राप्ति करनेमें, निर्भय हो धर्मशास्त्रानुसार अपना हक लेनेमें, सर्व प्रकार आर्थिक, शारीरिक, औद्योगिक, नैतिक, धार्मिक व राजनैतिक उन्नति करनेमें कोई बाधा नहीं है, जहां कहीं कलहोंका व अविद्या पिशाचिनीका संचार नहीं, जहां एकता व प्रेमका उद्योत है वहीं स्वतंत्रताका शुभ धाम है।

जिस देशके निवासियोंको अपनी हर प्रकारकी उन्नति करनेमें, साम्प्रदायिक ज्ञान सम्पन्न होनेमें, व्यापार व उद्योग वृद्धि करनेमें, दरिद्रताके निवारणमें, स्वप्रतिष्ठाको अन्य देशोंके सामने स्थापित रखनेमें, सर्व नागरिक हकोंके भोग करनेमें, अपनी राज्यपद्धतिको समयानुसार उन्नतिकारक नियमोंके साथ परिवर्तन करनेमें कोई विघ्न बाधा नहीं है वहीं स्वतन्त्रताका राज्य है।

जिस आत्मामें अपने आत्मीक गुणोंके विकाश करनेमें—उनका सच्चा स्वाद लेनेमें—उनकी स्वाभाविक अवस्थाके विकाश करनेमें कोई पर वस्तुके द्वारा विघ्न बाधा नहीं है वहीं स्वतन्त्रताका सौंदर्य है। स्वतन्त्रता आभूषण है, परतन्त्रता बेडी है। स्वतन्त्रता प्रकाश है, परतन्त्रता अन्धकार है। स्वतन्त्रता मुक्ति धाम है, परतन्त्रता नरकवास है। स्वतन्त्रता अमृत सागर है, परतन्त्रता विषसमुद्र है। स्वतन्त्रता उत्तमांग है, परतन्त्रता पादतल है। स्वतन्त्रता पवित्रता है, परतन्त्रता मलीनता है। स्वतन्त्रता स्वभाव है परतन्त्रता विभाव है। स्वतन्त्रता मोक्ष धाम है, परतन्त्रता संसार है। स्वतन्त्रता विकाश क्षेत्र है, परतन्त्रता कारावास है। स्वतन्त्रता आनन्दरूप है परतन्त्रता दुःखरूप है। स्वतन्त्रता निराकुल है, परतन्त्रता आकुलतारूप है। स्वतन्त्रता आत्मविभूति है, परतन्त्रता दीनता है।

जहां परका स्वागत है परका मोह है, परसे राग है, परका सहयोग है, परमुखापेक्षीपना है, परनिर्भरता है, स्वशक्ति विस्मरण है, स्व विकाशमें प्रमाद है, स्व साहसकी कमी है, स्व वीर्यका अप्रकाश है वहीं परतन्त्रताका बन्धन है।

परतन्त्रतासे क्लेश है, परतन्त्रतासे भव भ्रमण है। जहां परसे वैराग्य

है, परका मोह नहीं है, न परसे राग है, न परसे द्वेष है, न परका आलम्बन है, न परसे प्रयोजन है, न पराधीन सुख कामना है, न परके ऊपर निर्भरता है, किंतु जहां स्वभावहीका स्वागत है, स्वभावका ही प्रेम है, स्वभावमें ही श्रद्धा है, स्वभावमे ही ज्ञान है, स्वभावहीमें चर्या है, स्वभावका ही स्वाद है, स्वभावहीमें रमण है स्वभावका ही आनंद है, स्वभावका ही भोग है, स्वभावके भोगमें पूर्णतया स्वतन्त्रता है, कोई पर कृत बाधा नहीं है, वहीं आत्माकी स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता मेरी प्यारी अर्धांगिनी है, मैं सर्व जगसे नाता तोड एक स्वतन्त्रता देवीकी ही पूजा करके स्वात्मानंदमें रमण करूंगा और परम संतोष पाऊंगा।

२–स्वतन्त्रता परम तत्व है।

स्वतन्त्रता प्रत्येक जीवका निज स्वभाव है। इस स्वतन्त्रताका स्वामी होकर भी यह जीव संसार अवस्थामें क्यों परतन्त्र होरहा है, इसका कारण इसीका मोह है। जैसे बन्दर चनके लोभसे चनसे भरे हुए घडेमें मुट्ठी डालता है, मुट्ठीमें चने भर करके बाहर निकालना चाहता है तब हाथ बाहर निकलता नहीं। वह अज्ञानसे समझ लेता है कि चनोंने हाथ पकड लिया। इस मिथ्याज्ञानसे कष्ट पाता है। यदि वह चनका लोभ छोड दे, मुट्ठीको खाली कर लेवे तो वह हाथ निकालकर सुखी होजावे। इसी तरह इस संसारी जीवने अपनेसे भिन्न जो जो पर वस्तु हैं उनसे ऐसा मोह कर रखा है कि उनकी संगति व राग कभी छोडना नहीं। शरीरके मोहमें व शरीर सम्बंधी स्त्री, पुत्रादि व मित्रोंके मोहमें व धन सम्पत्तिके लोभमें रातदिन फसा

रहता है। जिनसे इनकी वृद्धि होती है उनमें राग करता है, जिनसे कुछ हानिकी सम्भावना होती है उनसे द्वेष करता है।

इसतरह रागद्वेष मोहके वश होकर आप ही परतंत्र होरहा है। परतंत्र होकर रातदिन चिन्तातुर रहता है। तृष्णाकी दाहसे जलता है, बारबार जन्म मरणके कष्ट सहता है। इन्द्रियोंके विषयोंके सुखकी तीव्र लालसासे भारी२ आपत्तियोंको भी सहता है। कर्मोंकी जंजीरोंसे जकड़ा हुआ, यह प्राणी अनेक जन्मोंमें भ्रमण करके कष्ट पाता है।

यदि यह अपने बलको सम्हाले, अपने स्वभावको देखे, अपने गुणोंकी श्रद्धा करे, अपने भीतर छिपे हुए ईश्वरत्वको, सिद्धत्वको, परमात्मत्वको पहचाने, अपने भीतर आनन्दका समुद्र है ऐसी श्रद्धा करे, अपनेको अमूर्तीक कर्म पुद्गलोंसे व नोकर्म शरीरादिसे भिन्न अवलोकन करे, तथा यह भी जाने कि जितने विभाव भाव राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, हास्य, कामभाव आदि होते हैं, ये सब भी कर्म पुद्गलका रङ्ग है। मैं आत्मा हूँ, मेरे ये अपने स्वभाव नहीं। यह भी जाने मेरी सत्ता मेरे पास है। मेरे आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे पास है। मेरे आत्माके सिवाय अन्य सर्व आत्माओंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा सर्व ही अणु व स्कंध पुद्गलोंका या धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायका, काला णुओंका तथा आकाशका, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे आत्मामें नहीं है। मैं निराला हूं। मैं अपनी अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि सम्पत्तिका स्वयं भोक्ता हूं। इस ज्ञान तथा श्रद्धानसे विभूषित होकर जब कोई आपसे ही आपको अपनेमें अपने ही लिये अपनेसे भाव

ज्ञान लेकर अनुभव करता है, आपमें तल्लीन होता है, तब स्वतन्त्रताका भाव झलक जाता है। यह अपनेको सर्व परतन्त्रता रहित, सर्व परा-लम्बन रहित, सर्व आकुलताओंसे रहित जानता है, वेदता है तब यह सिद्ध भगवानके समान परमानंदका लाभ करता है। मैं सदा ही स्वतंत्र हूं, मुक्त हूं, सदा सुखी हूं। इस भावसे परिपूर्ण होकर जिस अपूर्व तृप्तिको पाता है उसका मनसे विचार नहीं हो सकता है। वचनसे उच्चार नहीं हो सकता है। कायसे प्रकाश नहीं हो सकता है। स्वतंत्रता परमतत्व है। मैं इसी तत्वको ग्रहण कर किसी अनि-र्वचनीय गुफामें बैठकर विश्राम करता हूं।

३—स्वतन्त्रता देवीका पुजारी।

स्वतन्त्रता वस्तुके स्वभावके अविरोध विकास या प्रकाशको कहते हैं। स्वभावका प्रकाश होसक्ता है, परन्तु विरोधक कारणोंसे नहीं होता है। उन कारणोंको मिटाना ही स्वतन्त्रताका प्राप्त करना है। भारतवासी जिन विरोधक कारणोंसे यथेष्ट उन्नति नहीं कर सके हैं, उनका दूर करना जैसे भारतीय स्वतन्त्रताका लाभ प्राप्त करना है वैसे आत्माके विकाशके बाधक ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको दूर करना आत्मीक स्वतन्त्रताको प्राप्त करना है।

स्वतन्त्रताके विना विभावदशामें प्राणीको स्वात्मनिधिका भंडार अपने पास होते हुए भी उसके यथेष्ट भोगसे वंचित रहना पड़ता है। आत्मस्वातंत्र्यके लाभका उपाय परसे समताभाव पूर्वक असहयोग है। द्वेषभावको किंचित् भी न करते हुए परम वैराग्यको रखते हुए सर्व पर

पदार्थोंकी तरफ रागद्वेष छोड़ते हुए केवल अपने ही स्वतंत्र शुद्ध स्वभावका ज्ञान श्रद्धानपूर्वक अनुभव करते हुए या उसका स्वाद लेते हुए वर्तना ही स्वतंत्रताका उपाय है। बंधका नाश आत्म पुरुषार्थसे ही होता है। एक पुरुष जंजीरोंसे जकड़ा बंधा है, यदि वह श्वासके निरोधका अभ्यास कर तो अपनेको ढीला करके बंधनोंको हटा सक्ता है। पुरुषार्थ आत्मीक शक्तिके उपयोगको कहते हैं। मैं स्वतंत्र स्वभावी हूं, मेरा कोई कभी बिगाड़ नहीं कर सक्ता है ऐसा दृढ़ श्रद्धान व ज्ञान व इसीके अनुकूल स्वस्वभावका ध्यान ही या स्वात्मानुभव ही आत्मस्वातंत्र्यका उपाय है।

सुखशांतिका सागर ही यह आत्मा है। इसके स्वभावमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं है। न कोई क्रोध मान माया लोभके विकार हैं, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा या कामभावके संस्कार हैं। न यहां अज्ञान है न वीर्यका ह्रास है। यहां तो पूर्ण ईश्वरत्व है या पूर्ण परमात्मत्व है। आत्माका आत्मामें ही अहंकार, आत्माका आत्मीक गुणोंमें ही ममकार तथा पर सम्बन्धी भावोंमें अहंकार व ममकारका अभाव। यही स्वमत्ताका विलास आत्मविकासका साधन है।

भले ही शरीर बना रहे। आठों कर्मोंका उदय होता रहे। बाहरी पदार्थोंका संयोग भी रहता रहे। ज्ञानीको अपने स्वभावका ज्ञान श्रद्धान व ध्यान करना कर्तव्य है। जो सुवर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी सुवर्णकी कांतिको नहीं मिटा सक्ता उसी सुवर्णका वर्णन प्रशंसा रूप होता है। गृहस्थ हो या साधु, जो सम्यग्ज्ञानी अपने शुद्धात्म भावको स्थिर रखकर शुद्धात्माके भीतर रमण करके उसी रमणताके

द्वारा सुख शांतिका अमृत रस पान करता है वही स्वतन्त्रतादेवीका पुजारी होकर स्वतन्त्रतादेवीको प्राप्त करके मुक्तिका साम्राज्य पालेता है।

४--स्वतन्त्रता मेरी नगरी है।

एक ज्ञानी आत्मा अपनेको औदारिक तैजस तथा कार्मण शरीरके बंधनरूपी पिंजरेमें बन्द देखकर बहुत खेदखिन्न होता है। जैसे चतुर पक्षी पिंजरमें व जालमें फसा हुआ पंखोंको रखते हुए भी उड़ नहीं सक्ता, उत्तम २ उपवनोंके भीतर नाना प्रकार ताजे फल खानेका व मिष्ट वापिकाओंके जल पीनेका सुख नहीं भोग सक्ता। इसी तरह यह आत्मा कर्मके जालमें फसा हुआ अपने शुद्ध व स्वाधीन स्वभावका आनंद भोग नहीं कर सक्ता। कर्मोंके उदयसे पराधीन होकर इसे शरीर व शरीरके सम्बंधोंमें राग द्वेष करना पड़ता है। इष्टकी प्राप्तिमें हर्ष व अनिष्टकी प्राप्तिमें द्वेष करना पड़ता है। इस राग द्वेषके कारण यह प्राणी कर्म बान्धकर नाना प्रकार सांसारिक, मानसिक व शारीरिक कष्ट पाता है। इस अवस्थासे छुटकारा पानेका उपाय एक मात्र स्वावलम्बन है। जो चैतन्य होकर अपनी अनंत-शक्तिका विश्वास लाता है वही बन्धनसे मुक्त हो सकता है। मैं द्रव्य हूं, सत् पदार्थ हूं, सामान्य और विशेष गुणोंका समुदाय हूं, गुणोंके भीतर स्वाभाविक परिणमन सहित हूं।

अतएव निरंतर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीन स्वभावका धारी हूं, मैं चैतन्य स्वरूप हूं, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गलसे भिन्न हूं, तथा मेरा आकार अमूर्तीक है व असंख्यात प्रदेशी है, इससे --

कम व अधिक नहीं होता हूं। मैं अनंत ज्ञान दर्शनकी शक्ति रखता हूं। जो कुछ भी जानने देखने योग्य हो सबको देख व जान सक्ता हूं। अनंत वीर्यका धारी हूं, अनंत सहजानन्द सुखका स्वामी हूं। मेरा सर्वस्व सब मेरे पास है। भले ही व्यवहार नयसे देखते हुए कर्मोंका संयोग सबन्ध रहा हो तथापि मैं बिल्कुल कर्मोंसे अबद्ध व अस्पृश्य हूं। मेरा कोई भी सबंध किसी भी परद्रव्यसे कदापि नहीं है।

इस तरह जो श्रद्धान करता है, जानता है व उसी स्वरूपमें तन्मय होता है वही निश्चय मोक्षमार्गरूपी छेदकको पाकर कर्मोंकी पाशको छेद डालता है। यह प्रज्ञाछेनी जिससे आत्मा परसे छूटकर आपसे आपमें रमण करता है, एक निश्चय धर्म है जहां द्रव्य स्वरूपके आश्रय ही निज तत्वमें सलग्नता है। न कभी बन्ध था, न अब है, न कभी होगा। त्रिकाल अबाधित एक स्वरूप निश्चल वीतराग अभेद स्वरूपमें ऐसा गुप्त होना कि मन, वचन, कायके सर्व विकल्पोंका छूट जाना यही एक अनुभवगोचर भाव कर्म छेदक है। इसीको शुद्धोपयोगकी एक पर्याय कहते हैं।

मैं अब सर्व शुभ अशुभ विकल्प जालोंको त्यागकर एक निष्तुष शुद्ध चावलकी तरह अपने एक केवल शुद्ध स्वरूपको अनुभव करता हूं। यही स्वतंत्रतारूपी मार्ग पूर्ण स्वतंत्रता होनेका उपाय है। जो अपने पूर्ण बलके साथ अपने स्वरूपमें ठहरता है, उससे परका सबंध स्वतः ही छूट जाता है। स्वतन्त्रता मेरी ही निज नगरी है। उसीमें विश्राम करता हूं।

५–सहज सुखोंका घर।

स्वतन्त्रता आत्माका स्वतत्र हक है। स्वतन्त्रता आत्माका निज स्वभाव है। स्वतन्त्रतासे पूर्णपने आत्माकी शक्तियां अपना२ काम करती हैं। स्वतन्त्रता बंधनोंके त्यागसे होती है। बंधनोंको काटना उचित है। बंधनोंमें अपनेको पटकनेवाला ही यही आत्मा है। जब यह रागद्वेष मोहसे मैला होता है यह अपनम कर्मबंध कर लेता है। जब यह वीतराग भावसे शुद्ध होता है तब यह कर्मबंध काटकर स्वतत्र होजाता है। वीतराग भावमें रहनेका उपाय परसे असहयोग व आत्माके साथ पूर्ण सहयोग है। एकदम अपने आत्माकी सम्पत्तिके सिवाय परसम्पत्तिसे पूर्ण वैराग्यकी आवश्यक्ता है। तथा निज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि सम्पत्तिसे पूर्ण अनुरागकी आवश्यकता है। जो जिसका प्रेमी होता है वह उसको अवश्य प्राप्त कर लेता है।

स्वस्वभावका प्रेम करना ही सम्यग्दर्शन है। स्वस्वभावका जानना सम्यग्ज्ञान है। स्वस्वभावमें लीन होना सम्यक्चारित्र है। स्वस्वभावमें रमणकी आवश्यक्ता है। स्वस्वभावमें रमणका उपाय स्वस्वभावको ही स्वस्वभाव रूप देखना है। जब द्रव्यकी अपेक्षासे स्वपदार्थको देखा जाता है तो यही भासता है कि उस पदार्थमें पर वस्तुका सयोग न कभी था न है, न कभी होगा। वह सदा ही अबंध–अस्पृश्य है, एक रूप है, अभेद है, निश्चल है, पर सयोगसे रहित है। परसे शून्य व निज सम्पत्तिसे अशून्य है। मन व इन्द्रियोंसे अगोचर है। परन्तु अपने अतीन्द्रिय स्वभावसे अनुभव करने योग्य है। सहज ज्ञान दर्शनका सागर है। सहज वीर्य तथा स

सुखोंका घर है। इसमें ज्ञाता ज्ञेय, ध्याता ध्येय, कर्ता कर्म क्रिया, गुण गुणी, एक अनेक, नित्य अनित्य, अस्ति नास्ति, शुद्ध अशुद्ध, प्रमत्त अप्रमत्त, बंध मोक्ष, साधन साध्य आदि कोई विकल्प नहीं है। यह क्या है सो भी कहा नहीं जाता। विचारमें भी ठीकठीक आता नहीं है। मन व वचन क्रम क्रमसे पदार्थसे गुणोंको जानते हैं। वह निर्वाण नाम आत्मा एक समयमें सर्व जानने योग्यको जानता है। उसमें न पुण्य है न पाप है। इस रूप ही मैं हूं। यही स्वसंवेदन ज्ञान स्वतंत्रता स्वरूप है। इसीमें जो रमण करता है वह अवश्य शीघ्र ही पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है तथा पूर्ण अखंड आत्मीक आनंदका निरंतर भोग करता है।

६–स्वतन्त्रताका भक्त ।

आज मैं सर्व परतंत्रता त्यागकर केवल स्वतंत्रता देवीका उपासक होता हूं। स्वतन्त्रतामें शांति है, आनंद है, समभाव है। स्वभावमें रमण है, संयोग वियोगका संकट नहीं है, जन्म मरणका झगड़ा नहीं है। न किसीके आक्रमणका भय है, न किसीपर आक्रमण करनेका द्वेष है। न चिंता है, न अभिमान है, न राग है न द्वेष है। न किसी स्वार्थको सिद्ध करना है, न लोभ है, न माया है। बिना किसी बाधाके अपनी आत्मीक सम्पत्तिका भोग है। इस स्वतन्त्रताकी उपासना हरएकको मंगलकारी है।

जो कर्मोके आधीन है, पुण्य पापके उदयके आधीन है, राग द्वेष मोह भावोंके आधीन है वह पराधीन है, वे ही स्वच्छाचारसे स्व कार्य करनेको असमर्थ हैं। पराधीनताको स्वाधीन बनानेका उपाय इसी स्वतन्त्रता देवीकी उपासना है।

उपासना करनेकी क्या रीति है इसपर विचार करनेसे विदित होता है कि अपने स्वतंत्र स्वभावको श्रद्धान व ज्ञानमें लेकर उसीमें रमण और पर रमणसे विरक्ति है। स्वस्वरूप बड़ा ही सुन्दर है, बड़ा ही उत्तम है, पूर्ण ज्ञान व दर्शनका समुद्र है, पूर्ण आनन्दका सागर है, परम निश्चल है, ध्रुव है व परम समभावरूप है। इसके स्वभावमें संसारका कोई भ्रमजाल नहीं है। सिद्ध भगवानके समान शुद्ध स्वभावका धारी यह आत्मा है।

ऐसा ध्यानमें लेकर सर्व परद्रव्य, परक्षेत्र, पर काल व पर भावसे सम्बन्ध तोडना उचित है। बार बार इस स्वतंत्र स्वभावका विचारना, इसीका प्रेमी होजाना, इसीमें आनन्द मानना परतंत्रता हटानेका यत्न है।

अथवा निश्चयसे यही विचार परतंत्रतानाशक है कि मैं जो कुछ हूं सो हूं। मेरेमें न तो परतंत्रता है, न स्वतंत्रता है, न ज्ञान है, न अज्ञान है, न भेद है, न अभेद है, न मलीनता है न निर्मलता है, न कोई द्रव्य है न गुण है न पर्याय है, न मेरा कभी जन्म है न कभी नाश है।

मैं पूर्ण निर्विकल्प हूं, अगम अलक्ष हूं, वचन मन कायसे अगोचर हूं, परम शांत स्वरूप हूं, नाम निक्षेपादिसे रहित हूं, शब्दातीत हूं। अछेद्य अभेद्य आत्मीक दुर्गमें विराजित हूं। यों तो मेरे समान सर्व जगतकी आत्माएं हैं, परन्तु मैं अपनमें, वे अपनमें राज्य करते हैं। मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मौन रहकर भीतर ही भीतर मैं एक स्वानुभवका गद्दा बिछाता हूं। उसीपर लेटकर व करवट लेकर मैं परम सुखी होरहा हूं। चेतना ही मेरा लक्षण है, चेतना ही मेरा

भोजन है, चेतना ही मेरा वस्त्र है चेतना ही मेरा शयनागार है, चेतना ही मेरा सर्वस्व है, चेतना ही मेरा निर्मल दर्पण है, जिसमें सर्व लोकालोक झलकते हैं। मैं ज्ञान चेतनाका ही स्वाद लेता हुआ परम तृप्त हूं। मैंने कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाको सदाके लिये त्याग दिया है। मैं स्वतन्त्रताका भक्त रहकर जब तक स्वतंत्र न हूं तब तक निर्विकल्प स्वाधीन भावमें ही रहूंगा।

७–स्वतन्त्रताका उपाय ।

स्वतन्त्रता कैसी प्यारी वस्तु है! इसका नाम लेनेपर चित्त प्रसन्न होजाता है। "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" यह कहावत बिल्कुल ठीक है। यदि किसी वृक्षके चारों ओर ऐसे बंधन हों जिनसे पवन स्वतन्त्रतासे न आवे तो वह पनप नहीं सक्ता, न सुंदर पुष्प व फल पैदा कर सक्ता है। बंधन बाधक है। आत्मीय स्वतन्त्रता भी पवित्र वस्तु है। तीर्थंकरोंने व अनेक महात्माओंने इस स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका यत्न किया और स्वतन्त्रता प्राप्त कर ही डाली। जिस उपायसे स्वतंत्र जीवोंने स्वतन्त्रता प्राप्त की है उसी उपायको स्वीकारता हरएक स्वतन्त्रताके पुजारीको करना चाहिये।

स्वतंत्र स्वभावका श्रद्धान व ज्ञान तथा उसीका आचरण ही स्वतन्त्रता प्राप्तिका साधन है। जो कोई तत्वज्ञानी यह पूर्ण श्रद्धान रखता है कि मैं स्वभावसे न कभी बंधनमें था, न बंधनमें हूं, न बंधनमें रह सक्ता हूं। मेरा स्वभाव पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण दर्शनमय, पूर्ण वीर्यमय, पूर्ण आनन्दमय, पूर्ण वीतराग, पूर्ण निर्विकार, पूर्ण

अमूर्तिक है। मैं स्वभावसे स्वतन्त्र हू। मुझे किसी भी पर पदार्थसे मोह नहीं करना चाहिये। राग व द्वेष नहीं करना चाहिये। पूर्ण वीतरागी होकर, पूर्ण विरक्त होकर, पूर्ण निज वस्तुकी वस्तुताको ग्रहण करना चाहिये। यही मेरा धर्म है। ऐसा विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इस श्रद्धान व ज्ञानसे विभूषित होकर जो इसे आत्मध्यानमें मनन करता है, आत्मध्यानकी दृढतासे धारक होता है वह स्वतन्त्र हो जायगा, इसमें कोई स देह नहीं होना चाहिये। नि सदेहता ही साधक है, स्व रूपका रमण ही स्व रूप विकासका कारण है।

अतएव सर्व परसे सहयोग छोडकर अपने ही स्वभावसे पूर्ण सह-योग करना चाहिये। जहा बधनसे राग छोडा वहीं बधन छूट जायगा। बधनका होना हमारा ही अज्ञानजनित राग है। अज्ञानको त्यागकर सम्यग्ज्ञानी होकर हमको अपन आत्माक उपवनमें ही क्रीडा करनी चाहिये। इसीक गुणरूपी वृक्षोंको बारबार निरख कर आनन्द प्राप्त करना चाहिये। स्वतन्त्रताम स्वतन्त्र हो विचरना अपने अनन्तबलका दृढ विश्वास रखना ही स्वतन्त्रता लाभका उपाय है। आत्म स्वतन्त्रता ही मुक्ति है।

८—परमानदका स्वामी।

यह प्राणी अनादि कालसे अनन्त शक्तिधारी कर्म पुद्गलोंके सयोगसे ऐसा घिरा हुआ है जिससे वह अपनी स्वतन्त्रताको भूलकर कर्म पुद्गलके रगमें ही रग रहा है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म,

शुद्धदयाके कारण कभी अशुभ कभी शुभ भावोंमें जकड़ा हुआ पुन पुन कर्मपुद्गलोंका संचय कर अपने बंधको गाढ़ करता चला आया है गुलामीकी जंजीरोंमें बंधा हुआ तथा सरसों मात्र सुख व पर्वत समान दु ख उठाता हुआ गुलामीमें ही तृप्त होरहा है। अपनी स्वाधीन अनंत परमानन्दकी वृत्तिको बिल्कुल भूल रहा है।

एक दयावान श्री गुरु इस भवपूर्ण प्राणीको देखकर दयार्द्रचित्त होजाते हैं और कहते हैं कि हे भाई! तू क्यों पुद्गलकी कैदमें पड़ा है। अपनी अंदर स्वरूप शक्तिका तुझे भान नहीं है। तू तो स्वभावसे परमात्मा है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख तथा अनंत वीर्यका धनी है। तू पुद्गल मूर्तीकसे विलक्षण बिल्कुल अमूर्तीक है। तू अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाला है। इसलिये तू स्वभाव परिणतिका ही कर्ता है तथा स्वाभाविक सुखका ही भोक्ता है। तू यदि अपने द्रव्य स्वभावको सम्हाले, उसका दृढ़ श्रद्धा लावे, उसीका प्रेमी होजावे, उसीमें रमण करनेका उत्साह प्रगट करे, तथा पुद्गलसे उदास होजावे तो सर्व प्रकार बाहरी शरीरसे, धनसे, नगरसे, प्रासादसे, वस्त्राभूषणसे निर्ममत्व होजावे, ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे विरक्त होजावे तथा इन कर्मोंके उदयसे जो अज्ञान व क्रोध, मान, माया, लोभादि विभाव होते हैं उनके साथ अपना नाता तोड़ दे। अपनेको सर्व प्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मसे जुदा जाने। ऐसी सम्यग्दर्शन ऐसा सम्यग्ज्ञान व ऐसा ही सम्यग्चारित्र यही अभेद व निश्चयरत्नत्रयमई नौका है। इसपर तू आरूढ़ होजावे तो शीघ्र ही इस असार आकुलतापूर्ण भव सागरसे पार होजावे और जैसा अपना निज स्वभाव है वह प्रगट हो

जावे। शुभ अशुभ दोनों ही भाव बंधकारक हैं। एक शुद्धोपयोग ही वीतरागभाव है जो बंधका छेदक है। इस शुद्ध भावका ही अपनेको स्वामी मानकर जो इस शुद्ध भावके भीतर रमण करता है वह कर्मोंकी परतन्त्रताको काटकर स्वतन्त्र होजाता है। मैं स्वतन्त्र ही हू, न कभी परतन्त्र था न कभी परतन्त्र हूगा। यह विशाल दृष्टि जब आजाती है तब अपने स्वरूपमें ही चर्चा होने लगती है और इसीका अभ्यास स्वानुभवकी शक्तिको प्रकाश कर देता है। स्वानुभव ही स्वतन्त्रताका उपाय है। अतएव मैं अब सर्व संकल्प विकल्प छोड़कर एक अपूर्व स्वानुभवमें ही रमण करता हुआ परमानन्दका स्वाद लेता हू।

९-स्वतन्त्रताकी जय!

स्वतन्त्रताकी महिमा वचन अगोचर है, स्वतन्त्रता आत्माकी स्वाभाविक सम्पत्ति है। आत्माका प्रकाश स्वतन्त्रताहीमें है। सदा अनुभव पाना स्वतन्त्रताहीमें हो सक्ता है। अनादिकालीन कर्मबंधकी पराधीनता किस तरह दूर की जावे इसका विचार करनेसे प्रगट होता है कि इस परतन्त्रताका कारण इस अज्ञानी जीवका मोह भाव है। यह आप ही पर्यायमें रति कर रहा है। इसीसे पर पुद्गल इसे बंधमें डाले हुये हैं। यदि यह अपना नाता पुद्गलसे बिलकुल हटाले, पुद्गलके द्रव्य, गुण पर्यायसे पूर्णतासे उदास हो जावे, पुद्गलके साथ अपना सम्बंध छोड़ देवे और निज आत्माके स्वाभाविक द्रव्य गुण, पर्यायोंकी तरफ झुक जावे, आपसे ही आपका गाढ़ प्रेमी होजावे, तो शीघ्र ही परतन्त्रताकी बेड़ी कट जावे। जिस २ महात्माने स्वात्माश्रयको अपना

घर बनाया, स्वात्माधीन आनंदका ही भोजनपान स्वीकार किया, विषय सुखसे पूर्ण उदासीनता प्राप्त की, जगतकी नारियोंसे वैराग्यवान हो, मुक्ति नारीकी आसक्ति उत्पन्न की, स्वात्माका ही वस्त्र पहरा, अन्य जड़ वस्त्रका त्याग किया। स्वात्माके ही सथार पर आसन जमाया। और सब काष्ठादिक आसनोंका छोड़ दिया, उसनही स्वतंत्रता प्राप्त करली। जबतक पाप शून्य किन्तु स्वात्मभावसे पूर्ण निर्मल क्षीरसमुद्रमें अवगाहन नहीं होता है तबतक कर्ममेलका छूटना दुर्निवार है।

उचित यही है कि आत्माको स्वच्छ परिणति रूपी घाममें ही स्नान किया जावे। इसीके द्वारा कर्ममल छुड़ाया जावे, उसी ही घाटसे स्वात्मानुभव रूपी जलका पान किया जावे। इस जलसे ही आत्माको परमपुष्टि प्राप्त होजाती है। फिर अन्य पौद्गलिक आहारकी जरूरत नहीं रहती है। जिसने स्वात्माश्रयी चारित्रका आश्रय लिया, व उसीमें निरंतर विहार करना स्वीकार किया, रागद्वेष मोहमें चलनेसे परम विरक्ति प्राप्त की, वही सत महात्मा शीघ्र ही स्वतंत्र होजाता है और तब फिर आत्मानंदका अनुभव भोग निरन्तर करता रहता है। स्वतंत्रताकी जय हो।

१०—स्वतंत्रता देवीकी पूजा।

एक ज्ञानी भव्य जीव सर्व सकल्प विकल्पोंको छोड़कर एकांतमें बैठकर स्वतंत्रतादेवीका आराधन करता है। सर्व पदार्थोंमें राग द्वेष छोड़कर समताभावका जल उपयोगमें भरता है और उस देवीका अभिषेक करता है। परम पवित्र साम्य जलकी धारासे जलपूजा, उत्तम शांतिमई चंदनसे चंदनपूजा मनोहर अक्षय आत्मीक गुणोंके

मनन रूपी अक्षतोंसे अक्षत पूजा, ब्रह्मचर्यमई परम शोभनीक पुष्पोंसे पुष्प पूजा, परमतृप्तिकारक आत्मानुभवरूपी भोजनोंसे नैवेद्य पूजा, स्वसंवेदन ज्ञानकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे दीपक पूजा, आत्मध्यानकी अग्निमें कर्म-होमरूपी धूप खेवनसे धूप पूजा, आत्मोपलब्धि रूपी फलोंसे फल पूजा करके परम संतोष मान रहा है। स्वतंत्रतादेवीके अद्भुत गुणोंकी जयमाल पढ़ता है। धन्य है स्वतंत्रता जहां कोई बंधन नहीं है, न वहां भावकर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ है, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा या कोई काम विकार है, न वहां कोई अज्ञान है न भ्रम है, न संशय है, न आलस्य है, न आर्तध्यान है, न रौद्रध्यान है, न कोई विषयकी चाहकी दाह है, न वहां औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण पुद्गल वर्गणाओंके बंधन हैं। इस स्वतंत्रताकी ऐसी अपूर्व महिमा है कि पुद्गलोंका सम्मेलन होते हुए भी वे किंचित् भी विकार व आवरण व निरोध, स्वतंत्रता देवीके स्वतंत्र कार्यमें नहीं कर सक्ते हैं। स्वतंत्रतादेवी परम ज्ञान दर्शन रूप है। इसके भीतर विना किसी क्रमसे सर्व विश्वके सर्व पदार्थ अपने अनंत गुणपर्यायोंके साथ एकदम झलक रहे हैं। यह स्वतंत्रतादेवी परम शांत स्वरूप है, यह परमानंदस्वरूप है, यह परम अमूर्तीक है, यह अनंत वीर्यको धरनेवाली है, इसका स्वभाव कमल समान प्रफुल्लित है, सूर्य समान तेजस्वी है, चंद्रमा समान आनंदामृतको वरसानेवाला है, स्फटिक समान निर्मल है, यह परम दातार है। जो इस स्वतंत्रतादेवीका आराधन करता है, उसको यह देवी विना कोई संकल्प विकल्प उठाए हुए ही सच्चा आनन्द प्रदान करती है। इसकी अनादिकी तृष्णाकी दाह

१२–स्वतन्त्रता सर्वस्व ।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताका प्रेमी होकर स्वतन्त्रताके ही आवासमें रहता है । स्वतन्त्रताके ही जलसे स्नान करता है । स्वतन्त्रताके ही वस्त्र पहनता है । स्वतन्त्रता देवीकी ही स्वतन्त्रताकी पुष्पमालासे पूजन करता है । स्वतन्त्रताका आहारपान करता है । स्वतन्त्रताके मदमें पूरित होकर स्वतन्त्रताकी शय्यापर स्वतन्त्रताकी चादर ओढ़कर शयन करता है । स्वतन्त्रताकी अप्सराओंको उपार्जन करता है । स्वतन्त्रताकी मनोहर वाटिकामें विहार करता है । स्वतन्त्रताकी परम प्रिय महिलासे प्रेम रखता हुआ उसीमें आसक्त रहता है । स्वतन्त्रता नारीके उपभोगसे स्वतन्त्रता पुत्रीको उत्पन्न करता है। उसको ही पालन पोषण कर परम सुख अनुभव करता है । ऐसा स्वतन्त्रता प्रेमी गृहस्थ एकाकी होनेपर भी कुटुम्बके सुखको अनुभव करता है । कभी साधु होकर स्वतन्त्रतामें रमण करता है । कभी पुनः गृहस्थ हो स्वतन्त्रतामें कल्लोल करता है । स्वतन्त्रताके साथ अद्भुत क्रीडा करता हुआ किसी भी भाव या पदार्थके आधीन नहीं रहता है । न इंद्रियोंके विषयभोगोंकी पराधीनता है, न क्रोध मान माया लोभके अनतानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलनके सोलह भेदोंमेंसे किसीमें पराधीनता है, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, व किसी काम विकारकी पराधीनता है न मनसे विचारनेकी, न वचनसे कहनेकी, न कायमें क्रिया करनेकी पराधीनता है, न गमनकी, न आगमनकी, न उठनेकी, न बैठनेकी, न जपकी न तपकी, न व्रतकी, न उपवासकी, न ध्यानकी, न समाधिकी, न दानकी न पदाधिकारकी, किसी भी कर्म-चेतनामय या कर्मफल चेतनामय भावकी

पाधीनता नहीं है। यह ज्ञानी एक ज्ञान चेतनामय स्वतत्रताके ही रसमें रसिक हो निरंतर आनंदामृतका पान करता रहता है।

ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति ही मोक्षमार्गी है। यही जैनी है। यही सम्यग्दृष्टी है। यही श्रावक है, यही साधु है, यही उपशम श्रेणीवान है, यही क्षपकश्रेणिधारी है, यही सयोगकेवली है, यही अयोगकेवली है, यही सिद्ध भगवान है।

धन्य है स्वतन्त्रता देवी, तेरी भक्ति आत्माको सदा अजर अमर रखती है। तू ही सर्व सुखकी प्रदाता है। सर्व तृष्णामई दाहको शमन करानेवाली है। सर्व काल्पनिक सुखदुःखकी वासनाको हटानेवाली है। निर्विकल्प अतीन्द्रिय सुख सागरमें स्नान करानेवाली है। धन्य है तू, मैं तेरी ही उपासना करता हुआ सदा स्वतन्त्र रहूंगा।

१२–अतीन्द्रिय अनन्त।

एक ज्ञानी, सूर्यके समान प्रकाशित होकर सूर्य समान स्वाधीनतासे विहार करता है। अपनी ज्ञान ज्योतिसे विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ रूपसे जैसा उनके द्रव्य गुण पर्यायका स्वरूप है, वैसा जानता है। जैसे सूर्यसे शुभ व अशुभ, सुन्दर व असुन्दर, महान् व लघु पदार्थोंको, धनिक व निर्धनोंको, विद्वान व मूर्खोंको, धर्मकृत्य करने वालोंको, व अधर्म कृत्य करनेवालोंको अपने प्रकाशसे झल्काता हुआ भी किसीसे रागद्वेष नहीं करता है, बिल्कुल निर्विकार रहता है वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा सर्वके स्वरूपको श्रुतज्ञानके बलसे यथार्थ जानते हुए किसीसे किंचित् भी रागद्वेष नहीं करता है। अपने स्वभावमें प्रकाश करता हुआ पराधीनताके संकटोंसे छूटा रहता है।

वास्तवमें जहां वस्तुके परिणमनमें बाधा उपस्थित हो, स्वच्छन्द परिणमन न हो, वहीं पराधीनता होती है। पराधीनता किसी भी द्रव्यके विकासमें विरोधक है। स्वाधीन स्वभावमें रमण करनेवाला सदा ही संतोषी है व सुखी है। पुद्गल सापेक्ष दृष्टिसे देखते हुए संसारी प्राणी बंधनमें हैं, पराधीन हैं। स्वभावके शुद्ध परिणमनसे रहित दिखते हैं। परन्तु जब इनही जीवोंको पुद्गल बंध रहित एक शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे देखा जाता है तब सर्व ही आत्माएं स्वाधीन, अपने शुद्ध स्वभावमें ही परिणमन करती हुई दिखती हैं। सर्व ही परम सुखी, परम शुद्ध, परमात्मावत् ज्ञानचेतना भोगी दिखलाई पड़ती हैं।

संसारी पराधीन प्राणीको स्वाधीन होनेका उपाय अपनी स्वतंत्रताका पूर्ण निश्चय तथा ज्ञान है। जो इस सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर लेता है व इसीका गाढ़ प्रेम होजाता है, वह वारवार इसी स्वतन्त्र स्वभावका मनन चिन्तवन तथा ध्यान करता है। जिसके अभ्याससे स्वात्मानुभवी अग्नि जग जाता है। उस अग्निकी ज्वालासे पराधीनताके कारण कर्म जलने लगते हैं। आत्माकी भूमिका कर्मोंकी रजसे स्वच्छ होती जाती है। वैराग्यकी पवन उन रजोंको उड़ा देती है। इस तरह भी स्वानुभूतिका अभ्यास ही वह साधन है, जिससे परतन्त्रताका नाश होता है और स्वतन्त्रताका उत्पाद होता है।

मैं इस समय स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता दोनोंहीके विकल्पोंको त्याग करता हूं तथा एक ऐसी गुफामें विश्राम करता हूं जहां कोई विचार, कोई वितर्क, कोई ज्ञानके विकल्प नहीं हैं। उस निर्विकल्प समाधिरूपी गुफामें बैठकर अपनी स्वतंत्रताका आप भोक्ता होकर जिस अतींद्रिय आनन्दको पाता हूं वह मात्र स्वानुभवगम्य है।

१४–स्वतन्त्रता–समुद्र ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व मङ्कल्प विकल्प जो समारवर्द्धक हैं उनसे उपयोगको हटाकर स्वतन्त्रताप्रेरक विचारोंकी तरफ बढ़ता है। उसके सामने एक महा समुद्र आजाता है जिसकी शोभा देखनेके लिये उमगवान होजाता है। यह सागर अथाह ज्ञान–जलसे परिपूर्ण है। इसकी निर्मलतामें सर्व अनन्त ज्ञेय एकसाथ झलकते हैं। अनन्त द्रव्य अपनी अनन्त त्रिकालवर्ती, समयिन पर्यायोंके समूह हैं, गुण पर्यायवान द्रव्य हैं। ज्ञानसे इसका अमिट सम्बन्ध है। ज्ञान विना ज्ञेय नहीं, ज्ञेय विना ज्ञान नहीं। इस समुद्रके दर्शनसे सर्व विश्व दिख जाता है तब किसी अन्य ज्ञेयके दर्शनकी चिन्ता नहीं रहती है। यह समुद्र परम शीतल है। इसमें किंचित् भी गर्मी क्रोधकी नहीं है। कोई भी ताप मनका नहीं है। कोई भी लोभ या तृष्णाकी दाह नहीं है। वीतरागताकी शीतलता परमशान्ति प्रदायक है। इस समुद्रमें परमानंदमई रत्न भरे हैं, जिन रत्नोंका लाभ बहुत सतोषप्रद है। इस समुद्रकी कोई उपमा नहीं होसक्ती है। यह अद्भुत समुद्रमें मैं ही हू, मेरेसे भिन्न नहीं हैं, मैं इसी स्वसमुद्रमें नित्य स्नान करता हू, इसका शात सुखप्रद ज्ञानरूपी जल पान करता हू, यह परमामृत है, जो पीता है वह सदा अमर रहता है।

स्वतन्त्रतामें बाधक जितना विकार है–जितना अन्तराय है वह सब समुद्रमें मज्जनसे धोया जाता है, स्वतत्र स्वाभाविक आत्मध्वनिका प्रकाश झलक जाता है।

स्वतंत्रता ही हरएक आत्माका स्वभाव है। पुद्गल कर्म बाधक है।

उनका वियोग सुखकर है। बाधक शत्रुका सयोग एक क्षण भी हितकर नहीं है। इसी श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसी ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं, इसी मार्गमें रमण करनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं यही स्वतन्त्र होनेका अमोघ उपाय है।

स्वतन्त्रताकी हवाका आश्वासन करनेवालोंको परतन्त्रताकी गंध सुहाती है। वह स्वतन्त्रताकी सुगंधमें मगन होकर परमसुखी रहता है।

मैं स्वतन्त्रताका दर्शन करता हुआ अपनेको सर्व विश्वका ईश्वर समझता हूं। न मुझसे कोई बड़ा है जिसकी शरण ग्रहण करूं। न कोई मुझसे छोटा है जिसे मैं शरणमें रक्खूं। मुझे तो सर्व ही ज्ञानी आत्माएँ एक समान दीखती हैं। किससे राग करूं, किससे द्वेष करूं, किसकी सेवा करूं, किससे सेवा लूं। सर्व ही परम स्वतन्त्र होकर अपने अपने ज्ञानानन्द स्वभावमें मगन हैं। समभाव ही एक द्रव्य है जिसमें निर्विकारता है। समभाव ही धर्म है। उसीका धारक मैं धर्मी हूं। मैं अपने धर्ममें ही चलकर अपने धर्मात्मापनेके पदको सार्थक कर रहा हूं। परमानन्दका विलास ले रहा हूं।

१५–अपूर्व ज्ञानशक्तिधारी।

बंधन बाधक है स्वतन्त्रताका निरोधक है, अतएव बंधनसे मुक्त होना आवश्यक है। स्वतन्त्रता आत्माका धर्म है, स्वतन्त्रता प्राप्तिका उपाय भी आत्माका धर्म है। स्वतन्त्रता आत्माका निजी स्वभाव है, स्वतन्त्रता ही सच्ची सुखशांतिका धारावाही स्रोत है।

स्वतन्त्रताका लाभ स्वतन्त्रता मेरे भीतर ही है। भीतर ही खोज

करनेसे प्राप्त होगी। इस तरहके श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणसे ही होती है तब परतंत्रताका बहिष्कार होता है।

आत्माका जो कुछ द्रव्य–स्वभाव है उस पूर्णपने जानकर उसपर दृढ़ श्रद्धावान होनेकी आवश्यक्ता है। आत्मा आत्मा है अनात्मा नहीं है, आत्मा सत् पदार्थ है, स्वय सिद्ध है, अनादि अनंत है, अमूर्तीक है तथा साकार है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य वीतरागता, सम्यग्दर्शन आदि विशेष मुख्य गुणोंका सागर है। यह अरूप आत्माओंके सदृश होकर भी उससे भिन्न है। आत्माका स्वभाव परमात्माका स्वभाव एक है। मैं ही परमात्मा हू, यही स्वानुभव स्वतंत्रताके पानेका बीज है।

स्वतंत्रताके पाठकोंको उचित है कि सर्व व्यवहारसे पराङ्मुख होजावे। और एक अन्तर्मुहूर्तके लिये भी केवल एक अपने ही आत्माको स्वरूपकी भावनामें सलग्न होजावे। शुद्ध स्वरूपोऽहं इस छ अक्षरी मंत्रकी भावनाके द्वारा अपने स्वरूपकी भावना करे। मन, वचन, कायसे होनेवाली अनेक अवस्थाओंके विचारोंसे पूर्ण उदासीनता वर्ती जावे। मैं मन नहीं, वचन नहीं, काय नहीं, मैं पुण्य नहीं, पाप नहीं, मैं गुण व गुणीके भेदोंसे भी दूर हू। मैं अभेद एक अखण्ड द्रव्य हू। मैं न कर्मोंसे बन्धा हू न स्पर्शित हू। मैं अनादिसे अनन्त कालतक एकरूप ही रहनेवाला हू। परिणमन होते हुए भी अपने ध्रुवभावको बनाये रखता हू। मैं सदा निश्चल हू, अपने प्रदेशोंमें स्थिर हू, गुण पर्यायका समुदाय होनेपर भी मैं एक अमिट अखण्ड अभेद द्रव्य हू। मेरा सयोग किसीसे नहीं है। मैं असग हू, मेरेम ज्ञानकी अपूर्व शक्ति है, जो एक काल सर्व विश्वको अपनमें

रख सक्ती है। ज्ञान नातत्त्वको जाननेके लिये अपूर्व शक्ति रखता है। जैसे एक प्रदेशपर अनन्त परमाणुके सूक्ष्म स्कंध समा सक्ते हैं तौभी अपनी अपनी सत्तासे भिन्न हैं वैसे ही एक ज्ञानमई आत्माके एक प्रदेशमें सर्व ज्ञेय-जानने योग्य विषय समा सक्ते हैं। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। एक विद्वान वैद्य अपने ज्ञानमें हजारों औषधियोंका एकसाथ ज्ञान रखता है, एक वकील सैकड़ों कानूनोंका एकसाथ ज्ञान रखता है, एक विज्ञान ज्ञाता एकसाथ हजारों विज्ञानके प्रयोगोंको जानता है। मन द्वारा विचार व वचन द्वारा प्रकाश क्रमसे होता है। मैं ऐसी ही अद्भुत अपूर्व ज्ञानशक्तिको रखनेवाला हूं। इसतरह जो कोई केवल एक आत्माको आत्मा रूप ही आत्माके द्वारा ध्याता है-उसीके रसका रसिक होजाता है वह स्वतन्त्रताके भावमें स्वतन्त्र सुखका अनुभव करता हुआ परम सन्तोषी बना रहता है।

१६-अवक्तव्य स्वतन्त्रता।

स्वतन्त्रता क्या है? अपने ही पास है। जैसे किसीके हाथमें सुवर्णमुद्रिका हो और वह विस्मृत होजावे व उसे यह समझकर कि वह गिर गई है, दूर दूर ढूंढ़ता फिरे व स्मरण आते ही अपने हाथमें ही मुद्रिकाको देखकर प्रसन्न हो जावे, इसी तरह स्वतन्त्रता अपने ही आत्मामें है। हम अनादिकालसे उसे भूले हुए हैं। श्रीगुरुके प्रसादसे खबर होगई है कि आत्मिक स्वतन्त्रता अपने ही पास है। परतन्त्रताके कारणोंसे, असहयोग करनेहीसे वह स्वयं प्रकाशमान होने लगती है। पर द्रव्यसे रागद्वेष, मोह करना ही परतन्त्रताकी शृंखलाएं हैं।

इन रागद्वेष मोहको दूर करके वीतराग स्वभावमें कल्लोल करनेकी आवश्यकता है। जैनसिद्धान्त प्रतिपादित निश्चयनयकी दृष्टिको अब खोलना चाहिये। व्यवहारकी अशुद्ध दृष्टि बंद करनी चाहिये।

शुद्ध दृष्टिसे देखनेसे यह जगत क्रिया रहित, शब्द रहित, परिणमन रहित, एक समान, द्रव्य स्वरूप बिल्कुल सम दिखलाई पड़ता है। जितने पुद्गल हैं वे सब परमाणुरूप स्वभावमें दिखते है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश भी अपने अपने स्वभावमें प्रगट होते हैं। तथा सर्व जीव भी एकाकार शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अमूर्तिक निर्विकार, परमानन्दमय व परम वीतराग दिखलाई पड़ते है।

इस दृष्टिको बारबार अभ्यासमें लानेसे अपना स्वभाव सदा स्वतंत्र एकरूप परम परमात्मारूप दिखता है। समभावका प्रकाश छा जाता है। जैसे सरोवर निर्मल हो, स्थिर हो तब उसके भीतर पड़े हुए पदार्थ ठीक २ झलकते हैं, वैसे निर्मल व स्थिर आत्माके उपयोगमें आप व पर सर्व ज्ञेय या जाननेयोग्य पदार्थ ठीक २ झलकते है।

निश्चय दृष्टिके धारावाही देखते हुए मैं एक ऐसे स्थलपर पहुंच जाता हूं जहां दृष्टा व दृश्यका भेद मिट जाता है, ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प दूर होजाता है, स्वानुभवकी दशा प्रगट होजाती है, निजानंदमें विश्रांति होती है, परमामृतका पान होता है, साक्षात् स्वतंत्रताका उपभोग हो जाता है। इस स्वानुभवमें परम अद्वैतभाव आजाता है, द्वैत अद्वैतका भी विकल्प मिट जाता है। जब उपयोग किसी पदार्थके स्वाद ग्रहण करनेमें तन्मय होता है तब उसकी स्वसंवेदन शक्ति यही काम करती है। जहां आपसे ही आपका ही वेदन हो वहां भी उपयोगकी थिरता

होती है। मैं इसी स्वानुभव द्वारा अवक्तव्य स्वतन्त्रताका आनंद लेता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

१७-परमानन्द विलासी।

स्वतन्त्रता हरएक आत्माका स्वभाव है। इसे कहींसे प्राप्त नहीं करना है। जो ज्ञानी है व सदा स्वतन्त्र हैं। हमें पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनयका सर्व प्रपंचजाल बुद्धिसे दूर करना होगा। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्षका विकल्प मिटाना होगा। रागद्वेष मोहक कारणोंको दूर फेंकना होगा। आकुलताके कारणोंको पर रखना होगा।

परमार्थ दृष्टि जयवन्त हो। इस दृष्टिके द्वारा दर्शनसे परम कल्याण है। सर्व विश्वके पदार्थ इस दृष्टिसे अपने२ स्वभावमें दिखलाई पड़ते हैं। सर्व द्रव्य अपने२ मूल स्वभावमें रहते हुए अपनी परम सुन्दरताका प्रकाश कर रहे हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल तथा पुद्गल इन पांच अजीव द्रव्योंकी सत्ताका निषेध नहीं किया जा सक्ता। इनके रहते हुए भी परमार्थ दृष्टि देखती है कि सर्व जीव भिन्न भिन्न सत्ता रखते हुए भी समान हैं, सर्व ही असंख्यात प्रदेश धारी हैं, सर्व ही ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि अपने सर्व गुणोंसे पूर्ण हैं, सर्व ही परम समभावमें तल्लीन हैं सर्व ही स्वतन्त्र हैं। बिना किसी बाधक कर्मके प्रभावको पाए हुए सर्व ही अपने स्वभावोंमें उसी तरह कल्लोल करते हुए आनंदित हैं, जैसे क्षीरसमुद्र अपनी शुद्ध

कल्लोलोंको रखते हुए निर्मल व निर्विकार रहता हुआ परम शोभाको विस्तारता है। सर्व आत्माए परम सुखी हैं। मैं भी परम सुखी हू। मेरे साथ भी किसी पर वस्तुका सम्बध नहीं है। अपनेको परमात्मा स्वरूप अनुभव करते हुए ही स्वतत्रताका भान होता है। परत त्रताकी वासना भी नहीं रहती है।

जहा स्वरूपमें ही वास है, स्वरूपमें ही स्थिति है वहा किसी पर द्रव्यकी, पर गुणकी, पर पर्यायकी शक्ति नहीं है जो कोई प्रकार विकार उत्पन्न कर सके। जिसने मन वचन कायको गोपकर गुप्तिका दृढ किला बना लिया है व जो इस किलेके भीतर परम सवरके साथ उपस्थित है, वहा क्रोध, मान, माया, लोभादिक आस्रव प्रवेश नहीं पासकते हैं। एक परमाणु भी उसके आत्मप्रदेशोंमें नहीं ठहर सकता है।

वास्तवमे परम सुखके अर्थीको बाहरी पदार्थोंका आलम्बन छोडकर निरालम्बनमई निज आत्माके ही भीतर विश्राम करना होगा, वहीं रमण करना होगा। स्वस्वरूपमें तन्मय होना ही स्वतत्र होना है। इस आत्मीक बलके होते ही परतत्रताके कारण सर्व द्रव्य व भाव पलायन कर जाते हैं। अतएव मैं सर्व अन्य कार्योंसे उदासीन होकर एक अपने आत्मीक अनुभवरूपी कार्यमें सलग्न होता हुआ परमानन्दका विलास पाकर परम हर्षका अनुभव कर रहा हू।

१८—स्वतत्रतादेवीके चरणोंमें।

स्वतत्रता कहा है? जो कोई खोजने निकलता है उसे यह स्वतत्रता अपने ही पास दिखती है। स्वतत्रता अपने ही आत्माका

स्वभाव है। तौभी रागद्वेष मोहादि भावोंके द्वारा प्रचलित अनेक संकल्प विकल्पोंके घोर आवरणोंके भीतर यह प्रच्छादित हो रही है। इसको इसी जीवनमें अनुभव प्राप्त करनेके लिये व परतंत्रताके कारणोंको विध्वंश करनेके लिये यह आवश्यक है कि ऐसे एकांत स्थानकी शरण ली जावे जहांपर पांचों इन्द्रियोंको लुभानेवाले साधन न हों, न जहां कोलाहल हो। जहां मन ऐसा स्थितिमें हो कि उसको विश्रांति लेनेके लिये कोई बाहरी आकर्षण न हो। वह घूम फिरकर अपने ही आत्माके तरफ आ सके, जैसे समुद्रके भीतर उड़नेवाले पक्षीको सिवाय एक जहाजके कोई और आलम्बन नहीं मिलता है, जहां वह विश्रांति भजे।

सर्व बाहरी आकर्षणासे रहित होकर भीतरके शत्रुओंको पराजय करना चाहिये। बल्कार अपने उपयोगको सर्व भूत, भावी, वर्तमान मन, वचन कायकी क्रियाओंसे, उनके द्वारा बंध होनेवाले कर्मोंसे, कर्मोंके नानाप्रकारके बाहरी व भीतरी फलोंसे हटाना चाहिये। इसके सिवाय सर्व अन्य पर द्रव्योंसे भी उन्मुख होकर एक अपने आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें अनुरक्त होना चाहिये। मैं ही ध्याता, मैं ही ध्येय, मैं ही ध्यान, इस तीन प्रकारके भावोंके एकीकरण भावमें अद्वैत भावमें अपने उपयोगको संयोजित करना चाहिये। जहां आत्मा आत्मामें ठहरा, स्वानुभवका प्रकाश हुआ, वहीं स्वतंत्रताका साक्षात दर्शन होजाता है। इस दर्शनको ही देवदर्शन कहते हैं, गुरु समागम कहते हैं, धर्मसेवा कहते हैं, स्वाध्याय कहते हैं, मोक्षरूप रुचि कहते मोक्षका ज्ञान कहते हैं व मोक्षका चारित्र कहते हैं।

स्वानुभवको पाना ही स्वतन्त्रताके पानेका मार्ग है। स्वतन्त्रताके अनुभवसे ही सच्चा आनन्द है, जो आनन्द इन्द्रियोंकी पराधीनतासे रहित है, जो आनन्द आत्माका स्वभाव है। इस आनन्दको ही ध्यानकी अग्निका तेज कहते हैं। इसीके द्वारा कर्ममल भस्म होता है और आत्मा प्रकाशता चला जाता है। मैं अब सर्व अन्य कामोंसे विमुख होकर एक अपने ही काममें लगता हूं। निश्चिन्त होकर एकान्तसेवी हो परम निरंजन आत्मारूपी देवका आराधन करके स्वतन्त्रता देवीके चरणोंमें पहुंच जाता हूं और उसीके चरणोंमें सर झुकाकर भक्तिमें आसक्त होता हुआ परम सन्तोषपूर्ण आनन्द ले लेता हूं।

१९-स्वानुभव वचन-अगोचर है।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताका प्रेमी होकर यह विचार करता है कि स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो। स्वतन्त्रता ही सुखका अमूल्य साधन है। परतन्त्रता दुःखका प्रवाह बहानेवाली है। अनादि कालसे इस संसारी जीवके साथ पुण्य व पापकर्मोंका सम्बन्ध है। इनमें घातीय कर्मोंके आवरणसे आत्माकी स्वतन्त्रता छिपी हुई है। जैसे सूर्यके ऊपर मेघोंका पटल आजावे तो उसका प्रकाश छिप जाता है वैसे आत्माका प्रकाश छिपा हुआ है। तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जावे तो मेघोंके भीतर चमत्कार लेता प्रकाश कर रहा है। उसकी गति व स्वभाव प्रकाशमें कोई बाधा नहीं है। उसी तरह यदि आत्माको सूक्ष्म निश्चय दृष्टिसे देखा जावे तो वह स्वतन्त्र ही है। स्वभाव ही में है। वह अपने पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य व वीतराग भावमें कल्लोल कर

रहा है। अपने आत्माको व जगतकी सर्व आत्माओंको एक समान शुद्ध देखना, जानना, रागद्वेषको निर्मूल कर देना है, साम्यभावका प्रकाश कर देना है।

साम्यभाव ही वह उपाय है जिससे कर्मोंकी परतन्त्रता कटती है व आत्म-स्वतन्त्रता निकट आती है।

समभावमें ही सम्यक्त है, समभावमें ही ज्ञान है, समभाव हीमें चारित्र है, समभाव हीमें तप है, समभाव हीमें मोक्षमार्ग है, समभाव परम मङ्गलकारी उपाय है।

निश्चयनयके द्वारा देखनेसे समभावोंका विचार आता है। इसतरह समभावके वातावरणको पाकर मैं निश्चयनयके विचारको भी बन्द करता हूं और सर्व नयोंके पक्षोंसे अतीत होकर एक अपने ही आत्मीक द्रव्यमें आपमें ही तन्मय होता हूं। आपको ही देखता हूं, आपको ही जानता हूं, आपको ही आचरण करता हूं, आपमें ही रमण करता हूं। इस धारावाही ज्ञानके द्वारा मैं स्वानुभवको जगा लेता हूं। स्वानुभवको पाना ही आत्म स्वातंत्र्यका उपभोग है, जहां परमानन्दका स्वाद आता है।

स्वानुभव-वेदीके भीतर सर्व विचारधाराका बहाव रुक जाता है। वह तो इसतरह आपसे आपमें घुल जाता है जैसे लवणकी डली पानीमें घुल कर एक हो जाती है। यही विकल्प रहित निराकुल दशा है। यही सिद्धगतिका ज्ञानका सोपान है।

मैं अब संसारके पतनके मार्गसे उठकर सिद्ध सोपान पर आरूढ़ होता हूं। स्वानुभवकी ही चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्था

तक ग्यारह सीढ़िया है। जो प्रथम सीढीपर पग रखता है और निश्चलतासे जमाकर रहता है वह आगे २ की सीढीपर पग रखता हुआ बढ़ता हुआ चला जाता है। और एक दिन स्वानुभवकी पूर्णताको पाकर सिद्धगतिमें पहुचकर अनन्तकालके लिये विश्राम करता है। मैंने आज स्वानुभवको पाकर जो आनद प्राप्त किया है वह वचन अगोचर है।

२०–स्वतन्त्रता मोक्षका मार्ग है।

स्वतन्त्रतादेवीकी पूजा करना परमपवित्र कर्तव्य है। स्वतन्त्रतादेवीका वास हरएक आत्माके प्रदेशोंमें है। इस स्वतन्त्रताकी पूजा करना परमानदका कारण है। स्वतन्त्रताके सहवासमे आत्मीक शक्तियोंका विकाश होता है। परतत्र जीवन नरक समान है।

अनादिकालसे पुद्गलकी अनन्त शक्तिने आत्माकी शक्तिको कीलित कर रखा है। इस कारण यह आत्मा पुद्गलके फदमे पडा हुआ रात दिन इद्रिय विषयोंके लिये आकुलित रहता है। मोहनीय कर्मके कारण मोही होता हुआ अहकार व ममकारमें फसा रहता है। अपने स्वरूपको भूले हुए ही परतन्त्रताकी बेडीमे जकडा हुआ है।

यदि वह अपने द्रव्य स्वरूपको पहचान, अपनी अनन्त शक्तिको जाने, अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय स्वभावकी श्रद्धा लावे, अपनेको सिद्ध परमात्मासे किसी तरह कम न समझे, अपनेको परमैश्वर्यधारी वीर आत्मा माने और परतन्त्रताके कारण इन आठ कर्मोंसे उदासीनता लाये, इन कर्मोंके [illegible] योग्य समझे, दृढ सम्यक्ती हो

स्वानुभवकी अग्नि जलावे, तो कर्मोंके वनोंको भस्म करता हुआ चला जावे ।

स्वानुभव–भेदविज्ञानके प्रतापसे स्वयं प्रगट हो जाता है। स्वानुभव अपने स्वरूपके वेदनको कहते हैं। जब यह उपयोग सर्व परसे उदास होकर अपने ही स्वरूपमें आसक्त होकर आपसे आपमें रमण करता है तब ही स्वानुभवका उदय हो जाता है ।

स्वानुभव प्राप्त करना स्वतन्त्रता देवीकी पूजा है, स्वतन्त्रताके किलेमें वास करना है। स्वतन्त्रताकी निर्मल सुगंधको लेना है। स्वतन्त्रताके निर्मल रसको पान करना है।

स्वानुभवके प्रतापसे सर्व परतन्त्रताके कारण कर्मोंका क्षय होता है और यह आत्मा सदाके लिये पूर्ण स्वतंत्र होजाता है ।

इसी उपायसे अनंत आत्माओंने स्वतंत्रता लाभ की है। जो परके मोही रहकर भी परके बंधनसे छूटना चाहते हैं व परतंत्रताकी बेड़ीमें जकड़े रहकर ही स्वतंत्र होना चाहते हैं, सो कभी हो नहीं सक्ता।

परतंत्रताके कारणोंके साथ पूर्ण असहयोग करना और स्वतंत्रताके साथ पूर्ण प्रेम करना ही स्वतंत्रता प्राप्तिका साधन है ।

मैं अब सर्व परतन्त्रकारी भावोंसे वैराग्यवान होकर अपने ही स्वतंत्र ज्ञानानन्दमय स्वभावमें विश्राति लेता हूं और अपने ही शुद्ध भावको अपने ही भीतर रमाता हूं । यही उपाय सदा परमानन्दका दाता व मोक्षका मार्ग है ।

२१–मेरा सच्चा प्रभु।

एक ज्ञानी महात्मा एकान्तमें बैठकर अपनी स्वतंत्रताका स्मरण कररहा है। परतन्ताके कारणोंको दूर करनेका विचार कर रहा है।

इसको भासता है कि यह परतंत्रता उसीकी ही बनाई हुई वस्तु है। उसीने ही जगतके परपदार्थोंसे मोह किया, रागद्वेष किया। तब ही पुण्य व पाप कर्मोंका बंधन होगया। उन बंधनोंसे जकड़ कर उसके आत्माका स्वभाव आच्छादित होता रहा। उसका विकास रुकता रहा। वह कर्मजनित भावोंमें आपापना मानता रहा। जो अपना नहीं है उसको अपनाता रहा। इस अज्ञानमय अहंकार तथा ममकारके कारण यह अपने स्वभावको बिल्कुल भूलता रहा। तब परपुद्गलका स्वागत करता रहा। तब परपुद्गलका सहयोग सदा ही मिलता रहा। कभी भी आपको आप जाना नहीं। आपका श्रद्धान किया नहीं। आपसे आपका स्वाद लिया नहीं। इसीसे परतंत्रताकी बेड़ीमें जकड़ा हुआ देव, मानव, तिर्यञ्च तथा नरकगतिमें पड़कर कर्मोंका भोग करता हुआ आकुलित रहा, कभी भी निराकुल आध्यात्मिक आनंदका स्वाद पाया नहीं। अपूर्व व अनुपम सम्पत्ति अपने ही आत्मामें भरी है उसका कभी ख्याल नहीं किया। सुख शांतिके लिये रात दिन लालायित रहा। यह कभी नहीं जाना कि वह अपने ही भीतर है। जैसे कोई जन अपनी मुट्ठीमें सुवर्ण दबा होनेपर भी भूल जावे और उसे यह समझकर कि कहीं गिर गया है तीन लोकमें ढूंढता फिरे तब भी उसे मिल नहीं सकता यही दशा इस मुझ परतंत्र आत्माकी हुई है। अपनी सुखशांति अपने ही पास है तौ भी मैं बिल्कुल भूला हुआ रहता चला आया।

श्री जिनेन्द्रके चरणकमल प्रतापसे श्रीगुरुकी वाणीका लाभ हुआ। श्रीगुरुने पता बता दिया है मुझे मेरा भण्डार सुझा दिया है, मुझे सुख शांतिके लाभका उपाय जचा दिया है। मेरी आंखें खुल गई हैं। अनादिकालसे जो ज्ञानकी आंख बन्द थीं वह श्रीगुरुके उपदेशरूपी अंजनके प्रतापसे उघड़ गई हैं। जो जगत रागद्वेष मोहवर्द्धक दीखता था वही जगत द्रव्यार्थिकनयसे देखते हुए समरूप दिखाई पड़ रहा है।

मुझे अब पर पुद्गलसे रागद्वेष मोह दूर करना है। वीतराग भावोंमें कल्लोल करना है। अपने ही आत्माके ज्ञानानंदमय स्वभावमें श्रद्धान रखना है। अपनी ही अमूर्तीक तेजस्वी सूरतकी झांकी करनी है। वही मेरा सच्चा प्रभु है, वही मेरा सच्चा मित्र है, वही मेरा सच्चा पथप्रदर्शक है। वही ध्येय है, मैं ध्याता हूं। वही ज्ञेय है मैं ज्ञाता हूं। वही पूज्य है मैं पूजक हूं। वही दृश्य है मैं दृष्टा हूं। वही आराध्य है मैं आराधक हूं। इतने दरजे तक पहुंचकर आपमें तो निरकुल आपमें ही एकतानतासे विश्राम करता हूं। ध्येय ध्याता पूज्य पूजककी तरंगोंसे मुक्त होता हूं। समुद्रकी भांति निश्चल होकर पूर्ण स्वतन्त्रताका स्वाद लेता हुआ अद्भुत आनंद प्राप्त करता हूं। यह आनंद मन वच कायसे अगोचर है। केवल अनुभवगम्य है।

२२–स्वानुभव।

एक ज्ञानी आत्मा निश्चिन्त होकर स्वतन्त्रताका मनन करता है तब यह जानता है कि हरएक आत्मामें एक सामान्य अगुरुलघु गुण है जिसके कारण हरएक आत्मद्रव्य, जिन अपने अनंतगुण व अनंत

पर्यायोंका स्वामी है, उन अनतगुण व पर्यायोंका सदा स्वामी बना रहता है। एक भी गुण उसमें अधिक जुड़ता नहीं, एक भी गुण उसमेंसे निकल जाता नहीं, जगतमें किसीकी सामर्थ्य नहीं है जो द्रव्यकी इस स्वाभाविक स्वतन्त्रताको हरण कर सके। इसीलिये हरएक आत्मा अपने द्रव्यमई स्वभावसे परम स्वतत्र है, किसीके आधीन नहीं है जो द्रव्यकी इस स्वाभाविक स्वतन्त्रताको हरण कर सके। इसीलिये आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, आनद आदि गुणोंके भीतर कल्लोल कर रहा है, परमानदका अनुभव कर रहा है।

जहा कोइ भी बाधक कारण नहीं होता है वहीं पूर्ण स्वतंत्रताका साम्राज्य रहता है।

जो किसी भी प्रकारकी परकी शृंखलामें बद्ध हो जाता है वह पराधीनताका महान कष्ट सहन करता है। ससारी जीव कर्मोंकी शृंखलासे बद्ध होते हुए व अपनी शक्तियोंका विकास न पाते हुए रागद्वेष मोहके विकारोंसे मिलन होरहे हैं इसलिये कर्मबन्धकी सतति चलती रहती है। कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका अनुभव आता रहता है। कभी भी ज्ञानचेतनाका अनुभव नहीं आता।

अन्तरात्मा सम्यक्ती जीव इस पराधीनताके भीतर रहते हुए भी शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे अपने स्वरूपको परसे भिन्न अनुभव कर लेता है। वह ज्ञानी जानता है कि भिन्न २ द्रव्योंके सम्बन्ध होनेपर भी तथा परस्पर एक दूसरेमें विभावता उत्पन्न करनेपर भी एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है। वह द्रव्य अपनी द्रव्य शक्तिसे सदा ही स्वतत्र व पूर्ण है। इस द्रव्य शक्तिका श्रद्धान

ज्ञान तथा अनुभव करना ही वह उपाय है, जिससे परतंत्र व्यक्ति कर्मोंके बंधनसे धीरे २ छूटकर स्वतंत्रताका प्रकाश कर लेता है।

स्वानुभव ही स्वतंत्रता पानेका मार्ग है। स्वानुभव ही वह उपाय है जिससे आत्मानंदका स्वाद आता है। स्वानुभवके ही प्रतापसे इस कल्पकालके ऋषभादि महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकरोंने अपनी अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की है। मैं भी इस भवबंधनमें जकड़ा हुआ होकर उससे छूटनेके लिये स्वानुभवकी शरण लेता हूं। मुझे निश्चय है कि स्वानुभवके प्रतापसे ही मैं अपनी स्वतंत्रताको पाकर परमानंदित रहता हुआ सदा ही मुक्त व स्वतंत्र रहूंगा।

२३—आत्मानुभूति निद्रा।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर एकांतमें बैठकर अपने आत्माकी स्वतंत्रता पर विचार करता है। वह मन जो सर्व प्रकारका तर्क वितर्क करता है जिसके द्वारा आत्मा व अनात्माका भेद ज्ञान मनन किया जाता है, कभी इष्ट संकल्प करता है कभी संकल्पको शिथिल करदेता है वह मन मैं नहीं हूं। मैं मनसे पर एक अनुभवगम्य द्रव्य हूं। मेरी भूमिकाको कोई भी पर द्रव्य आत्मा हो या अनात्मा, परमाणु हो या स्कंध द्रव्यकर्म हो भावकर्म हो या नोकर्म हो स्पर्शित नहीं कर सक्ता है। मैं सबसे निराला हूं। अनुपम बेमिसाल हूं। मैं सदा ही स्वतंत्र हूं। स्वतंत्रतासे ही अपने अनंत गुणोंमें परिणमन करता रहता हूं। इस मेरी स्वतंत्रताको कोई हरण नहीं कर सक्ता। कोई कम या अधिक नहीं कर सक्ता है। इस स्वतंत्रताके

वासको जो यह मानता है और जो इसी निज स्वरूपका दर्शन करता है वही स्वतन्त्र होजाता है।

जो जैसी भावना भावे वह वैसा होजावे। स्वतन्त्र स्वरूपकी भावना स्वतन्त्र करनेवाली है। व्यवहार नयके द्वारा जितना भी संसारका नाटक दीख रहा है उस सबको असत्य व मायाजाल जानकर व्यवहारकी ओरसे मुखको मोड लेना चाहिये। स्वप्नमें भी व्यवहार पर लक्ष्य न देना चाहिये।

मात्र एक निश्चय नयका ही आश्रय करना चाहिये। निश्चय नय परम शरण है, परम उपकारी है, परम मंगल स्वरूप है। शुद्धात्माको प्रत्यक्ष दिखलानेवाली है। राग द्वेष मोहकी जडको काटनेवाली है। परमानन्दका स्वाद दिखलानेवाली है। कर्मोंके बंधको काटनेवाली है। आपको आपसा ही बतानेवाली है। पर आत्माओंको भी आपसा झलकानेवाली है। सर्व विश्वमें शांतरसका प्रवाह बहानेवाली है। आनन्दामृतका समुद्र झलकानेवाली है। स्वतन्त्रताका साक्षात् दर्शन करानेवाली है। मैं इसलिये निश्चयनयका आश्रय लेता हूं।

अपनेको एकाकी परमानन्द स्वरूप अनुभव करता हूं। जब स्वानुभवमें जम जाता हूं, तब निश्चयनयके सहारेको भी छोड देता हूं। जब छतपर पहुंच गए तब सीनेकी सीढ़ियोंका क्या काम?

जब अपना प्रभु अपनेको मिल गया तब निश्चयनयका विचार या व्यवहारनयका विचार दोनों भी अकार्यकारी हैं। मेरा स्वरूप तो नय, प्रमाण, निक्षेपादि विकल्पोंसे शून्य है। तथापि अनन्त स्वाभाविक [illegible] ोंसे अशून्य है। मैं अपने

किक अमूर्तिक गृहमें विश्रांति लेता है और परम रुचिसे अपनी आत्मानुभूति तियाका दर्शन करके परम सन्तोषी होजाता है ।

२४–मानव धर्म ।

एक ज्ञानी आत्मा परतन्त्रताके फंदमें पड़ा हुआ विचारता है कि इस फंदेसे कैसे छुट्टी पाऊं। तुर्त उसका विवेक ज्ञान उसे यह बुद्धि देता है कि परतन्त्रताको देखना ही परतन्त्रताका स्वागत करना है। परतन्त्रताका नाश तब ही होगा जब परतन्त्रताके ऊपर दृष्टिपात न करके केवल स्वतन्त्रतापर दृष्टि रखकर स्वतन्त्रताका ही मनन किया जायगा। परतन्त्रतासे उदासी तथा स्वतन्त्रतासे मित्रता ही परसे असहयोग व स्वयसे सहयोग ही स्वतन्त्रताका साधन है। मैं केवल एक आत्मा द्रव्य हूं। अनात्माका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मामें आत्मापनेका अस्तित्व है। अनात्मापनेका नास्तित्व है। आत्मा आत्मा ही है, अन्य कुछ नहीं है। न इसमें कोई विकार था, न है न हो सक्ता है। न इसमें मिथ्यात्व था न है न होसक्ता है। न इसमें अज्ञान था न है न हो सक्ता है। न इसमें असंयम था न है न हो सक्ता है। न इसमें कषाय भाव था न है न हो सक्ता है। न इसमें चंचलता थी न है न हो सकती है। यह तो परम शुद्ध द्रव्य है। अपने ही सामान्य तथा विशेष गुणोंका अटूट व अमिट भण्डार है। परम ज्ञानी है, परम वीर्यवान है, परम सम्यक्ती है, परम वीतराग है, परमानन्दमई है, परम आत्मीक रसभोगी है, परम कृतकृत्य है। न कर्ता है न भोक्ता है। न वहां उत्पाद है न वहां नाश है। वह तो टंकोत्कीर्ण स्वसमाधिमय स्वस्वरूपावलंबी है। कोई भी सांसारिक व वैभाविक

परिणमनका वह स्थान नहीं है। सर्व प्रकारकी कल्पनाओंसे अतीत है। मनमें जिसका स्वरूप विचारा नहीं जासक्ता, वचन जिसे प्रगट नहीं कर सक्ते। कायकी चेष्टासे भी वह जाननेमें नहीं आता। ऐसा कोई अपूर्व आत्मा मैं हू। मैं पूर्ण स्वतत्र हू। केवल स्वानुभवगम्य हू। परसे अव्यक्त हू। आपसे आपको व्यक्त हू। ऐसे स्वतत्र स्वरूप पर लक्ष्य रखना, परतत्रतासे पूर्ण उपेक्षित होजाना, यही स्वतंत्र होनेका अमोघ मत्र है। इस अमोघ मत्रके प्रयोगमें कष्ट नहीं, आकुलता नहीं, परिश्रम नहीं, परावलम्बन नहीं, परसे कोई याचना नहीं।

अपने ही आत्माके निर्मल प्रदेशरूपी धाम विश्राम करना स्वतत्रताका उपभोग करना है। अनन्तानन्त सिद्ध स्वतत्रता भोगी हैं। अनेक अरहत स्वतत्रता भोगी हैं। सर्व ही आचार्य, उपाध्याय, व साधु स्वतत्रता भोगी हैं। सर्व ही श्रावक स्वतत्रता भोगी हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टी स्वतत्रता भोगी है। स्वतत्रता ही जिनधर्म है। जो स्वतत्र है वही जैनी है, जो स्वतत्र है वही सम्यग्दृष्टी है, जो स्वतत्र है वही आर्य है जो स्वतत्र है वही महाजन है, जो स्वतत्र है वही क्षत्रिय है जो स्वतत्र है वही ब्राह्मण है, जो स्वतत्र है वही मानव है। स्वतत्रता ही मानवका धर्म है। मैं इस धर्मको धारण कर उत्तम अतीन्द्रिय सुखका भोग कर रहा हू।

२५—आत्मा पर आरोप !

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारकी चर्चाओंसे उदासीन होकर एकान्तमें जाता है और स्थिरतापूर्वक आत्म–स्वातत्र्यका स्वरूप विचार करता है।

आत्माका स्वतंत्र स्वभाव सर्व विचारोंसे रहित है, निर्मल स्फटिकके समान है, पवित्र जलके समान है, स्वच्छ वस्त्रके समान है, कुन्दन सुवर्णके समान है, शुद्ध चावलके समान है। सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है। चंद्रमाके समान ज्ञान आनन्द अमृतका वर्षानेवाला है। कमलके समान सदा प्रफुल्लित है। इस आत्माके शुद्ध स्वभावमें कोई भी बाधक कारण नहीं है। किसी भी कर्मके परमाणुकी शक्ति नहीं है, जो उसके स्वरूपमें प्रवेश कर सके व कोई विकार उत्पन्न कर सके।

आत्माका स्वभाव परम स्वतंत्र है। उसमें परतंत्रताकी कल्पना करना आत्माके स्वभावकी निन्दा करना है। संसार आत्माके है यह कहना आत्माका बड़ा भारी अपवाद है।

आत्मा रागी है, द्वेषी है, क्रोधी है, मानी है, मायावी है, लोभी है, भयवान है, जुगुप्सावान है, रतिरूप है, अरतिरूप है, शोकरूप है, कामी है, इच्छावान है, अज्ञानी है, अल्पवीर्यवान है, नारकी है, देव है, पशु है, मनुष्य है, एकेंद्रिय है, द्वेन्द्रिय है, तेइन्द्रिय है, चतुरिंद्रिय है, पंचेंद्रिय है, बालक है, वृद्ध है, युवान है, व धर्म है, बन्धको काट रहा है, बन्धको काट चुका है, आत्मा आस्रववान है, आत्मा मिथ्यात्वी है, आत्मा अविरत है, आत्मा कषायवान है, आत्मा चंचल है, आत्मा संवर कर रहा है, आत्मा धर्मध्यान साध रहा है, आत्मा शुक्लध्यान कर रहा है, आत्मा तापसी है, आत्मा उपवास करता है, आत्मा ऊनोदर करता है, आत्मा रसत्यागी है, आत्मा प्रायश्चित्त लेता है, आत्मा विनयवान है, आत्मा वैय्यावृत्य करता है, आत्मा कायोत्सर्गमें है, इत्यादि सर्व ही

आरोप आत्माके स्वतन्त्र स्वभावमें बाधा उत्पन्न करनेवाले हैं। कर्मोकी संगतिसे जो जो अवस्था विशेष होती है उनको आत्माकी कहना व्यवहार है, उपचार है–यथार्थ नहीं, भूतार्थ नहीं।

जो भव्यात्मा सर्व व्यवहारकी मलीन दृष्टिको दूर करके केवल निश्चयकी शुद्ध दृष्टिको रखता हुआ देखता है उसे हरएक आत्मा परम स्वतन्त्र झलकता है। यही स्वतन्त्र झलकाव, स्वात्मानुभवका कारण है। स्वात्मानुभव ही साधकके लिये साध्य प्राप्तिका उपाय है। अतएव मैं सर्व तरहसे निश्चित होकर एक अपने ही स्वतन्त्र आत्म-स्वभावका मनन करता हुआ आत्मानन्दका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

२६–आत्मा और कर्म।

एक ज्ञानी आत्मा परम संतोषके साथ अपने भीतर स्वतन्त्रताका स्मरण करके परम आनन्दित होजाता है। स्वतन्त्रता अपने ही आत्माका एक गुण है। वह कभी गुणी आत्मासे अलग नहीं होसक्ता है।

स्वतन्त्रताका ध्यान ही स्वतन्त्र होनेका उपाय है। आत्माके साथ कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म सब जड़ है। आत्मा चैतन्य धातुमय मूर्तिधारी है। कर्म क्षणभंगुर है। आत्मा स्वभावमें अविनाशी है। कर्म विभाव भावोंके उत्पादक हैं। आत्मा स्वयं शुद्ध स्वभावधारी है। कर्म सांसारिक दुःखसुखके मूल बीज हैं। आत्मा स्वयं आनन्द-स्वरूप है। इस तरह जो आत्माको आत्मारूप जानकर आत्माको अपनाता है वह सदा ही आनन्दमें कल्लोल करता है। कर्म पुद्गल परमाणुओंके समूहरूप है, अनेक रूप है। आत्मा कर्म पटल रहित

व शुभ अशुभ कार्योंसे भी वैराग्यवान होजाऊं । एक अपने आत्माके स्वभावका रुचिवान होजाऊं, प्रेमी होजाऊं, उसीमें आसक्ति जमाऊं व रातदिन उसीका ही मनन करूं, उसीके साथ पाठ करूं, उसीकी संगतिमें शांतिको प्राप्त करूं, परमानंदका लाभ करूं । मुझे विश्वास है कि स्वतन्त्रताका पुजारी अवश्य स्वतन्त्र होजाता है ।

मैं अब सर्व परसे नाता तोड, एक अपने ही शुद्ध स्वभावसे हित जोड इसी स्वभावके भीतर भरे हुए आनन्दसागरमें ही स्नान करूंगा और उसी आनन्दामृतका ही भोजन करके अमर हो जाऊंगा ।

२९–परतन्त्रताका त्याग ।

एक ज्ञानी आत्मा अपने भीतर परतन्त्रताके रंगोंको देखकर विचार करता है कि वे सब रंग मुझसे भिन्न पुद्गल द्रव्यका विकार है । मैं श्वेत वस्त्रके समान स्वच्छ हूं, परम शुद्ध हूं, अविनाशी सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हूं, परमानन्दरूप हूं, परम निर्विकार हूं । मुझे ही परमात्मा, ईश्वर, परमब्रह्म, सिद्ध, निरंजन, परमदेव, देवाधिदेव, महादेव, परम विशुद्ध, परम शंकर, परम शून्य, शुद्ध द्रव्य कहते हैं । मेरा स्वभाव सदा ही स्वतन्त्र है । मेरेमें परका संयोग है । परकृत विकार है । कर्मका मैल है । यह भाव भी आना शोभता नहीं है ।

मैं केवल एक अकेला आपके ही एकत्व स्वभावमें कल्लोल करनेवाला हूं । मेरी अशुद्ध दृष्टिने मुझे संसारी दिखाया है । राग-द्वेषका व ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता, सुख दुःखका व कर्मफलका भोक्ता झलकाया है । न मैं संसारी हूं न मुझे संसारीसे सिद्ध होना है । मेरी मलीन दृष्टिने ही परतन्त्रताका स्वांग बनाया है ।

इस अशुद्ध दृष्टिको धिक्कार हो। इस हीसे सर्व प्रकारकी आकुलता, क्लेश व क्षोभ होता है। मैं शुद्ध दृष्टिसे ही देखूँगा। उस दृष्टिमें कभी विकार नहीं, रागद्वेष नहीं, किन्तु परम समभावका परम शात समुद्र दिख जाता है। उसमें मज्जन करनेसे सदा ही परमानदका स्वाद आता है।

शुद्ध दृष्टि झलकाती है कि यह लोक छ मूल द्रव्योंका समुदाय है। सर्व द्रव्य अपनी मूल सत्तामें व शुद्ध स्वभावमें विराजमान हैं। तब सर्व ही द्रव्य एक दूसरेसे भिन्न २ परम निर्विकार दिख पड़ते हैं। जैसे--सदा ही निर्विकार व शुद्ध रहनेवाले धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश द्रव्य, अपनी २ एक अखड सत्ताको रखते हुए दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही असख्यात कालाणु रत्नोंकी राशिके समान पृथक् २ निर्विकार झलकते है।

इसी तरह अनतानत पुद्गल द्रव्यके परमाणु अपने मूल स्वभावमें प्रकाशित होते हैं। इन सर्व पाच द्रव्योंको व अपनको जाननेवाला चेतनामई द्रव्य आत्मा है। अनतानत आत्माए भी अपने मूल स्वभावसे परम शुद्ध झलकते है। आप भी शुद्ध, दृष्टा भी शुद्ध, देखने योग्य पदार्थ भी शुद्ध, विकारका कोई कारण ही नहीं है। इस शुद्ध दृष्टिसे देखते हुए समभाव रूपी अमूल्य चारित्रका प्रकाश होता है। इसी चारित्रकी चर्याको स्वात्मप्रकाश कहते हैं। जो इस प्रकाशमें चमकते हैं वे ही परम सुखी, परम सतोषी व परम पुरुष महात्मा हैं।

३०—सच्चा सम्यग्दृष्टि ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विषयोंसे व कषायोंसे मुँह मोड़, सर्व पौद्गलिक विकारोंसे उदासीन हो सर्व परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र, पर कालसे नाता तोड़ एक अपने ही निजद्रव्य, निजभाव, निजक्षेत्र, निज कालपर आरूढ़ होजाता है और तब देखता है कि वह पूर्णतया स्वतंत्र है। उसमें कोई भी परतंत्रता नहीं है। वह सूर्य समान स्वपर प्रकाशक होकर प्रकाशवान है। कमल समान परमशीलता व सुन्दरतासे प्रफुल्लित है। क्षीर समुद्र समान परम गंभीर है व रत्नत्रयसे परिपूर्ण है व ज्ञानामृत आत्मानुभवी जलसे भरा—रागद्वेषादि कल्लोलोंसे रहित है। चन्द्रमा समान परम शीतल है। पवनके समान अमल है। पृथ्वीके समान क्षमावान है। अग्निके समान कर्म ईंधनका दाहक है। वही परमेश्वर है, परब्रह्म है, परमात्मा है, परम अमूर्तीक है, परम शुद्ध है, अकर्ता है, अभोक्ता है, जन्म जरा मरणसे रहित है, शोकादि दुःखोंसे शून्य है, इन्द्रियोंकी तृष्णासे बाहर है, मनकी चिंतासे पार है, नानारूपादि कर्मोंके संयोगसे शून्य है। रागद्वेषादि असंख्यात लोकप्रमाण कषाय भावोंसे रहित है। दर्शन व्रत सामायिकादि ग्यारह श्रावककी प्रतिमाओंसे बाहर है। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक इन पांच प्रकार साधु वर्गोंसे परे है। एकेन्द्रिय १४ जीव समासोंसे दूर है। मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थानोंसे उत्तीर्ण है। गति इन्द्रिय आदि १४ मार्गणोंके भेदोंसे भिन्न है। वह एक है, निर्दुन्द है केवल है, सिद्ध है, शुद्ध है, निर्विकार है।

इस तरह आपको वचनातीत, मनातीत देखते हुए वह ज्ञानी

एक ऐसी दशामें पहुँच जाता है जिसे स्वानुभव कहते हैं। यहीं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता प्राप्त होती है, यहीं परमानन्दका स्वाद अनुभवमें आता है, यहीं जैनधर्मका साक्षात् दर्शन होता है, यहीं मोक्षकी भी झांकी मिल जाती है। जो इस स्वाधीनताको प्राप्त करता है वही परम स्वतंत्र भोगी रहकर जीवनको सफल करता है। गृही हो या साधु हो, वही सत है, महात्मा है, वही सच्चा जिनभक्त सम्यग्दृष्टी है।

२१–स्वात्मानन्दकी प्राप्ति।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंको दूर रखकर अशरण भावना भाता है। विचारता है कि मेरे जीवका शरण दूसरा कोई नहीं है। किसी अन्यमें शक्ति नहीं है जो आत्माको स्वतन्त्रता प्रदान कर सके, जो आत्माको ज्ञानभण्डार दमक, जो आत्माको अनन्त बल प्रदान कर सके, जो आत्माको नित्य आनन्दका लाभ करा सके, जो आत्माको भव-भ्रमणसे मुक्त करा सके, जो आत्माको जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, वियोगके कष्टोंसे मुक्त करा सके। न कोई आत्मा किसी भी आत्माको कुछ दे सकता है न पुद्गलसे आत्माको कोई गुण प्राप्त हो सकता है। वास्तवमें आपका शरण आप ही है, आपका रक्षक आप ही है, आप ही दातार है आप ही पात्र है, आप ही गुरु है, आप ही शिष्य है, आप ही नेता है, आप ही आज्ञाकारी है, आपसे ही आपको परम लाभ हो सकता है। इसलिये ज्ञानी आत्मा सर्व पर पदार्थोंकी शरणको त्यागकर एक निजतत्वकी ही शरण ग्रहण करते हैं।

निज द्रव्यको अपना द्रव्य, निज गुणको अपना गुण, निज पर्यायको अपनी पर्याय समझते हैं। निज सत्वको अपना सत्व जानते हैं। अनादि कालसे इस मोही जीवने परका शरण ग्रहण किया, परकी चाकरी करी, परकी आशा करी, परन्तु इस परालम्बसे कभी भी परतंत्रताका लाभ नहीं हुआ।

जो स्वतन्त्रता चाहता है उसे अपने आत्मीक बलपर भरोसा करके खड़ा होजाना चाहिये। परका किंचित् भी आलम्बन न रखना चाहिये। अपने ही आत्माके असंख्यात प्रदेशरूपी भूमिपर खड़े होना चाहिये, अपनी ही सत्तापर अपना वास-स्थान बनाना चाहिये, चारों तरफ शुद्ध भावके दृढ़ कपाट लगा देना चाहिये, जिससे एक परमाणु मात्रके भी आनेको अवकाश न मिले। त्रिगुप्तिमय दुर्गमें बैठ जाना चाहिये, अपने ही सत्तारूपी चरम विवेकके द्वारा आत्मानुभूतिकी अग्नि जलानी चाहिये, उसी आगपर आत्मबलके बासनमें ध्यानके चावलोंको पकाकर मनोहर भात बनाना चाहिये। वैराग्यके मिष्ट रसमें स्नान कर इस सुन्दर भातको खाकर आत्मानंदका लाभ करना चाहिये। इस परम गरिष्ट भोजनको खाकर योगनिद्रा लेनी चाहिये। अप्रमादकी शैयापर शयन करना चाहिये। योगनिद्राके भीतर आत्मीक विभूतिके मनोहर स्वप्न देखने चाहिये। कभी निद्रासे जगकर स्वाध्यायके स्वच्छ जलसे स्नान कर ताजा होना चाहिये। इस भातके खानेसे विहार नहीं होता है। फिर भी उसी तरहसे मिष्ट भात बनाकर खाना चाहिये, आत्मानन्द पाना चाहिये व योगनिद्रामें शयन करना चाहिये। इसतरह जो पूर्णरूपसे स्वावलम्बी हो जाता है, अपनी पुष्टिके लिये भी परकी आशा

नहीं करता है, वह भी शने २ बल घटाकर अधिक कारणोंको मेट कर स्वतत्र होजाता है तब सदाक लिये स्वात्मानन्दामृतका पान किया करता है और परम तृप्त रहता है।

३२–शुद्ध दृष्टि।

स्वतन्त्रता क्या चली गई है? क्या मैं वास्तवमें परतन्त्र हू? नहीं नहीं, यह मेरा मिथ्या श्रद्धान है। यह मेरा मिथ्या ज्ञान है कि मेरी स्वतन्त्रता चली गई है या मैं वास्तवमें परतन्त्र हो गया हू। जबतक मेरा यह भ्रम स्थित है तब ही तक मैं परतन्त्रसा हो रहा हू। जिस समय मैं इस भ्रमको निकाल दूगा और इस प्रतीतिपर आरूढ हो जाऊँगा कि मैं स्वतत्र हू, परतत्र नहीं हू, मैं स्वभावसे सिद्ध समान शुद्ध हू, मुक्त हू, स्वाधीन हू, परमानदी हू, अनन्तज्ञान दर्शनधारी हू, अनन्त वीर्यवान हू, निर्विकार हू, निश्चल हू, परम वीतरागी हू, इस प्रतीतिके आते ही मैं अपनी स्वाभाविक स्वतत्रताको अनुभव करने लग जाऊँगा। स्वतत्रता आत्माका निज स्वभाव है। स्वभावका कभी अभाव नहीं होता है। स्वभावका स्वभावीके साथ तादात्म्य सम्बध रहता है। यह कभी मिट नहीं सकता है। शुद्ध पदार्थको देखनेकी दृष्टि शुद्ध कहलाती है। पर्यायको अशुद्ध देखनेकी दृष्टि अशुद्ध कहलाती है।

पानी मेला है ऐसा भान अशुद्ध दृष्टिसे होता है। जब उसी पानीको शुद्ध दृष्टिसे देखा जाता है तब वह पानी पानीरूप शुद्ध व निर्मल दिखलाई पड़ता है। इसी तरह कर्ममल सहित ससारी जीव

अशुद्ध दृष्टिसे अशुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। यदि इन्हींको शुद्ध दृष्टिसे देखा जाय तो ये सब शुद्ध ही दिखलाई पड़ेंगे।

ज्ञानीको उचित है कि वह शुद्ध दृष्टि रखे, द्रव्य दृष्टि रखे, शुद्ध नयकी तरफ झुकाव रखे और इस दृष्टिसे जगतको देखनेका अभ्यास करे। तब उसको सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वस्वभावमें परम मनोहर निज परिणतिमें मगन दिखलाई पड़ेंगे। सर्व ही आत्माएं भेदभाव रहित एकसमान शुद्ध झलक जायगी। इस शुद्ध झलकावमें नीच ऊंच, शत्रु मित्र, स्वामी सेवक, पिता पुत्र, पतित व अपतित, शुद्ध व अशुद्ध, बद्ध व मुक्तका कोई भेद नहीं रह जाता है। सब जीवोंमें समताभाव जागृत हो जाता है। साम्यभाव रूपी चारित्रकी शोभा छा जाती है। रागद्वेष मोहकी कालिमा नहीं रहती है।

स्वतन्त्रताका अनुभव करनेसे हरएक आत्मज्ञानी व्यक्ति अपनेको स्वतन्त्र व परम सुखी देख सक्ता है। यही अनुभव सम्यक्त है, यही सम्यग्ज्ञान है व यही सम्यक्चारित्र है यही मोक्षमार्ग है।

जो स्वतन्त्रताके प्रेमी हैं व भक्त हैं वे शीघ्र ही पर संयोगसे छूटकर साक्षात् स्वतन्त्र हो सकते हैं। यह कथन भी मात्र व्यवहार है। हम न कभी परतन्त्र थे न परतन्त्र हैं न कभी परतन्त्र होंगे, यही श्रद्धान व ज्ञान व यही चर्चा अभेद रत्नत्रय स्वरूप परम मंगलदाई है, परमानन्द देनेवाली है। न मुझमें बन्ध है न मुक्ति है। मैं इन कल्पनासे रहित एक निर्विकल्प स्वानुभवगम्य पदार्थ हूं। यही भाव स्वतन्त्रताको दर्शानेवाला है और परम तृप्तिको अर्पण करानेवाला है। जो इस भावके क्षीरसमुद्रमें स्नान करते हैं वे सदा पवित्र व स्वतन्त्र हैं।

३२–स्वतन्त्रताकी महिमा।

प्यारी स्वतन्त्रता ! तेरा दर्शन कहां हो व कैसे हो ऐसा भाव मनमें जब आता है तब ही विवेकज्ञान यह बता देता है कि स्वतन्त्रता अपने ही आत्माके पास है। स्वतन्त्रता आत्माका स्वभाव है। जब काय स्थिर कीजाय, वचनका प्रयोग बंद कर दिया जावे, मनका चिन्तवन रोक लिया जाय तब जो कुछ भीतर अनुभवमें आयगा वही स्वतन्त्रताका दर्शन है। आत्माका संयोग न तो रागद्वेषादि भावकर्मोंसे है न ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे है न शरीरादि नोकर्मोंसे है। जैसे पानीसे मिट्टी भिन्न है, जलसे कमल भिन्न है, अग्निसे पानी भिन्न है, सिवालसे सरोवर भिन्न है, खारेपनसे पानी भिन्न है, सुवर्णसे रजत भिन्न है, भूमीसे तेल भिन्न है, दूधसे जल भिन्न है, वस्त्रसे शरीर भिन्न है दर्पणमें झलकनेवाला पदार्थ भिन्न है, चांदनीसे भूमि भिन्न है, खड्गसे म्यान भिन्न है, इसी तरह मेरे ही रागादि विकारोंसे व पौद्गलिक पर्यायोंसे व आकाश, काल, धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्योंसे व सर्व अन्य आत्माओंसे अपना आत्मा भिन्न है।

इस भेदविज्ञानके वारवार अभ्यास करनेसे स्वात्मरुचि बढ़ती जाती है, पर रुचि घटती जाती है। सम्यग्दर्शनकी ज्योति जब प्रगट होजाती है तब आत्मानुभव जग जाता है। स्वस्वरूपका अनुपम स्वाद आजाता है। अतीन्द्रिय आनंदका लाभ होजाता है। स्वसंवेदन ज्ञान होजाता है। स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होजाता है। मोक्षप्राप्तिका उदय होजाता है। जहां स्वतन्त्रताका अनुभव है वहीं मोक्षमार्ग है। वहीं साक्षात् मोक्ष है

सर्व सिद्ध भगवान प्यारी स्वतन्त्रताका आलिंगन करते हुए शोभायमान हैं। विदेहम बीस वर्तमान तीर्थंकर परतन्त्रताके उद्यानमें रमण कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टी अविरति देशविरति श्रावक, प्रमत्त व अप्रमत्त, सयमी व अपूर्वकरणादि गुणस्थान धारी उपशम व क्षपक-श्रेणी आरूढ यति स्वतन्त्रताक प्रेममें मगन रहते हैं, पराधीनताका अश मात्र भी नहीं चाहते हैं।

स्वतन्त्रताकी महिमा अगाध है। जो देश स्वतन्त्र है वह सुखी है। जो जाति रूढिक बन्धनोंस मुक्त होकर स्वतन्त्रता भोगती है व सुखी है। जो व्यक्ति भेदविज्ञानकी कलाको सीखकर स्वतन्त्रताको अपने भीतर जागृत करक उसे ही प्रियतमा बनाकर निरन्तर उस ही आलिंगन करता है, वह स्वात्मरस पान करता हुआ परमानन्दमें मगन रहता है।

३४–स्वतन्त्रता अटूट ज्ञान भडार है।

एक ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि मैं क्यों रागद्वेष, मोहमें फसा हू। क्यों अज्ञान मेरे भीतर अपना राज्य कर रहा है। क्यों मेरे साथ कार्मण, तेजस व औदारिक शरीर हैं। क्यों मैं विक्षिप्त, शोकित, भयभीत व सासारिक सुख मिलनेपर सतुष्ट व दु ख मिलनेपर दुखित होजाता हू। क्यों मैं किसीको मित्र व किसीको शत्रुकी बुद्धिसे देखता हू। इस सबका कारण मेरे ही भीतर यह भ्रांति है कि मैं अशुद्ध हू, कर्मके बधमें हू परतन्त्र हू। इस भ्रान्तिने, इस मिथ्यात्वने मुझे परतन्त्र बना रक्खा है। आज मैं इस भ्रांतिको छोडता हू। निश्चय-

नयकी दृष्टिसे अपने आपको देखता हू तब मैं अपनेको पूर्ण रूपसे स्वतत्र पाता हू।

मेरा कोई भी सम्बन्ध किन्हीं शरीरोंसे नहीं है, किन्हीं रागादि अशुद्ध भावोंसे नहीं है, किन्हीं जगतकी चेतन व चेतन वस्तुओंसे नहीं है। मैं पूर्ण शुद्ध, ज्ञान दर्शन स्वरूपी, अमूर्तीक, वीतराग, परमानदमय एक आत्मद्रव्य हू। मैं अपने सर्व गुणोंका स्वय स्वामी हू। मैं अपनी सर्व शुद्ध स्वाभाविक परिणतियोंका आप ही अधिकारी हू, मैं सर्व परसे नाता नहीं रखता हू। मेरा सहयोग केवल मेरेसे ही है। जब मैं इस स्वतत्र स्वभावका मनन करके स्वभावमें ही तन्मय होता हू तब वहां स्वतत्रता रूपी परम प्रियतमाका दर्शन पाकर परमानदित होजाता हू परम तृप्त होजाता हू। सिद्धके समान अपनेको अनुभव करता हू। यही सार तत्व है। यहीं मोक्षमार्ग है, यहीं कर्म ईंधन दग्धकारक अग्नि है, यहीं अमृतमई स्वादके धारी शुद्धोपयोगरूपी फलोंके उपजनेका स्थान है, यहीं अपना घर है, यहीं अपना क्रीडा वन है। यहीं परम सवर है। यहीं परम निर्जराका भाव है, यहीं सच्चा उत्तम क्षमा है। यहीं सच्चा मार्दव धर्म है, यहीं अद्भुत सरलता है, यहीं सत्य धर्म है, यहीं परम शुचिता है, यहीं परम उपेक्षा सयम है। यहीं आकिंचन्य भाव है, यही उत्तम ब्रह्मचर्य है। यहीं धर्म है, यहीं परम समाधिभाव है, यहीं निराकुलता है, यहीं सम्यग्ज्ञान है, यहीं स्वचारित्र है, यहीं स्वात्मरमण है, यहीं ज्ञानचेतना है, यहीं गुप्त अटूट ज्ञान भण्डार है। स्वतत्रतामें ही परम सुख है।

३५–आत्मदर्शन ही स्वतंत्रता है।

एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टी भले प्रकारसे विश्वके सर्व पदार्थोंका परीक्षण करके इस बातका पक्का निश्चय कर लेता है कि जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्योंका संयोग ही आत्माकी परतंत्रताका कारण है। उनका वियोग होनेसे ही आत्मा सदाके लिये स्वतंत्र होजाता है। इसका उपाय भी स्वतंत्रताका अनुभव है। यद्यपि व्यवहारकी संयुक्त दृष्टिसे देखते हुए परतंत्रता दिखलाई पड़ती है। इसी तरह जिस तरह गायके गलेमें बंधी हुई रस्सीको गायके साथ देखते हुए गाय बंधनमें दिखती है। जब यह देखा जाता है कि बंधन रस्सीका रस्सीसे है गाय तो अलग है तब गाय बंधन मुक्त ही दिखती है। वह गाय भी जब तक इस भ्रममें है कि मैं बंधी हूं तब तक बंधनमें रहती हुई पड़ी रहती है। जब कभी उसे यह ज्ञान हो कि बंधन बंधनमें है, मेरेमें नहीं है, मैं तो बंधनसे अलग हूं, ऐसा श्रद्धानमें लाकर यदि थोड़ासा भी पुरुषार्थ करे तो बंधनसे मुक्त होसक्ती है। इसी तरह यह जीव जहांतक अपनेको बंधा देख रहा है वहांतक यह अपनेको परतंत्र ही अनुभव करता है। यदि यह बंधको बंधमें देखे व अपने स्वभावपर दृष्टिपात करके अपनेको बंधके स्वभावसे रहित सिद्धसम जाने, माने व अनुभव करे तो इसे अपनी स्वतंत्रताका साक्षात् अनुभव होजावे। स्वतंत्र होनेका उपाय स्वयं स्वतंत्र हूं ऐसा अनुभव है। यही अनुभव वीतराग विज्ञानमई धर्म है। यही अनुभव अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। सर्व जगतकी विभूतिसे, इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदोंसे, पचेन्द्रियोंके नाना प्रकारके मनोज्ञ विषयोंसे, मनमें

होनेवाले नाना प्रकारके भूत, भावी व वर्तमानके विचारोंसे उदासीनता रखकर केवल निजात्म रुचिवान होकर निजात्माके ही भीतर रमण करना आत्मस्वतन्त्रताका उपाय है। आप ही साधन है, आप ही साध्य है। आत्मदर्शन ही स्वतन्त्रता है। अपूर्ण दर्शन मार्ग है। पूर्ण दर्शन निर्दिष्ट स्थान है।

स्वतन्त्रताके कथनमें, स्वतन्त्रताके विचारमें, स्वतन्त्रताके अनुभवमें आनन्द ही आनन्द है। किसी प्रकारका खेद व कष्ट नहीं है। निराकुलताका साम्राज्य है। आकुलताके कारण राग, द्वेष, मोह विभाव हैं। इनकी उत्पत्ति व्यवहार दृष्टिके द्वारा जगतको देखनेसे होती है। निश्चय दृष्टिके द्वारा जगतको देखते हुए सर्व पुद्गलादि अजीव अपने स्वरूपमें व सर्व जीव अपने शुद्ध एकप्रदेश स्वरूपमें दिखलाई पड़ते हैं, तब परम समताका उदय हो जाता है। साम्यभावके होते हुए कहां राग, द्वेष, मोहका स्थान रह सकता है? धन्य है साम्यभाव जिसके प्रतापसे स्वतन्त्रताका दर्शन होता है। मैं अब निश्चयनयकी शरण लेकर समभावसे जगतको देखनेका अभ्यास करता हूं। यही स्वतन्त्रताका सतत उपभोग प्राप्त करनेका साधन है। मैं स्वतन्त्र हूं ऐसा ही अनुभव स्वतन्त्रताका उपाय है।

३६–स्वतन्त्रता सर्वांग व्यापक है।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकारी भावोंसे दूर रहकर स्वतन्त्रताकी खोज करता है। जैसे किसीकी मुट्ठीमें सुवर्णकी मुद्रिका हो, भूलकर वह कहीं गिर पड़ी है, ऐसा भ्रममें पड़कर सर्व जगतको ढूंढे तो उसे

सुवर्ण मुद्रिकाका लाभ नहीं होगा । जब वह अपनी ही मुट्ठीमें देखेगा तब उस सुवर्ण मुद्रिकाका लाभ होजायगा । वैसे ही जो कोई स्वतंत्रताको, जो अपने ही आत्माके पास है, भूलकर उसे तीन लोकमें ढूंढेगा उसे स्वतंत्रताका लाभ नहीं होगा । जब वह अपने ही भीतर देखेगा तो उसे स्वतंत्रता मिल जायगी ।

स्वतंत्रता आत्माके भीतर सर्वांग व्यापक है । हमारा उपयोग जिस समय पर पदार्थोंके रागद्वेषसे छूट जायगा और आपसे ही आपमें, अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें विश्राम करेगा तब ही स्वतंत्रताका लाभ हो जायगा ।

स्वतंत्रताका दर्शन, ज्ञान व लाभ होना ही आत्माका परम हित है । जिन किन्हीं संसारी जीवोंने अपनी भूली हुई स्वतंत्रताको पाया है, उन्होंने अपने ही पास पाया है । स्वतंत्रताका लाभ होते ही वे बंधनमुक्त हो गए हैं । संसार परतंत्रताका नाटक है । जब तक यह जीव अपने मूल स्वभावको भूल हुए है और कर्मके द्वारा उत्पन्न होनेवाली अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्थाओंको अपनी मान लेता है व उनके फन्दमें पड़ा हुआ मन, वचन, कायसे वर्तन करता है, तब तक परतंत्रताके कारण बंधनमें पड़ा हुआ दिनरात आकुलित होता है । इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगका सन्ताप सहता है । अहंकार व ममकारके फन्दमें पड़ा हुआ संसारकी चार ही गतियोंमें भ्रमण करता रहता है । संसार, शरीर, भोगोंमें मोही होता हुआ बारबार शरीर धारण करता है । तृष्णासे आकुल व्याकुल होता है । तृष्णाको कभी शमन न कर पाते हुए दाहमें जलता हुआ प्राण त्यागता है, भवभवमें दुःखित ही होता है ।

परतंत्र जीवन बड़ा ही सकंटाकीर्ण होता है। अपनी ही भूलसे ही यह जीव संसारमें दुःखी है।

जैसे बन्दर चनोंके घड़ेमें मुट्ठी डालकर चनोंको मुट्ठीमें भरकर घड़ेके छोटे मुखसे मुट्ठीको न निकाल सकनेके कारण यह भ्रमभाव पैदा कर लेता है कि घड़ेने उसे पकड़ लिया, यह बहुत आकुलित होता है, अपने अज्ञानसे आप क्लेश पाता है। यदि मुट्ठीसे चने छोड़ दे तो शीघ्र हाथको निकाल कर सुखी हो जावे।

इसी तरह यह अज्ञानी जीव इस भ्रममें है कि कर्मोंने इसे पागल कर दिया है। स्त्री पुत्रोंने अपने बन्धनमें फसा लिया है। बस, यही भ्रम संसारके दुःखोंका कारण है। यदि यह इस भ्रमको छोड़ दे, अपने आत्माको सर्वसे भिन्न जाने व किसीसे राग, द्वेष, मोह न करे तो यह भ्रमसे रहित हो तुर्त स्वतन्त्रताको प्राप्त कर ले। भ्रमरहित प्राणीको स्वतन्त्रताका पद पदपर दर्शन होता है। यह स्वतन्त्रताके द्वारा आत्मीक रसका स्वाद पाकर परम सुखी रहता है।

३७–स्वात्म रमणरूप सागरका स्नान।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर स्वतन्त्रताका स्मरण करता है। क्योंकि वह कर्मबन्धकी परतन्त्रतामें महान दुःखी व आकुलित है। वास्तवमें कर्मोंकी पराधीनता असहनीय है। सर्व ही कल्याण चाहते हैं, परन्तु नहीं होता। सर्व ही निरोगता चाहते हैं पर नहीं होती। सर्व ही जरामें ग्रसित होना नहीं चाहते हैं परन्तु जरा आ ही जाती है। सर्व ही मरण नहीं चाहते हैं परन्तु मरण आ ही जाता है।

कोई भी इष्ट सचेतन व अचेतन पदार्थोंका वियोग नहीं चाहता है परन्तु वियोग हो ही जाता है। कर्मोंकी पराधीनताके कारण य आत्मा परमानन्दी स्वभावका धारी होते हुए भी उस सच्चे सुखको न चाहता है। केवल झूठे इन्द्रियजनित सुखोंमें लिप्त है, जिन सुखों समतासे तृप्ति नहीं होती। उल्टी तृष्णाकी आताप अधिक अधि बढ़ता जाता है। पराधीनताके ही कारण यह शरीरके साथी स्त्री, पु मित्रादिसे मोह कर लेता है। स्वार्थभाव यह होता है कि इनसे सुख होगा। जब वे अनुकूल नहीं चाहते हैं तब यह महान अनुभव करता है। त्रिलोकमें महान पदार्थ होकर भी व सर्वज्ञ समान आत्म-सम्पत्तिका धनी होकर भी यह जगतकी दीन हीन अवस्थाओंमें मारा २ फिरता है व इन्द्रिय सुखका लोलुपी होता हुआ घोर वेदना सहता है। इस परतंत्रताका अन्त कैसे हो, इसी प्रकार एक विचार शीलको विचारना चाहिये। वास्तवमें यह भ्रमभावमें पड़ गया है। अपने मूल स्वभावको भूल गया है। इसको व्यवहारकी अशुद्ध दृष्टि बंद करनी चाहिये। और निश्चयकी शुद्ध दृष्टिको खोलकर देखना चाहिये।

तब इसको कहीं भी परतंत्रताका दर्शन न होगा। हर तरह हरएक आत्मामें स्वतंत्रताका साम्राज्य दृष्टिगोचर पड़ेगा। तब अपना आत्मा भी शुद्ध परमात्मवत् स्वभावमें कल्लोल करता हुआ दिखलाई पड़ेगा और सर्व जगतकी आत्माएं भी शुद्ध परमात्मावत् स्वभावमें आरूढ़ दिखलाई पड़ेंगी। पूज्य पूजक, स्वामी सेवक, ध्याता ध्येय, आचार्य शिष्य, पिता पुत्र, माता पुत्री पति पत्नी, ऊंच नीच स्त्री पुरुष, पशु पक्षी, कीट कीटाणु, वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमई

प्राणी, नारकी, देव, तिर्यंच, मानव चार गतिके भेद, क्रोधी, क्षमावान, मानी, विनयवान, मायावी, सरल, लोभी, सन्तोषी, बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, श्रावक, साधु, बालक, युवा, वृद्ध, संसारी, सिद्ध आदि सर्व भेदोंका दर्शन बंद होजायगा । सर्व ही जीव परम शुद्ध निराकार दीखेंगे । एक अपूर्व समभावका सागर बन जायगा । ऐसे स्वात्मरूप सागरमें जो स्नान करेगा व धर्मका निर्मल जलपान करेगा वह सदा ही आत्मका स्वतंत्र अनुभव करेगा । उसके गलेमें स्वतन्त्रता सदा हाथ डाले हुए बैठी रहेगी । वह पराधीनताके क्लेशसे बचकर पूर्ण स्वाधीन स्वभावका स्वाद पाता हुआ परमानंदित रहेगा ।

३८–स्वतन्त्रता प्राप्तिका उपाय ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे रहित होकर एकांतमें बैठता है और यह विचारता है कि स्वतन्त्रता कैसी मनोहर वस्तु है, परतन्त्रता कैसी भयानक वस्तु है। जिस बन्धनमें रहकर अपनी शक्तियोंका विकास न किया जासके वह बंधन परतन्त्रताका कारण है ।

स्वतन्त्रतासे ही आज अमेरिका, जापान, इंग्लैंड देश यथेच्छ उन्नति कर रहे हैं। जहां प्रजाके अनुकूल प्रजाका शासन हो वहीं स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रजा अपनी शक्तियोंको व्यक्त कर सकती है ।

लौकिक परतंत्रता जिस तरह लौकिक उन्नतिमें बाधक है वैसे कर्मबन्धकी परतन्त्रता आत्मिक उन्नतिमें बाधक है । आत्म–स्वतंत्रता पानेका साधन कर्मोंपर विजय प्राप्त करना है व उनको अपने आत्माकी सत्तासे बाहर कर देना है ।

यह कार्य बड़ा ही कठिन दिखता है। क्योंकि अनादिकालसे कर्मोंने अपनी सत्ता जमा रक्खी है। तथा आत्माने उनका भ्रममें पड़कर स्वागत ही किया है। व धनमें ही हर्ष माना है। कर्मशत्रुओंका फसानेवाली जाल पांच इंद्रियोंके विषयोंका जाल है। उनके फन्देमें फसा हुआ संसारी प्राणी रागद्वेष, मोहकी कलुषतासे कलुषित होकर रहता है। इस कलुषताको देखकर कर्मशत्रु बंधके प्रवेश कर जाते हैं और अपना बंधन गाढ़ करते जाते हैं।

इस विषयकी तृष्णासे जबतक रक्षित न हुआ जायगा तबतक इन कर्मोंसे बचनेका उपाय नहीं बन सकता है। आत्म-सुखका प्रेम होना ही विषयसुखके प्रेमकी जड़ खोना है। आत्मसुखका प्रेम तब ही होगा जब कोई व्यक्ति अपनेको पराधीन व दु:खी समझकर इस परतंत्रतासे छूटनेका दृढ़ भाव प्राप्त करके आत्मीक सुखकी खोजमें लग जायगा।

आत्मीक सुख आत्मामें है। आत्माका ही स्वभाव है। अतएव श्री गुरुके धर्मोपदेशसे तथा जैन शास्त्रोंके पठन पाठनसे व युक्ति द्वारा मननसे तथा एकान्तमें भावना करनेसे आत्माकी प्रतीति आना संभव है। आत्मा स्वभावसे स्वतंत्र है, सिद्धके समान शुद्ध है, ऐसा समझकर जो नित्य भावना भावेगा उसको किसी दिन सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायगा। तब आत्माकी व आत्माके सच्चे सुखकी श्रद्धा हो जायगी। उसी क्षण विषयसुखकी श्रद्धा दूर हो जायगी। बस, इन्द्रिय विषयोंके जालसे बचनेकी कला हाथ लग जायगी और यह चतुर हो जायगा। बस यही स्वतंत्रता पानेका प्रारंभिक उपाय है। इसीमें परमानंदका भी लाभ है।

३९–पूर्ण स्वतंत्रता कैसे ?

स्वतंत्रता क्या ही प्यारी वस्तु है। इसका जहां राज्य है वहा सदा सुख है। इसका जहा बहिष्कार है वहा परम दुःख है। अनादि कालसे इस ससारी जीवने स्वतंत्रताका बहिष्कार कर रक्खा है। मोह कर्मके वशीभूत होकर अपनापन त्याग कर दिया है। मोह जैसे नचाता है वैसा यह नाच रहा है। महान बाधाओंको सहता हुआ जन्म मरण कररहा है। स्वतंत्रताका भूलकर भी स्मरण नहीं करता है। परतंत्रताके धर्ममें स्वतंत्रताकी बलि करदी जारही है। कोई विष्णुकुमारके समान परोपकारी वीर हो तो वह इस स्वतंत्रताकी रक्षा करे।

वीर आत्माको साहसी होना चाहिये। मोहके फन्देसे जरा बचकर अपनी विक्रिया ऋद्धिसे अपना परिवर्तन करना चाहिये। मिथ्यात्वीसे सम्यक्ती बन जाना चाहिये। मोह मेरा हितू नहीं है, किंतु शत्रु है, यह बात निश्चय कर लेनी चाहिये। मोहसे विराग होना ही मोहके फन्देसे छूटनेका उपाय है।

जिस वीर आत्माओंको अपने स्वभावका श्रद्धान तथा ज्ञान होता है वे समझ लेते हैं कि स्वतंत्रता मेरे ही पास है। जहा बंधनको बंधन समझा गया व बंधनसे असहयोग किया गया व स्वशक्तिका सहयोग किया गया, वहां ही स्वशक्ति स्फुरायमान होती जाती है, बाधक कारणोंका नाश होता जाता है, स्वभावका प्रकाश होता जाता है।

मैं स्वतंत्र हू। यही भावना स्वतंत्रताको मिला देती है। जैसा भावे वैसा हो जावे।

जिन जिन महात्माओंको पूर्वकालमें अपने स्वभावका दृढविश्वास

४१—परमानन्द रस ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे निवृत्त होकर एकान्तमें बैठकर स्वतन्त्रताका स्मरण करता है। स्वतन्त्रता आपनसे दूर नहीं है, पास ही है, परन्तु उसको मोहनीय कर्मने दबा दिया है। जिससे मादक पदार्थके आक्रमणके समान यह मोही जीव अपनी स्वतन्त्रताको भूले हुए है। अनादिसे मोहके नशेमें चूर है। इससे इसे बिल्कुल भी श्रद्धान व ज्ञान नहीं है कि वह असलमें परम स्वतन्त्र है, सिद्ध भगवानके समान है, अविनाशी है, ज्ञानका सागर है, परमानन्दका घर है, सर्व शारीरिक, मानसिक व आकस्मिक बाधाओंसे रहित है, परम अमूर्तिक है, निरञ्जन है, स्वगुणमें रमनेवाला, स्वानुभूतिका स्वामी, पर-भावका न कर्ता है, न परभावका भोक्ता है। ऐसा अपनापना स्वतन्त्र स्वभाव है, परन्तु अपनेको यह अज्ञानसे चार गतिमय अशुद्ध विकारी व दुःखरूप मान रहा है।

इसकी यह मिथ्यादृष्टि मिटे व सम्यग्दृष्टिका प्रकाश हो, इसका उपाय श्री गुरुका चरण सेवन है। श्री गुरुके प्रसादसे अज्ञान तिमिर मिटता है, उनका उपदेशरूपी अंजन जब सेवन किया जाता है तब विकार मिट जाता है और अनादिकी बंद—ज्ञानचक्षु प्रगट होजाती है।

तब ज्ञानचक्षु जगतको द्रव्य दृष्टिसे शुद्ध देखता है। पृथक् २ छ द्रव्योंका दर्शन करती है। पर्याय दृष्टि नाना भेद भी बताती है। ज्ञानीकी दृष्टि होना अपेक्षाओंसे वस्तुके शुद्ध व अशुद्ध स्वभावको जानकर स्वतन्त्रताके लिये केवल शुद्ध स्वरूपकी भावना करनेसे भी दृढ़ता होती जाती है। भावना भावोंको उच्च बना देती है।

स्वतत्रताका श्रद्धान ज्ञान व ध्यान ही स्वतत्रता पानेका उपाय है। स्वतत्रताकी भक्ति ही परम भक्ति है। स्वतत्रताका गान ही परम मगल गान है। स्वतंत्रताका तत्व ही परम पवित्र वापिका है जहा कल्लोल करना परम शातिप्रद है।

जो उच्च जीवनके प्रेमी हो उनको उचित है कि स्वतत्रताका भाव सहित साधन करें व परमानद रसको, जो अपने ही पास है पीकर परम सन्तोषको प्राप्त होवे।

४२-कर्मोंकी पराधीनता।

एक ज्ञानी आत्मा एकातमें बैठकर स्वतत्रताका स्मरण करता है तब उसे इसका दर्शन हरएक विश्वके द्रव्यमें होता है। विश्व छ द्रव्योंका समुदाय है।

आकाश एक अखण्ड है, धर्मास्तिकाय एक है, अधर्मास्तिकाय एक है, ये तीन द्रव्य एक २ अखण्ड अपने गुण व पर्यायोंमें स्वतंत्रतासे परिणमन करते रहते हैं। कालाणु असख्यात हैं। सब भिन्न २ पूर्ण स्वतत्र हैं। अपने स्वभावसे परम स्वाधीनतासे परिणमन करते रहते हैं। पुद्गल परमाणु अनतानन्त हैं। ये भी अपनी अबध अवस्थामें रहते हुए अपने मूल स्वभावमें स्वतत्रतासे कल्लोल कर रहे हैं। जीव भी अनतानत हैं। ये सब जीव अपनी २ सत्ताको भिन्न २ रखते हैं। सर्व ही अपने स्वभावमें हैं, पूर्ण स्वतत्र हैं, सर्व ही परम शुद्ध हैं, निरजन हैं, निर्विकार हैं, ज्ञानदर्शनमई हैं, परमशात हैं परमानदमय हैं, किसीका किसीके साथ न राग है, न द्वेष है, न मोह है। सर्व ही परम वीतराग हैं।

इस तरह जब द्रव्य दृष्टिसे सर्व विश्वके पदार्थोंको अपने मूल स्वभावमें देखा जाता है तब सर्व ही परम स्वतंत्र हैं, मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं, ऐसा झलकता है।

इस शुद्धनयकी दृष्टिसे स्वतंत्र हुए स्वतंत्रता प्राप्तिका कोई उपाय नहीं करना है।

दूसरी अशुद्ध दृष्टि या अशुद्ध पर्याय दृष्टि या असद्भूत व्यवहार दृष्टि है। इस दृष्टिके द्वारा देखते हुए मैं अपनेको आठ कर्मोंके फंदमें जकड़ा हुआ पाता हूं। न तो अनंतज्ञान है, न अनन्तदर्शन है, न अनंतवीर्य है, न अनंत सुख है–रागद्वेषके विकार हैं इन्द्रियोंके तीव्र रोग हैं। सुख चाहते हुए भी सुख नहीं मिलता है, दुःखको न चाहते हुए भी दुःख आके घेरता है, मरण न चाहते हुए भी मरण आजाता है।

इष्टवियोग न चाहते हुए भी इष्टका वियोग होजाता है। अनिष्ट संयोग न चाहते हुए भी अनिष्टका संयोग होजाता है। घोर दीनहीन अवस्था होरही है। बड़ी ही भारी कर्मोंकी पराधीनता है।

इस पराधीनताको मिटानेका उपाय यही है कि हम अपने मूल द्रव्यको पहचानें कि यह स्वभावसे स्वतंत्र है और एकाग्र होकर बल पूर्वक मोहको दूरकर वैराग्यवान हो अपने ही शुद्ध स्वभावका मनन करें–ध्यान करें।

स्वानुभवमई होकर स्वतंत्रताका ही आनन्द लेवें। यही हमारा स्वानुभवरूपी चारित्र कर्मोंको दग्ध कर देगा और हम बहुत शीघ्र अपने निजस्वभावमें पूर्ण स्वतंत्र होजायगे। स्वतंत्रता मेरेमें है। यही श्रद्धान होनेका उपाय है।

४३–अविद्या और तृष्णा।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व पर द्रव्योंसे उन्मुख होकर एकांतसेवी होता है और शांतभावसे विचार करता है कि मैं निराकुल क्यों नहीं हू। क्यों मुझे रातदिन विषय व कषायोंकी आकुलता सताती है। क्यों मैं अपने शुद्ध वीतराग ज्ञान दर्शन स्वभावमें विश्राम नहीं करता हू। सिद्धोंके समान तो मैं भी हू। उनकी जाति व मेरी जाति एक है। जितने सामान्य तथा विशेष गुण सिद्धोंमें है उतने ही सामान्य व विशेष गुण मेरी आत्मामें भी है। केवल सत्ताकी अपेक्षा भिन्नता है। सिद्ध सदा परमानंदका उपभोग करते है, परम निश्चल हैं। एक क्षण भी स्वानुभूति रमणसे विरत नहीं होते। न उनके आत्मीक प्रदेश हिलते हैं, न उनमें कोई प्रकारकी कषाय है। मैं ऐसा क्यों नहीं?

वास्तवमें मैंने परसे प्रीति की है, परको अपनाया है इसीसे कर्म पुद्गलोंने मेरे साथ सम्बन्ध कर रक्खा है। जो जिसका स्वागत करता है वह उसके साथ जाता है। मैं पुद्गलकी प्रतिष्ठा करता रहा हू, इसीसे मैं पुद्गलके विकारमें रंजित हू। मेरी पराधीनताका कारण मेरा ही अज्ञान व मोह है।

जैसे मूर्ख पक्षी दर्पणमें अपनी छाइ देखकर दूसरा पक्षी बैठा है ऐसा भ्रमसे मानकर चोंचे मारकर दुःखी होता है वैसा मैं भ्रमसे संसारके क्षणिक सुखको सुख मानकर क्लेशित हुआ हू।

अविद्या और तृष्णाने मुझे पराधीन कर दिया है। क्या मैं इन दोनों मलोंका त्याग नहीं कर सकता हू, यदि मैं अपने शुद्ध स्वरूपकी सच्ची गाढ़ प्रतीति प्राप्त करू और पुद्गलसे सर्व प्रकार उदास

होजाऊँ । मेरमें ही मेरा स्वभाव है । मैं स्वभावसे स्वतन्त्र हूं । मैं स्वभावसे परमात्मा ईश्वर परब्रह्म हूं, ऐसी बार बार भावना भाऊँ । कर्मोदयसे होनेवाले शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकारके भावोंका स्वागत न करूँ, उनके उदयको समभावसे अवलोकन करूँ व सर्व जगतके साथ समभाव रखनेका मैं निश्चयनयका चश्मा लगा लूं । सर्व आत्माओंको सिद्धके समान शुद्ध देखा करूं, बस यही मेरा भाव यही मेरी भावना, यही मेरी प्रतीति, यही मेरा आत्म श्रम मुझे एक दिन परकी संगतिसे सर्वथा छुटाकर पूर्ण स्वतन्त्र कर देगा । अविद्या व तृष्णाका सदाके लिये वियोग होजायगा । स्वतन्त्रताकी भावना करनी ही स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका साधन है ।

४४–यथार्थ तप ।

स्वतन्त्रता परमप्यारी वस्तु है । जहां उत्तम क्षमा है वहां क्रोधको जीतने हुए स्वतन्त्रता है । जहां मार्दव धर्म है वहां मानको जीतकर स्वतन्त्रताका लाभ है । जहां मरणको जीतकर परम सरलता है वहीं स्वतन्त्रताका लाभ है । जहां लोभको जीतकर परम पवित्रता है वहां ही स्वतन्त्रता है, जहां पांच इन्द्रियोंके विषयोंका विजय है वहीं स्वतन्त्रता है । जहां कुशील भावसे बचकर ब्रह्मचर्यमें लीनता है वहीं स्वतन्त्रता है जहां ममत्वको विजय कर निर्ममत्व भावका प्रकाश है वहीं स्वतन्त्रता है । जहां इच्छाओंको निरोध करके परम तप है वहीं ही स्वतन्त्रता है । जहां ज्ञानका स्वतन्त्र प्रकाश है, अज्ञानका विनाश है वहीं अन्धकार–विजयी स्वतन्त्रभावका प्रकाश है ।

जहा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप स्वानुभवकर झलकाव है वहीं स्वतन्त्रता है। जहा निर्विकल्प समाधि है परन्तु शून्य भाव रहित है वहीं स्वतन्त्रता है। जहा ऐसा उपवास है कि आत्माका उपयोग सर्व इन्द्रिय व मनके विकल्पोंसे रहित होकर एक आत्माहीके भीतर उपवास करता है वहीं स्वतंत्रता है।

जहां शरीरको हलका रखकर उपयोगको निज आत्मामें रमाया जाता है वहीं अवमोदर्य नामका तप है, वहीं स्वतन्त्रताका झलकाव है। जहा सर्व षट् रसोंका त्याग करके एक आत्मीक रसका पान है वहीं रस परित्याग नामका तप है वहीं स्वतन्त्रता है।

जहा संयमकी प्रतिज्ञा लेकर एक शुद्ध उपयोगके घरमें ही आत्मीक आनन्दकी भिक्षा लेनेके लिये गमन है वहीं वृत्तिपरिसंख्यान तप नामकी स्वतन्त्रता है? जहा सर्व पर द्रव्य, परगुण, परभावोंसे भिन्न होकर स्वात्म परिणतिमें ही शय्या व आसन है वहीं विविक्तशय्यासन नामका तप है वहीं स्वतन्त्रता है। जहा कायके क्लेशसे विमुख होकर एक निज आत्माके आनन्दमें कल्लोल है वहीं कायक्लेश तप नामकी स्वतंत्रता है।

जहा सर्व वैभाविक भावरूपी दोषोंसे शुद्धि पाकर स्वभावरूपी गगाजलमें स्नान है वहीं प्रायश्चित्त रूपमें प्राप्त स्वतन्त्रता है। जहा आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही देव है, आत्मा ही शास्त्र है, आत्मा ही गुरु है, ऐसा जानकर केवल एक आत्माका ही विनय है वहीं स्वतन्त्रता है। जहा निज आत्मा देवकी पूर्ण आराधनाके साथ सेवा है वहीं वैयावृत्त तप है व वहीं स्वतन्त्रता है। जहा परका स्वरूप आराधन

छोड़कर केवल एक स्वगुणोंका अध्ययन है वहा ही स्वाध्याय तप्त प्राप्त स्वतत्रता है। जहा परसे विशेष ममता हटाकर आपका निश्चल ध्यान है वहीं व्युत्सर्ग तप है व वहीं स्वतत्रताका प्रकाश है। जहां ध्याता, ध्यान, ध्येयका विकल्प हटाकर एक आपका ही निश्चल व परम शात ध्यान है वहीं यथार्थ ध्यान है, वहीं यथार्थ तप है व वहीं स्वतत्रता है। मैं स्वतत्र होनेके लिये एक स्वतत्रताका ही यत्न करता हू यही मेरा ध्येय है।

४५–स्वतत्र पद।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपचजालसे रहित होकर एकातमें बैठकर विचारता है कि स्वतत्रता कहा है व कैसे प्राप्त होसक्ती है। उसको थोडीमी ही विचारमें यह झलक जाता है कि उसीने ही अपनी भूलसे परतन्त्रता मान रक्खी है। स्वतत्रता तो उसका निज स्वभाव है। जैसे स्वप्नमें कोई स्वयको पुरुष मानके भयसे भागे वैसे यह अपनको ही अपनी मायतामे परतन्त्र मानकर दुखी होरहा है। भ्रमका पर्दा हटा है। मिथ्यात्वकी कालिमा मिटाये तो इसे यही अनुभव हो कि यह पूर्णपने स्वतत्र है और अपने आप ही आपका स्वामी है। यह पूर्ण ज्ञानी है, पूर्ण शांत है, पूर्ण आनन्दमय है, पूर्ण वीतरागी है। परमात्मामें और इसमें कोई जातिका अन्तर नहीं है। परका स्वागत करनेसे ही परका सयोग होता है। परके सयोगसे ही उसी तरह अपनी स्वतत्रता छिप जाती है, जैसे ग्रहण पडनेपर राहुके विमानद्वारा चद्रके विमान पर परछाई पड जाती है।

स्वतन्त्रताके आनन्दके भोगके लिये यह आवश्यक है कि हम व्यवहार या पर्याय दृष्टिको गौण कर दें और निश्चय दृष्टिको मुख्य कर दें। जगतमें सर्व भेद प्रभेद व्यवहार दृष्टिमें दीखते हैं। निश्चय दृष्टिमें अभेदरूप सर्व द्रव्य अपने स्वभावमें कल्लोल कर रहे हैं। अचेतन द्रव्योंमें ज्ञान नहीं है तब उनमें कोई विकारका या दोषका सभव नहीं है। ज्ञानमें विकार होना ही दोष है। एक आत्म द्रव्य ही ज्ञानवान है, इसमें पुद्गल कर्मका सयोग विकारका कारण है।

जब पुद्गल सयोगसे रहित सर्व आत्माओंको देखा जाता है तब उन सबमें निर्विकारता, स्वभाव-सपन्नता दिखलाई पडती है। सर्व ही एक समान शुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह सबको शुद्ध देखकर रागद्वेषका मैल हटा देना चाहिये। फिर आपको ही वैसा शुद्ध देखना चाहिये। यही दर्शन सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है व सम्यक्चारित्र है। यही स्वतन्त्रताका वास है। स्वतन्त्रताका अनुभव ही स्वानुभव है, समाधि है। यही शातिसागरमें स्नान है, यही नन्दनवनकी सैर है, यही सुमेरु पर्वतपर आरोहण है, यही सिद्धालयका निवास है, यही त्रिगुप्तमई पर्वतकी गुफामें विश्राम है, यही स्वानुभूतिमई गगामें स्नान है, यही निर्विकार निराकुल सुख शय्यापर शयन है, यही आत्मामें ज्ञान परिणतिका व्यापार है, यही परम शात आनदमई रसका पान है, यही कर्म-शत्रुओंके प्रवेशके अयोग्य निरास्रव भावरूपी दुर्गमें निवास है, यही शिवसुन्दरीसे वरनेके लिये मगलमय रत्नत्रय स्वरूप विमानका आरोहण है। यही निरजन आत्मीक उपवनका निवास है। यही भवसागरसे पार होनेके लिये आत्म-समाधिमई महान यानपर आरूढ होकर मोक्षद्वीपमें

प्रयाण है, यही शिवतियाके आसक्त उन्मत्त मानवका शिवतियाके मोहमें पागल हो, शिवतियाके पास गमन है, यही स्वतंत्रताका मार्ग है व यही स्वतन्त्र पद है।

४६–सुविचारसे स्वतन्त्रता।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकथाओंसे मुह मोडकर इस सुकथामें उपयोगको लगाए है कि मैं क्या हू, मेरा स्वभाव क्या है, मेरे भीतर क्रोधादि कषाय क्यों हैं। मेरे साथ बाहरी पदार्थोंका सबन्ध क्यों है। क्यों शरीरका जन्म व मरण होता है। क्यों प्राणीको इच्छानुसार सुखकी प्राप्ति नहीं होती है? इन प्रश्नोंका विचार करते हुए बुद्धि कहती है कि हे आत्मन्! तूने जडके साथ गाढ प्रीति कर रखी है, उसीने तुझे जड मुख बना दिया है कि रातदिन शरीरके सुखमें मग्न है। शरीरके भीतर जो आत्माराम है उसके हितकी ओर ध्यान ही नहीं है। क्षणिक सुखको सुख मान लिया है। पर द्रव्योंपर मोहित हो रहा है। हे आत्मन्! यदि तू अपना ही सच्चा सुख अनुभव करना चाहता है तो अपने स्वभावको पहचान और पुद्गलसे मोह करना त्याग। परकी पराधीनताने ही तुझे दुःखी बना दिया है। यदि तू भावमात्रसे, श्रद्धाभावसे पुद्गलका नाता तोड डाले और अपने आपको सम्हाले तो शीघ्र ही तेरी पराधीनता छूट जावे–तू स्वाधीन होजावे।

कुमगति महा बाधक है, कुमगतिसे उच्च प्राणी नीच होजाता है। कहां तू परमेश्वर, परमात्मा, निराकार ज्ञ त्रिलोकज्ञ, परमवीतरागी, निर्विकारी, परमानन्दी, अमूर्तिक, अनन्तवीर्यवान, शिववासवासी

ससारसे विरागी और वैरागी और कहा यह तेरी दीनहीन अवस्था ? निगोदवासी रहकर लब्ध्य पर्याप्त दशामें एक श्वासमें अठारह वार तून जन्म मरण किया है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पतिमें जन्म धारकर शक्तिकी निर्बलतासे व अज्ञानसे बहुत कष्ट भोगा है। लट, पिपीलिका, भ्रमर आदिमें जन्म लेकर बहुत असह्य दुख पाया है। पचेंद्रिय पशु पक्षी, मत्स्य होकर तीव्र वेदनाए भोगी है। मानव होकर जन्म मरण रोग शोकादिका महान कष्ट पाया है। तृष्णाकी दाहमें जलकर जन्म गवाया है। देवगतिमें कदाचित् प्राप्त हुआ तो इद्रिय भोगोंमे लिप्त हो कभी अपने आपको पहचाना नहीं। नारकियोंका दुख सहने व दुख दानमें ही समय नहीं मिलता है जो कुछ आत्महितमें चित्त लगावे। परकी संगतिमें चारों गतियोंमें वार वार जन्म लेकर सकट पाए है। हे आत्मन्! अब तो आपको आप जान, परको पर जान। अपनी शुद्ध सम्पत्तिको सम्हाल, जो अनुपम परम मगलकारी है।

स्वस्वरूपका भोग ही स्वतत्रताका भोग है। अब तू अपने आपकी महिमाका गुण गानकर अपने आपके वारवार दर्शन कर, अपने स्वरूपका ज्ञानकर, उसी स्वरूपमें रहनेका यत्न कर। सर्व व्यवहारको हेय जानकर छोड दे। शुभ व अशुभ दोनों ही व्यवहार तेरे स्वाभाविक शुद्ध व्यवहारसे विपरीत है।

मन वचन कायके प्रपचसे भावको जुदा करके केवल आत्मीक भावोंसे सन्मुख होकर अपनेसे अपनको देख, तब तू एक अद्भुत रूपको देखेगा व एक अद्भुतरसको चाखेगा, अद्भुत सागरमें कल्लोल

करेगा, परमानन्दका भोग पावेगा, कर्म-मल हटा देगा । परमात्माके शुद्धासनपर विराजमान हो जावेगा । जगमें रहते हुए भी परमात्मा-पदका भोग भोगेगा । सर्व प्रकारसे सुख शांतिका आदर्श होजायगा । सर्व पर छूट जायगा, स्वतन्त्रता तेरमें आ जायगी ।

४७-ज्ञानामृतका पान ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालसे निवृत्त होकर यह विचारता है कि स्वतन्त्रताका लाभ कैसे हो। अनादिकालसे जिसके बिना पराधीन होकर इस जीवने महान कष्ट भोगे हैं वह अपूर्व शक्ति कैसे प्राप्त हो। जीवका वास्तविक प्राण स्वतन्त्रता है, स्वतन्त्रतासे अपने सर्व गुणोंको स्वाधीन होकर भोग सकता है । परतन्त्रताकी जंजीरें शक्तिको व्यक्त नहीं होने देती हैं । यह आत्मा स्वभावसे नित्य आनन्दमई व परम वीतराग है । परन्तु कर्मबंधकी परतन्त्रतासे सदा आकुलित व अज्ञान हो रहा है । मूल स्वभाव विपरीत परिणमन कर रहा है । आप तो परम शुद्ध परमात्मा बन रहा है । परन्तु अपनेको दीनहीन, रागी द्वेषी मान रहा है । अपने मूल असल स्वरूपको भूल रहा है । इस भूलसे ही कर्मके जालोंमें घिरा हुआ है । कर्मोंके उदयसे महान कष्टोंको पाता है ।

जो कोई आत्महितैषी है उसको इस मानव जन्मको सफल करनेके लिये स्वतन्त्रताकी पहचान सर्व प्रकार करना चाहिये । मोह ममत्व मननसे, वारवार अभ्याससे जिनको शुद्धात्मा ही मानना चाहिये । जगतके प्रपंच जालको बाधक समझकर उससे वैराग्यभाव लाना चाहिये। जलमें कमलके समान इस भव समुद्रमें रहना चाहिये । व्यवहारका सर्व

झझट मन वचन कायकी तरफ पटक देना चाहिये। जब मन वचन काय मैं नहीं तब सर्व इनका कर्तव्य भी मैं नहीं। उनकी क्रियासे होनेवाला बंध भी मैं नहीं, उन कर्मोंका उदय व फल भी मैं नहीं। कर्मके फलका दृश्य जो यह चार गतिरूप जगतका नाटक है सो भी मैं नहीं। इस नाटकका कर्ता मैं नहीं, भोक्ता मैं नहीं, मैं केवल ज्ञाताद्रष्टा हूं। निश्चयसे एक तटस्थ हूं, निराला हूं।

अब मैं अपने वीतराग विज्ञानमय स्वभावमें परिणमन करता हूं। वहीं विश्राम करता हूं। वहीं तृप्ति मानता हूं। अनादिकालसे विषय भोगोंकी तरफ रत रहा। कभी भी तृप्ति नहीं पाई। अब इस असार इन्द्रिय विषयोंसे नाता तोड़ता हूं। अतीन्द्रिय आनंदका सतत प्रवाह जिस स्रोतसे बहता है, उस आनन्दसागर आत्माका ही प्रेमी बन गया हूं। उसीका रसिक होगया हूं। अपने स्वतंत्र स्वभावकी ठीकर पहचान होगई है। अब कभी भी भूलने पड़नेका नहीं हूं। अब कभी मोहकी मदिराको नहीं पीऊंगा। चेतनसे अचेत नहीं हूंगा। ज्ञानामृतका पान करूँगा व परम तृप्तिका भजूंगा।

मैंने स्वतंत्रताका पता पालिया है। आपकी ही भूमिकामें उसका निवास है। वहीं उसे अपना आसन जमाकर तिष्ठता है। वहीं निरंतर वास करता है। वहांसे कभी अन्यत्र नहीं जाता है। अब मैं शीघ्र ही परतंत्रताके बंधन काट दूंगा और सदाके लिये परम स्वतंत्र होजाऊंगा।

४८—दीपावलि व ज्ञानज्योति।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके विचारोंको बन्द करके आज

श्री महावीर भगवानका स्वरूप विचार कर रहा है। भगवानकी आत्मामें पूर्ण स्वतंत्रता है। परतंत्रताका कारण कोई कर्ममैलका संयोग नहीं है। अनन्तगुण व स्वभावधारी यह आत्मा है। वे पूर्णपने विकसित होगए हैं। अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतसुख, परम वीतरागता, परम सम्यक्त सब गुण कमलके समान प्रफुल्लित होगए हैं। उनको पूर्ण स्वराज्य प्राप्त है। क्या मैं ऐसा नहीं हो सकता हूं। श्री महावीर भगवानका उपदेश है कि जो अपनी आत्म-स्वतंत्रताका विश्वास लाकर उसीका ध्यान करता है वह स्वतंत्र होजाता है। मैं महावीर भगवानके समान शुद्ध स्वभावोंका धारी हूं, अभेद हूं, अजर अमर हूं, ज्ञातादृष्टा, वीतराग, परमानन्दमई हूं। ऐसा श्रद्धान, ऐसा ज्ञान, ऐसा चारित्र वह अभेद निश्चय रत्नत्रयमई स्वानुभवरूप मोक्षमार्ग है। इसके सिवाय और कोई स्वतंत्र होनेका मार्ग नहीं है। परसे असहयोग स्वसे सहयोग स्वतंत्र उपाय है। संसारकी किसी वासनासे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। मैं सबसे अलिप्त हूं। यही भावना अविकारी है। इसी मार्गसे ही स्वतंत्रताका लाभ होता है।

मैं इसीलिये इस ज्ञान ज्योतिको अपने भीतर जगाता हूं, दीपावलीका उत्सव करता हूं। जिसने दीपावली अंतरंगमें मनाई वही केवलज्ञानी हो गया।

मेरा नाता किसी भी पर पदार्थसे नहीं है इस एकत्वको ध्याना ही हितकारी है। वास्तवमें स्वतंत्रता जैसे परमानन्दमई है वैसे स्वतंत्रका मार्ग आनन्दमई है। आनन्दसे ही आनन्दकी वृद्धि होती है।

श्री महावीर भगवानको वारवार नमस्कार करता हूं, जिनके

प्रतापसे स्वतन्त्रता पानेका मार्ग प्राप्त होगया है। जो बन्धनसे छुडाये उसके समान उपकारी और कौन है?

मै श्री महावीर भगवानके आश्रयसे उनके गुणोंके मननरूप श्रेणीसे अपने ही शात आत्माके भीतर प्रवेश करता हू और निरतर आत्मानदका सार पाता हुआ कर्मकलक रहित स्वाधीन होनेके लिये आगे बढता चला जाता हू।

४९–विषय लालसा।

एक ज्ञानी आत्मा सूक्ष्मदृष्टिसे विचारता है कि आत्मा है तो तीन जगतका प्रभु निरञ्जन निर्विकार, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, परन्तु ससारमे कर्मोकी बडी भारी पराधीनता है जिससे इसकी स्वाधीन शक्तियां सब प्रच्छन्न होरही है। उन कर्मोंमें सर्वमें प्रबल वैरी मिथ्यात्व कर्म है, इसने बुद्धिपर ऐसा अन्धेरा छा रक्खा है, जिससे यह अपनेको बिलकुल भूल गया है। कर्मोंके उदयसे जो आत्माकी अतरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्था होरही है उसे ही यह मिथ्यादृष्टी जीव अपनी मान रहा है। मै क्रोधी, मै मानी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं राजा, मैं साहूकार, मैं किसान, मै जमींदार, मै सेवक, मैं बढई, मैं सुनार, मैं धोबी, मैं लुहार, मै गोरा, मैं सावला, मैं बालक, मैं युवान, मैं वृद्ध, मैं धनी, मैं सुन्दर, मै बलवान, मैं यति, मैं श्रावक, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्री, मैं वैश्य, मैं शूद्र, मेरा घर, मेरा वस्त्र, मेरा आभूषण, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी माता, मेरा पिता, मेरा राज्य, मेरा ग्राम, मेरी भूमि, मेरा कुटुम्ब, मेरा धन, इत्यादि नाना

जो वस्तु जैसी न हो उसको वैसी मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। आत्मा स्वभावसे शुद्ध परमात्मा है। उसको जडसे उत्पन्न मानना व ब्रह्मका अंश मानना व अशुद्ध मानना। परमात्मा निर्विकार ज्ञाता दृष्टा है, कृतकृत्य है, उसको जगतका कर्ता शासक फलदाता मानना। धर्म अहिंसामय है तौभी हिंसा करनेमें धर्म मानना, देव वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा होनेपर भी रागी द्वेषी व अल्पज्ञको देव मानना गुरु परिग्रह व आरम्भ रहित, आत्मज्ञानी, परम शांत व तपस्वी होते हैं तौ भी परिग्रही, आरंभी, विषयासक्तको गुरु मानना। मोक्षका साधक वीतरागमय एक शुद्ध उपयोग है, जो स्वात्मानुभव रूप है, ऐसा होने पर भी पूजा, पाठ, जप, तप, दान, शुभ आचारको, शुभ उपयोगको मोक्षका साधन मान लेना।

आत्मा स्वभावसे रागद्वेषका कर्ता नहीं व कर्मबंधका कर्ता नहीं व कर्मफलका भोक्ता नहीं तौ भी आत्माको रागद्वेषका कर्ता व पुण्य पाप कर्मका बन्धन व फल भोक्ता मानना। इत्यादि अनेक प्रकारका यह विपरीत मिथ्यात्व है। मैं सम्यक्त्वकी भावना करके कि मैं सिद्ध सम शुद्ध हूं, परमानंदी हूं, इस मिथ्यात्वका विनाश करके स्वात्मानुभव पर पहुंच रहा हूं।

५२–संशय मिथ्यात्व ।

स्वतंत्रताप्रिय महात्मा स्वतंत्रबाधक शत्रुओंका विचार कर रहा है। पांच प्रकार मिथ्यात्वमें संशय मिथ्यात्व भी प्रबल शत्रु है। जो किसी तत्त्वका निर्णय नहीं कर पाते हैं व डावाडोल चित्त रहते हुए

संशयके हिंडोलेमें हिलते हुए किसी भी तत्त्वपर अपनी श्रद्धाको नहीं जमा पाते हुए जन्म वृथा खो देते हैं।

आत्मा है या नहीं, परलोक है या नहीं, पाप पुण्य है या नहीं, कर्मबंध होता है या नहीं, सर्व ही नास्तिक हैं या आस्तिक हैं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा जगतका कर्ता है या नहीं, परमात्मा फलदाता है या नहीं, आत्मा स्वभावसे परमात्मा रूप है या नहीं, आत्मा अमूर्तीक है या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार धातुओंसे उत्पन्न मूर्तीक है। चार धातु स्वतन्त्र हैं या उनका मूल परमाणु है, जगतके पदार्थ नित्य हैं या अनित्य हैं, जगत अनादि है या सादि है, निर्विकल्प समाधिसे मोक्ष होता है या शुभ कार्योंसे भी हो जाता है, भक्तिमात्र तारिणी है या नहीं मूर्ति पूजा हितकारी है या व्यर्थ है, गुरुसेवा व शास्त्रसेवा कर्तव्य है या कोरा समयका दुरुपयोग है, धर्म है या केवल बनावटी ढोंग है, ब्रह्ममय जगत है या नहीं, द्रव्य एक है या अनेक है, भावमात्र जगत है या दु:खरूप जगत है।

ज्ञान ज्ञेयसे पृथक् है या एक है, सच्चा अतीन्द्रिय सुख कुछ है या नहीं, इत्यादि धार्मिक तत्त्वोंमें निर्णयको न पाकर संशय मिथ्यात्वी केवलज्ञानके विकल्पोंमें ही उलझा हुआ जीवनको खो देता है। सच्चे सुखामृतके समुद्रको अपने आत्माके भीतर रखता हुआ भी वह बिचारा कभी उसमें स्नान नहीं कर पाता है, न उसके एक बूंदका स्वाद पाता है। स्वतन्त्रताप्रिय इस मिथ्यात्वको सम्यक्तके प्रभावसे हटाकर निजात्माको परमात्मा व आनंदसागर समझकर उसीकी सेवामें व उसीके अनुभवमें गुप्त होकर परम सुख भोगता है।

५३–अज्ञान मिथ्यात्व ।

स्वतन्त्रताखोजी स्वतन्त्रताबाधक शत्रुओंकी खोज करके उनको अपने क्षेत्रसे बाहर करनेका प्रयत्न कर रहा है। मिथ्यात्वके समान आत्माका कोई प्रबल वैरी नहीं है। अज्ञान मिथ्यात्वने तो सारे संसारी जीवोंको बावला बना डाला है। एकेन्द्रिय प्राणीसे लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक सब प्राणी अज्ञानसे पर्यायबुद्धि हो रहे हैं। शरीरको व शरीरकी स्थितिको ही आप जानरहे हैं। सैनी पंचेन्द्रियोंमें भी पशु, पक्षी, मत्स्यादि व मानवादि जिनको किसी धर्मका भी उपदेशका अवसर नहीं मिला है वे सब अज्ञानसे पर्यायबुद्धि होरहे हैं। जिनको धर्मका समागम है वे अज्ञान पूर्ण धर्मके उपदेशको सुनकर भी आत्माकी सच्ची प्रतीतिसे विमुख हैं। कतिपय मानवोंको सत्य धर्मके जानने व श्रद्धान करनेका अवसर भी है। परन्तु वे जाननेका उद्यम नहीं करते हैं। देखादेखी कुलकी आम्नायसे कुछ धर्मके बाहरी नियम पालते हैं। वे भी मिथ्यात्वसे ग्रसित हैं।

कुछोंका विश्वास है कि जो जानेगा उसे पाप पुण्य लगेगा। हम न जानेंगे तो हम कुछ नहीं लगेगा। ये सब अज्ञान मिथ्यात्वसे दूषित प्राणी अपने भीतर सच्चा तत्व रखते हुए भी अर शुद्ध सिद्ध परमात्मा परमानंदमय होते हुए भी अपनेको दीन हीन शरीररूप मानकर विषय कषायोंमें लीन हैं। ज्ञानी जीव इस अज्ञान मिथ्यात्वको दूर करके सद्गुरु व सत्शास्त्रके द्वारा अभ्यास करके भेदविज्ञानको प्राप्त करता है। तब निज आत्माको रागादिसे भिन्न पाकर व स्वयं परमात्मा है ऐसा अनुभव करके अपूर्व आनन्दका लाभ करता है।

५४-विनय मिथ्यात्व।

ज्ञानी स्वतन्त्रताप्रिय परतन्त्रताकारक कारणको खोजकर मिटा रहा है। सबसे प्रबल शत्रु मिथ्यात्व है। विनय मिथ्यात्व भी बड़ा ही भ्रामक है। भोला जीव यह जानकर कि धर्म कोई भी हो सब ही पापनाशक हैं व कुछ न कुछ भला करनेवाले हैं ऐसा समझकर बिल्कुल विचार नहीं करता है कि मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है। रागद्वेष क्यों हानिकारक है। सच्चा सुख क्या है। मुक्ति क्या है। इन प्रश्नोंपर विना विचार किये हुए केवल यह भय रखता है कि मेरा बुरा न हो, मुझे गरीबी न सताये, कुटुम्बका क्षय न हो, रोग शोक न हो, सब फले फूलें। सासारिक सुखके लोभसे व दुःखोंसे भयभीत होकर धर्म मात्रको अच्छा जानकर सब धर्मोंकी भक्ति व विनय करता है। सर्व प्रकारके देवोंको, गुरुओंको, धर्मोंको, मंदिरोंको, मठको, पूजापाठको मानता है, कुछ तो भला होगा, ऐसा भाव रखता है। हम तो पापी हैं, हमसे तो सब ही धर्म अच्छे हैं। इस भोलेपनसे सबकी विनय करता हुआ तत्वको कभी नहीं पाता है। जैसे कोई रत्नके नामसे कांचकी, कंकड़की, पाषाणकी सबकी ही प्रतिष्ठा करे तो उसे रत्नका लाभ न होगा, रत्न परीक्षकको ही होगा। विनय मिथ्यात्वकी मूढ़ताको मनसे निकालकर ज्ञानी जीव विवेकी होजाता है और भेदविज्ञानसे अपने आत्माको निश्चयनयके द्वारा परमात्मा व परम शुद्ध परमानन्द मात्र समझ कर उसीकी ही ताफ लौ लगाता है। स्वानुभवको पाकर परम सुखी होजाता है।

५५–अनन्तानुबन्धी क्रोध ।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताका प्रेमी होकर परतन्त्रताकारक कारणोंकी खोज करके उनको मिटानेका उद्यम कर रहा है। आत्माका परम वैरी अनन्तानुबन्धी क्रोध है। क्रोध अग्निके समान ज्ञान, शांति, सुखादि गुणोंका जलानेवाला है। अनन्तकाल तक जिसकी वासना चली जावे, व मासमे ऊपर दीर्घकाल तक जिसकी वासना रहे, उसे ही अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जिस किसीका द्वेषभाव होजावे वह भव भवमें साथ रहे, मिटे नहीं। जैसे कमठका द्वेषभाव पार्श्वनाथ स्वामीके जीव मरुभूतिके साथ हा पाया जो कई भवोंतक, सागरों तक चला। अनन्तानुबधी कषायमें कृष्ण, नील, कपोत तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्या रूप भाव रह सक्ते हैं। अतएव ऐसे क्रोधका कभी मद, कभी तीव्र झलकाव होता है। प्राणी पर्यायबुद्धि होता है। शरीरको सुख मानता है, पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें जो बाधक होते हैं उनसे द्वेष बांध लेता है, उनके नाशका उपाय सोचता है। भीतर कपायकी आग जला करती है। कभी ऊपरसे शांति भी प्रगट होती है। इस कपायके मलसे कलुषित आत्माके भीतर शुद्धात्माका दर्शन होना अतिशय कठिन है, असभव है। उसके भावोंमें ससार उपादेय झलकता है। ससारी प्राणियोंसे ही रागद्वेष रहता है। बहिरात्मबुद्धिका ही चमत्कार रहता है। मिथ्यात्वके लिये यह कषाय परम सहकारी है।

इस अनन्तानुबन्धी क्रोध कषायके वशीभूत होकर यह प्राणी कभी भी सम्यक्त्वका लाभ नहीं कर पाता है। अतएव ज्ञानका खोजी श्री गुरुकी शरण ग्रहण करता है। उपदेश रूपी जलके छिड़कावसे

भीतरी क्रोधकी आगको शांत करनेका उद्यम करता है। पुन पुन भेद विज्ञानके अभ्याससे कि मैं शुद्धात्मा हू, मै कषायवान नहीं, कषाय भाव कषाय कर्मका भेद है। मैं सदा वीतरागी हू। यह ज्ञानी सम्यक्तको पाकर परम सुखी होजाता है। आत्मीक बागमें रमण करता है।

५६–अनतानुबंधी मान।

एक ज्ञानी स्वतत्रता खोजी परतत्रताकारक शत्रुओंकी तलाश कर रहा है। अनतानुबधी मान भी बडा ही अधकार फैलानेवाला है। इसके आक्रमणसे प्राणी पर पदार्थमें अधा होजाता है। पर वस्तुका स्वामीपना मानकर घोर अधकार करता है। मै उत्तम व श्रेष्ठ कुलधारी हू, मेरी माताकी पक्ष जाति शिरोमणि है। मैं बडा धनिक हू, मैं बडा रूपवान हू, मैं बडा बलवान हू, मै बडा अधिकार प्राप्त हू, मैं बडा ज्ञानी हू, मैं बडा तपस्वी हू, इसतरह अभिमान करके अपनसे औरोंको तुच्छ देखकर उनका तिरस्कार करता है। जो पर्याय प्राप्त है उसमें आपा मानके मैं राजा, मैं बडा, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं परोपकारी, मैं दानी मैं तपस्वी, इस अहकारमें व मेरा यह चेतन व अचेतन परिग्रह है, इस ममकारमें फसा रहता है। उसकी बुद्धिके ऊपर इस अभिमानका सस्कार दृढ होजाता है। स्वार्थ साधनाके लिये अन्याय करता है। अन्याय करते हुए मैं सफल होऊगा ऐसा घोर मान करता है। जैसे रावणने रामकी स्त्री सीताको हरण करके रामचद्र द्वारा समझाए जाने पर भी मरते समय तक मान न त्यागा,

अनन्तानुबंधी मान भवभवमें अहंकार ममकार भाव जमाए रहता है, मिथ्या मान्यताके बढानेमें परम सहकारी है।

आप आत्माराम परम शुद्ध निर्विकार अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यका धनी परम कृतकृत्य व परम वीतराग है, तौभी अपनेको औरका और मान न कराने यह मान घोर भ्रम फैला रहा है। ज्ञानी भेद ज्ञानके द्वारा इस कषायके स्वरूपको विपरीत समझकर इसके आक्रमणसे बचता है और अपने स्वरूपको यथार्थ समझकर निरन्तर तिस यथार्थ स्वरूपकी भावना करता हुआ सम्यक्तको पाकर शत्रुपर विजय प्राप्त करके परम सन्तोषी होजाता है।

५७-अनन्तानुबंधी माया।

ज्ञानी स्वतन्त्रता खोजी सर्व परतन्त्रकारकोंको पहचान कर अपने पाससे दूर करना चाहता है। अनन्तानुबन्धी माया भी बड़ी भारी पिशाचिनी है। यह मोहित करके परको ठगनेकी बुद्धि उत्पन्न कर देती है। मिथ्यादृष्टि जीव विषयोंका अति लोभी होता है। तब उनकी प्राप्ति व रक्षाके लिये नानाप्रकारके उपाय करता है। कपटके षडयन्त्र रचता है, परका सर्वनाश हो जानेकी शंका नहीं रखता है। स्वार्थ-साधन हेतु परका कपटसे मित्र बनजाता है, फिर अवसर पाकर मित्रको ठग लेता है। धन्यकुमार सेठके सात भाइयोंने ईर्षा करके कपटसे मुनि-दर्शनके बहाने वनमें ले जाकर धन्यकुमारको एक कुण्डमें गिराकर मारनेका प्रयत्न किया।

रावणने कपटसे सीता पतिव्रता राम पत्नीको हरा। ये दोनों अनन्तानुबंधी मायाके दृष्टांत हैं। परकी हानि व चित्त शोकका

निर्दयतासे विना विचार किये हुए ही मायाचारी घोर अन्याय करलेता है। तीव्र कषाय भावोंमें घोर पाप कर्मका आस्रव होजाता है। बहिरात्म बुद्धिको धिक्कार हो जिसके वश होकर एक शिकारी जगलमें दाना खिलानेके लोभसे मृगोंको पकड लेता है। उनकी स्वतन्त्रता हर लेता है। ससार भ्रमणकारी इस मायाचारका बहिष्कार करनेके लिये ज्ञानी इस जगतकी अवस्थाका अशास्वत विचारता है। मरणके आते ही सर्व सामग्री व सर्व प्रबन्ध छूट जाता है। अतएव तुच्छ कालीन जीवनके हेतु नाशवत परिग्रहके हेतु मायाचार करके स्वार्थ साधना बिल्कुल मूर्खता है ऐसा विचार कर ज्ञानी क्षणस्थायी प्रपचजालसे विरक्त होजाता है और द्रव्योंका स्वभाव विचरता है तब अपने आत्माको परमात्माके समान परम ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका धनी पाता है। परम सन्तोष, शान्ति व सुखका लाभ अपने ही भीतर विद्यमें है ऐसा निश्चय कर लेता है। अनन्तानुबन्धी मायाका दमन करके स्वस्थ हो अपने शुद्ध स्वभावमें श्रद्धान ज्ञानके साथ रमण करने लगता है तब जो आनन्द पाता है वह विषयसुखके सामने अमृततुल्य है। विषयसुख विष तुल्य है। आपमें रमण करके सम्यक्ती अन्तरात्मा बना रहता है।

५८–अनतानुबधी लोभ।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताका प्रेमी होकर सर्व परतन्त्रताके कारणोंको विचार कर उनके त्यागका उपाय करता है। अनतानुबधी लोभ भी बड़ा भारी शत्रु है। इसके वशमें होकर यह प्राणी इतना अधिक तृष्णावान होजाता है कि तीन लोककी सम्पत्ति भी यदि प्राप्त हो

तौभी उसकी तृष्णाकी ज्वाला शमन नहीं हो सक्ती । पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका तीव्र लोभी होकर या अपनी प्रसिद्धि व मान पानेका तीव्र अनुरागी होकर वह स्वार्थ साधनमें बिलकुल अंधा होजाता है। कृष्ण, नील, लेश्याके परिणामोंमें प्रसिन्न होकर परको भारी कष्ट देकर सर्वथा नाश करके भी धन व राज्य इच्छित वस्तु प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। दयाका भाव उसके स्वार्थके सामने निर्दयतामें बदल जाता है। परकी हिंसा करके, असत्य बोलकर, परका द्रव्य अपहरण करके पर महिलाका समागम प्राप्त करके अपनेको बड़ा कृतार्थ व पुरुषार्थी मान लेता है। अन्यायपूर्ण आरम्भ व परिग्रह के संचयमें रातदिन आकुल-व्याकुल रहता है। तीव्र लोभकी वासनासे वासित रहकर निरन्तर ही विषयभोगोंकी वाञ्छा किया करता है। तृष्णाकी दाहमें जला करता है। ऐसा मोही जीव कभी इस बातका विचार नहीं करता है कि मैं कौन हूं, जन्म व मरण क्या वस्तु है। यह जीवन अनित्य है। एक दिन सर्व सम्पदाका त्याग कर देना पड़ेगा। जीवको अकेले पाप-पुण्यको लिये हुए जाना पड़ेगा। वह लोभी मदिरापानी उन्मत्त पुरुषकी तरह विषयोंके भोगमें रत रहता है। यदि कभी धर्मके आचरण भी पालता है तो यही अन्तरंग भावना होती है कि इसके फलसे अधिकाधिक विषयसुख प्राप्त करूं। यह अनन्तानुबंधी लोभ मिथ्यात्वको वकी दृढ़ करता है। अज्ञानका अंधेरा छा देता है। आप स्वयं परमात्मा है, परमानंदमई है, परम वीतराग है, पूर्ण ज्ञानदर्शनमई है, परम वीर्यशाली है, अविनाशी है अमूर्तीक है। ऐसा होकर भी आपको नहीं पहचानता है। पर्याय बुद्धिका अहंकार नहीं छोड़ता है।

ज्ञानी जीव इस लोभको आत्माका महान शत्रु समझता है, इसे कषाय कर्मके उदयका मैल जानता है। इससे परम उदासीन होजाता है। ज्ञानका दीपक जलाता है। भीतर अपने आत्माको परमात्मातुल्य जानकर भेदविज्ञान प्राप्त करता है और इसी शस्त्रसे बारबार भावना करके अनंतानुबंधी लोभको जीतकर अपने अखण्ड ज्ञानमई स्वरूपमें थिरता पाकर व स्वात्माका अनुभव करके परम तृप्त व निराकुल हो जाता है।

५९–स्पर्शनेन्द्रिय अविरति।

ज्ञानी जीव परतंत्रताके कारणोंकी खोज करता है तो पांचों इन्द्रियोंकी आसक्तताको भी आत्माकी स्वतंत्रतामें बाधक पाता है। स्पर्शनेन्द्रियका सामान्य विषय आठ प्रकारका है–रमणीक चिकने या रूखी वस्तुके स्पर्श करनेकी तृष्णा, या गर्म या ठण्डी वस्तुके स्पर्शकी कामना, या नरम व कठोर वस्तु या हल्की व भारी वस्तु छूनेकी कामना होती है। सामान्य आठ प्रकारके स्पर्शके कारण कोई चिकने, गद्दे, लिहाफ, बिछौने चाहता है। कोई कठोर शय्या पर ही स्पर्श करनेमें राजी है, कोई ठण्डा कोई गरम पानीसे स्नान करनेमें या पीनेमें खुश है, कोई गर्म रोटी कोई ठण्डी रोटीमें राजी होता है, कोई कोमल फूलोंकी मालाएं पहनता है, कोई कठोर वस्तुओंसे व्यायाम करता है, कोई हल्के कपड़े व वर्तन, कोई भारी वस्तुओंके स्पर्शमें राजी रहता है। इस सामान्य आठ प्रकारके विषयोंमें तृष्णा बहुत भयङ्कर नहीं है, जितनी भयंकर तृष्णा कामवासनासे पीड़ित होकर सुंदर स्त्री या [illegible] होती है। मनोज्ञ कामके विषय-

रूप स्त्री या पुरुषके साथ घूमने, चलने, उसके अङ्ग परस्पर स्पर्श करनेकी अति आसक्ति होती है। इस कामभावसे पीड़ित स्पर्शनेन्द्रियकी तृष्णासे कितनेक मानव ऐसे विषयान्ध होजाते हैं कि विवाहित या अविवाहित स्त्रीका सद्भाव भूल जाते हैं। न्याय व अन्यायके मार्गको और दुर्लक्ष्य होजाता है। इस कामासक्त रूप स्पर्श भावके कारण न्याय पथपर चलनेवाले भी स्वस्त्रीके साथ अधिक काम सेवन करके मन व शरीरमें निर्बल होजाते हैं। अन्याय पथगामी तो अधिक पतित होकर शरीरको रोगी व वीर्यहीन बना लेते हैं।

स्पर्शेन्द्रियके कामभावसे युक्त विषयकी चाह बहुत ही भयंकर है। कितने ही न्यायपथगामी किसीपर आसक्त होकर उसको न पाकर पागलके समान होजाते हैं। कामस्पर्शकी तृष्णा मानवको ऐसा अन्धा बना देती है कि उसको अपने आत्मीक सुखकी स्मृति भी नहीं आती है। इस अविरत भावमें प्राय सर्व ही प्राणी एकेन्द्रियसे पचेंद्रिय तक पशु, पक्षी, मत्स्य, मानव, देव, नारकी सब फसे हैं। मैथुन संज्ञाके विकारसे विकल हैं। यह कामाशक्ति तीव्र कर्मका बंध कराकर भवभवमें दीनहीन पर्यायमें पतन कर देती हैं। आत्मीक आनन्दके स्वाद लेनेके अवसरसे प्राणी अति दूर होता जाता है। ज्ञानी जीव वस्तु स्वरूप विचारकर कामभावकी इच्छाको घातक समझता है। किसी भी स्पर्शकी चाहको भी पतनकारी जानता है। इससे सर्व प्रकारकी स्पर्शनेन्द्रियजनित तृष्णाके शमनको ही हितकारी जानता है। आप आत्माको परमात्माके समान परम सुखपूर्ण ज्ञान व वीर्यमई व परम निराकुल और वीतराग समझ लेता है। आत्मीक

सुखको ग्रहण योग्य मानके उसका रुचिवान होजाता है। इस हेय उपादेयरूप भेद ज्ञानमई भावनाके प्रभावसे स्पर्शनेन्द्रिय अविरत भावको विजय करके स्वात्मरस सन्तोषी होजाता है। और केवल मात्र अपनी स्वात्मानुभूति क्रियाका ही स्पर्श करता है उससे जो अपूर्व सुखशांति पाता है वह केवल अनुभवगम्य ही है, मन वचनसे अगोचर है।

६०–रसनाइन्द्रिय अविरति।

स्वतन्त्रता स्थापनका दृढ संकल्प करनेवाला एक बुद्धिमान मानव परतन्त्रताके कारणोंको विचारकर उनके दूर करनेका दृढ पुरुषार्थ कर रहा है। पुरुषार्थ करना ही पुरुषका गौरव है। पुरुषार्थ अवश्यमेव स्वतन्त्रताके दृढ रुचिवानको स्वतंत्र कर देता है। मिथ्यादर्शन व अनन्तानुबंधी कषायके समान बारह प्रकार अविरत भाव भी बहा ही बाधक है। स्पर्शनेन्द्रिय अविरत भावके समान रसनाइन्द्रिय अविरत भाव भी प्राणीको महान जिह्वा–लम्पटी बना देता है। यह प्राणी जिह्वाके स्वादके कारण खट्टे मीठे, चरपरे, तीखे, कसायले आदि नाना स्वादवाले पदार्थोंकी दृढ कामना करता है। अपना जीवन स्वादिष्ट पदार्थोंके सेवनके लिये ही है ऐसा समझता है। स्वादकी गृद्धताके कारण भक्ष्य, अभक्ष्य, शुद्ध अशुद्ध, स्वास्थ्यकारक व अस्वास्थ्यकारकका भेदभाव भूल जाता है। रोग होनेकी परवाह नहीं करके जो चाहता है वह स्वच्छंद हो, खाने पीने लगता है। पर प्राण पीडाके तत्वको भूल जाता है। भूरि हिंसा करके, कराके, व हिंसाकी अनुमोदना करके रसनाका विषय पुष्ट करता है।

रसना लम्पटी मानव अधिक धनका लोभी बन जाता है, क्योंकि धन विना इच्छित पदार्थोंका लाभ होना असंभव है तब घोर अन्याय व हिंसा करके अनेक जाल रच करके धन कमाता है, तीव्र लोभके वशीभूत रहता है। खेद है नाना प्रकारकी स्वादिष्ट वस्तुओंका स्वाद लेते हुए ही रसनाइन्द्रियकी तृष्णा शमन नहीं होती है। प्रत्युत जितना२ भोग किया जाता है उतनी २ चाहकी दाह बढ़ जाती है। शरीर निर्बल व वृद्ध होजाने भी व मुखमें काम करनेकी शक्ति न होनेपर भी यह रसनाकी विषयवांछाको छोड़ता नहीं। असमर्थतामें खेद करता है व यह भावना भाता है कि मर करके ऐसी स्थितिमें उत्पन्न हूं जो नाना प्रकारके रसीले भोज्य पदार्थोंका भोग करूं, इस लोभसे प्रेरित हो पूजापाठ जप तप धर्मका साधन भी करने लग जाता है। अतृप्तिकारी रसना इंद्रियकी वांछाकी परम्पराको बढ़ाकर यह अधिक अधिक पराधीन व मोही बनकर संतापित व क्लेशित होता है।

इस रसना इन्द्रियकी कामनाको दुःखवर्द्धक व भयवर्द्धक समझ कर ज्ञानी जीव अपने भीतर विराजित अपने आत्मारामका स्वभाव विचारता है कि यह तो स्वभावसे परम शुद्ध परमात्मा है। इसका स्वभाव आनन्दमय है। इस आनन्दका अमृतमई स्वाद अनुपम है। परम शांत है, तृप्तिकारी है, आत्माको पुष्ट करनेवाला है, निराकुल है, स्वाधीन है, अविनाशी है। इस सुखका बाधक रसना इन्द्रियकी तृष्णा है व विषयभोगका क्षणिक सुख है। अतएव ज्ञानी महात्मा अपने उपयोगको रसना इन्द्रियकी चाहसे दूर करता है। शरीर स्वास्थ्यको आवश्यक पदार्थ मात्र खाता पीता है, संतोषी रहता है और

उपयोगको पांचों इन्द्रिय व मनके विषयोंसे रोककर उसे अपने ही आत्माके स्वभावमें जोड़ता है, वारवार शुद्ध स्वभावकी भावना भाता है। भावना भाते भाते यकायक जब कभी क्षणमात्रके लिये आत्मामें स्थिरता पाता है तब अपने परमानन्दको भोगकर परम तृप्त होजाता है। जैसे शांत सरोवरके निकट चलना फिरना भी शांतिप्रद है, उसमें स्नान व उसका जलपान तो शांतिप्रद है ही, वैसे ही शुद्धात्माकी भावना व चर्चा भी सुखप्रद है। उसमें अवगाहना व स्थिर रहना तो अपूर्व आनन्दका दाता है ही। धन्य है वह महात्मा जो आत्मीक रसका रसिक हो व रसना रससे अनासक्त रह आनन्दका लाभ करके अविरत भावको जीतता है, व अपना जीवन सुखी बनाता है।

६१–घ्राणेन्द्रिय अविरतभाव।

स्वतंत्रता प्रेमी परतंत्रताकारक बाधकोंका पता लगाकर उनसे विरागभाव भजता है। १२ अविराग भावोंमें घ्राणेन्द्रिय अविरतभाव भी है। इस इन्द्रियकी तृष्णासे प्रेरित प्राणी गंधके ग्रहणमें पागल होकर अपने प्राण तक गमा देता है। भ्रमण कमलके भीतर सुगन्ध लेता हुआ बैठा रहता है, संध्या होती है कमल बन्द होजाता है, विना रोक प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। तेंद्रिय पंचेन्द्रिय तक सकल प्राणी इस इन्द्रियके वश हैं।

मानवोंके भीतर इसकी तृष्णा जबतक जागृत होती है तबतक वह मानव अतर फुलेल पुष्पादि नाना सुगन्धित पदार्थोंकी सुगन्ध लेनेमें आसक्त हो जाता है, फूलोंकी मालाएं पहनता है, फूलोंके द्वारा सज्जित उपवनमें कल्लोल करता है।—

सुगन्धकी तृष्णा जितना भी सुगन्धको भोगे बढ़ती ही जाती है। इस विषयकी तीव्रताके आधीन होकर यह मूढ़ प्राणी सवेरे सांझको इसी विषयकी तृष्णाके लिये घण्टों खर्च कर देता है। इसका जीवन इसी सुगन्धकी तृष्णामें ही समाप्त हो जाता है। यह तृष्णातुर ही प्राण छोड़ता है।

हा ! यह मानव जन्म जो अपने सच्चे स्वरूपके पहचाननेके लिये था व जो अपने ही भीतर विराजित अनुपम अतीन्द्रिय स्वाधीन सुखके भोगनेके लिये था वह विनाशीक घ्राणेन्द्रियके लोभमें समाप्त कर दिया जाता है।

ज्ञानी जीव इस अविरत भावको आत्मघातक समझ कर निरोध करता है। घ्राणेन्द्रियका उपयोग स्वास्थ्यवर्द्धक व स्वास्थ्य शोधक पदार्थोंकी परीक्षार्थ ही करता है। इन्द्रियोंकी तृष्णासे अनादिकालसे अब अबतक तृप्ति नहीं हुई तब तृप्ति होना असंभव जानकर इस पर तत्त्वज्ञानके बलसे मोह हटा लेता है, और स्वतन्त्रताकारक रत्नत्रय धर्मका प्रेमी हो जाता है। जिस धर्मसे निरंतर सुख शांति मिले, जिस धर्मसे आत्मा कर्म मलसे पवित्र हो, जिस धर्मसे आत्माके भीतर वीतरागताकी वृद्धि हो वह धर्म ही मानवके लिये परम शरण है।

इस धर्मका वास किसी परपदार्थमें नहीं है जहांसे इसे उठाया जा सके व धनादि देकर क्रय किया जा सके। यह धर्म तो प्रत्येक आत्माका इसी आत्माके भीतर ही है।

आत्माका आत्मारूप ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। आत्माका आत्मारूप स्थिर रहना रागद्वेष मोहकी पवनसे विचलित न होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों ही आत्माके अविनाशी गुण हैं।

जो आपसे ही आपमें आपके ही लिये वास करता है वह रत्नत्रय धर्मको अपनेमें ही पालेता है। परम सुखी व सतोषी हो जाता है। इस धर्मकी शरण ग्रहण करनेसे अपूर्व शातिमय मोही सुवास पाता है। जिस सुवासके भोगनेसे घ्राणेन्द्रिय सुवासका लोभ मिट जाता है।

ज्ञानी जब इसी धर्मके प्रतापसे स्वानुभवको जागृत करता है तब मन, वचन, कायसे अगोचर एक ऐसे स्थान पर पहुच जाता है जिसका न नाम है न वहा लिंग है, न वचन है। केवल एक अद्वितीय परमानन्दमय अमृतका सागर है, जहा वह मत्स्यवत् मगन होकर क्रीडा करता है।

६२–चक्षु इंद्रिय अविरति।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारकी परतंत्रताको विचार कर त्यागना चाहता है। बारह अविरत भावोंमें चक्षु इंद्रिय अविरति भी है। चक्षु इंद्रियसे जगतके स्थूल पदार्थ दीख पड़ते हैं। सुदर, श्वेत, पीत, नील, कृष्णादि विचित्र रंगोंको देख कर अज्ञानी मोह करता है। असुन्दर वर्णवाले पदार्थोंसे द्वेष करता है। वास्तवमें पांचों इंद्रियोंके विषयोंकी तरफ मोह पैदा करनेके लिये चक्षु इंद्रिय बड़ी बलवती है। आखोंसे देख कर स्त्रियोंमें व पुरुषोंमें राग होजाता है, रमणीक पकवानोंको खानेकी चाह होजाती है सुगंधित पुष्पादिको देखकर सूंघनेकी इच्छा होजाती है, सुदर पदार्थोंको देखकर वार वार देखनेकी इच्छा हो जाती है, गाने बजाने व गंधर्वोंको देखकर गाना सुननेकी इच्छा हो जाती है। चाहकी दाह बढ़ानेको चक्षुइंद्रिय प्रबल

मिथ्यात्वकी भूमि होनेसे यह अज्ञानी राग द्वेष मोहकी वासनाको लिये हुए ही पदार्थोंको देखकर निरंतर मनोज्ञ विषयोंकी खोजमें रहता है। वीतराग भावमे यह कभी नहीं देखता। अतएव चक्षु इंद्रियसे प्रबल कर्मोंका आस्रव होता रहता है। राग रहित देखनकी आदतको मिटाना ही आत्माका हित है। ज्ञानी जीव दृश्य पदार्थोंको मात्र देखकर वस्तुस्वरूप विचार कर समभाव रखता है, आंखोंका विषय रूपी मूर्तीक है, वह सब पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्याये हैं। सर्व अवस्थाए क्षण क्षणमें विनाशीक हैं। स्वरूप कुरूप होजाता है, निरोगी रोगी होजाता है, नया सुंदर मकान कुछ काल पीछे पुराना असुदर होजाता है, क्षणिक दृश्य पदार्थोंमें राग करना धूप व छायाके साथ मोह करना है, धूप छाया कभी रहनेकी नहीं है, ज्ञानी जीव धूप व छायाको चचल मानकर समभाव रखता है, वैसे ही सर्व ही जगतको दिखलाइ देनवाली पर्यायोंको चचल मानकर समभाव रखना चाहिये।

आत्माका सच्चा हित व जगतका हित जिन चेतन व अचेतन पदार्थोंसे होता है उनको देखकर प्रमुदित होना चाहिये। यह चक्षुका सदुपयोग है, स्वपरोपकारी शास्त्रोंका अवलोकन, तीर्थादि पवित्र भूमियोंका दर्शन, आत्मज्ञानी विद्वानोंका मुखावलोकन, जिनेन्द्रकी शांत मुद्राका निरीक्षण हितकारी है। परोपकार हेतु कलाकौशल्यकी वस्तुओंको व लोकोपकारी पुस्तकोंको व प्रवीण विद्वानोंको व ज्ञानदातार चित्रोंको देखना भी गुणकारी है।

यदि सदुपयोगमें लगाया जावे तो चक्षु इन्द्रिय हमारा बड़ा काम करती है। इसीकी सहायतासे देखकर चला जाता है, स्वाध्याय

पिया जाता है, रक्खा उठाया जाता है, मानवके शरीरका भूषण है।

चक्षुसे इष्ट योग्य पदार्थोंके देखनेकी इच्छा ही अविरति मात्र है। जगतमें सर्व पदार्थ अपने२ स्वभावमें हैं। न कोई इष्ट है, न कोई अनिष्ट है। प्राणी अपने स्वार्थवश अपनी कल्पनासे किसीको इष्ट व अनिष्ट मान लेते है।

ज्ञानी जीव इस चक्षु इन्द्रिय द्वारा दर्शनको पराधीन मानता है। देखनेवाला तो आत्मा ही है। उसे इन्द्रियकी सहायता क्यों लेना पड़े। क्यों न वह स्वय असहाय होकर जाने। इसलिये दर्शनावरण व ज्ञानावरणका पर्दा हटाना होगा। अतएव चक्षु इन्द्रियके विषयोंसे उदासीनता रखकर प्रयोजनीय पदार्थोंको भी वस्तु स्वरूपसे देखकर राग, द्वेप, मोहकी कालिमासे बचना चाहिये।

ज्ञानी जीव अतर्मुख होकर अपने ही आत्माके द्रव्य स्वरूपको देखता है तो उसे सिद्ध भगवानके समान ज्ञाताद्रष्टा, परमानदी, अनत वीर्यवान, पूर्ण अमूर्तीक, सर्व द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरहित पाता है। इस आत्मावलोकनके अभ्याससे अविरत भावको दूर करता है। बाहर देखना अनुपकारी समझकर केवल भीतर ही देखता है। तब वहा अपने शुद्धात्माका दर्शन पाता है। इसी दर्शनमें तृप्त होकर वह चक्षु इन्द्रियके विषयोंसे विरक्त व अनासक्त होजाता है। और वार२ अपने भीतर अपनी परम प्रिया आत्मानुभूति–तियाका दर्शन करके जो अपूर्व आत्मानद पाता है वह बिल्कुल वचनगोचर नहीं है। न मनसे चिंतवन योग्य है। केवल मात्र अनुभवगम्य है।

६३-श्रोत्रेंद्रिय अविरत भाव ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारकी परतंत्रताको विचार कर उनसे दूर होनेका प्रयत्न करता है ।

बारह अविरत भावोंमें श्रोत्रेंद्रिय अविरत भाव भी बड़ा बाधक है । शब्दके विषय सात स्वर हैं। पचेंद्रिय जीव कानके वशीभूत होकर सुन्दर स्वरोंके सुननेकी तीव्र वांछा करते हैं । मृगगण इसी विषयमें लुब्ध होकर जालमें फसकर पकड़े जाते हैं। मानव भी कानके विषयके वशीभूत होकर सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर गानके सुननेमें लुब्ध होजाता है, वेश्याओंके सुरीले गानमें फसकर वश्या सेवनके व्यसनमें रत होकर शरीर, धर्म व धन तीनोंका नाश करता है ।

कर्णइंद्रियका उपयोग विषयलम्पटतामें करना मानवको लौकिक व पारमार्थिक उन्नतिमें पूर्ण बाधक है । ज्ञानी मानव कर्णइंद्रियसे आत्मीक उन्नतिकारक शास्त्र सुनता है व परोपकार कारक वार्ताओंको सुनकर जगतका हित करता है । राग द्वेष मोहवर्धक शब्दोंके श्रवणमें उदास होकर ऐसी संगति नहीं करता है जिससे वृथा कर्णेन्द्रियके विषयमें फसकर जीवनका अनुपयोग किया जावे । यह अविरत भाव कर्मास्रवका कारक है ।

व्यवहारमें वर्तते हुए पापवर्द्धक शब्दोंके श्रवणमें अपनेको उपयुक्त करता है। महान तत्वज्ञानी गुरुओंके मुखसे वाणी सुनकर तत्वज्ञानका मनन करके स्वपरका भेद ज्ञान प्राप्त करता है ।

अविरत भाव आत्माके अनुभवमें पूर्ण बाधक है । जो कोई सर्व इंद्रियोंके विषयोंसे उपयोगको हटाकर अपने उपयोगको इंद्रियातीत आत्माके स्वरूपमें जोड़ता है वही स्वतंत्रताके मार्गपर चलता है ।

स्वतंत्रता आत्माका निज स्वभाव है। उसमें किसी भी परद्रव्यका प्रवेश नहीं होता है। द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म क्रोध, मान, माया, लोमादि, नोकर्म शरीर आदि, ये सर्व ही पर है। इनका संसर्ग परतंत्रताका कारण है।

जो कोई तत्वज्ञानी विश्वके स्वरूपको पहचानता हे और द्रव्य दृष्टिसे छ द्रव्योंको देखता है, सबपर समभाव रखता है, वह आत्माको परतंत्रताकारक पुद्गलका स्वागत न करता हुआ स्वतंत्रताके मार्गका पथिक होजाता है।

पांचों इंद्रियोंकी विषयवासनाएं महान बंधन हैं। जो इनको जीतता है, वही जिन भगवानका अनुयायी होता है। आत्मीक अनुभवसे एक अपूर्व आनन्द उत्पन्न होता है। इस अमृतमई रसका प्रेमी सम्यग्दृष्टी जीव परम सन्तोषी रहता है। उसका सर्वस्व प्रेम निज निधिपर ही रहता है। वह परमाणु मात्र भी पर द्रव्यकी कामना नहीं करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें उसी तरह रखता है जैसे चतुरस्वामी अपने घोड़ोंको अपने आधीन रक्खे। और जब चाहे तब उनपर चढ़कर स्वेच्छ स्थानपर चला जाय। ज्ञानी जीव भी इन्द्रिय–विजयी रहकर जब स्वात्मरमणमें नहीं ठहर सकता है तब इनके द्वारा उपयोगी काम लेता है। कभी भी उनके वशमें नहीं रहता है। ऐसा स्व–वशी ज्ञानी जीव अविरति भावकी परतन्त्रताको दूरकर निज शुद्धात्माकी सार गुफामें तिष्ठता है और वहा एकाग्रता प्राप्त कर व निराकुल [illegible] ज्ञानानंदमई अमृतका पान स्वतन्त्रताका [illegible] जीवनको सफल करता है।

६४-मनोनोइन्द्रिय अविरत भाव ।

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रताके लाभके लिये परतन्त्रताकारक कारणोंको विचार कर उन कारणोंको मिटानेके लिये उद्योग करता है । सैनी पंचेंद्रिय जीवोंके लिये मनका आलम्बन बड़ा भारी कर्मबंधका कारण है । मिथ्यादृष्टी जीव सांसारिक वासनाके कारण मनमें पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी विकल्प किया करता है । कभी स्पर्शन इंद्रियके वशीभूत होकर पिछले कामभोगोंको विचारता है । उनकी याद करके रजायमान होता है । नये कामभोगोंके लिये चिंता करता है, उनकी प्राप्तिका उपाय सोचता है, न मिलनेपर मनमें खेद करता है, इष्ट काम भोग्य पदार्थके वियोगपर शोक करता है, कभी रसनाके भोग्य पदार्थोंका चिन्तवन करता है, पिछले भोगोंकी याद करता है, नए स्वाद्य पदार्थोंकी चिन्ता करता है । मनमें चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि महान पुरुषोंके स्वादिष्ट भोगोंकी कल्पना करके मनमें तृष्णाको बढ़ा लेता है । कभी घ्राण इंद्रियके वशीभूत होकर पिछले सुगंधित पदार्थोंका चिन्तवन करता है । आगामी सूंघनेकी भावना करता है । चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर मन नाना प्रकार पिछले देखे हुए पदार्थोंका स्मरणकर रागको बढ़ाता है । आगामी नाना प्रकार सुन्दर पदार्थोंको देखनेकी तृष्णा किया करता है । श्रोत्रइन्द्रियके वशीभूत होकर पिछले सुने हुए गानोंको विचार कर राग भाव बढ़ाता है, आगामी रसीले गीतोंके सुननेकी आकांक्षा करता है । जिन पदार्थोंसे मोह होता है उनके बने रहनेकी व उनकी पुनः पुनः प्राप्तिकी भावना करता है । जिनसे द्वेष होता है उनके नाश करनेकी चिन्ता करता है । अधिक

धनादिका बन्ध होने पर मनमें अपने अभिमानकी पुष्टि करता है। दूसरोंको नीचा रखनेका विचार करता है। इच्छित पदार्थोके लिये नानाप्रकार मायाचार करनेका विचार करता रहता है। तीव्र लोभके वशीभूत हो राज्य व सम्पत्तिकी कामनामें आकुल होता है। वह सैनी जीव मनमें विषयभोगोंकी चिन्ताके वशमें होकर नानाप्रकार जप, तप, उपवास भी करता है। दूसरे समझते हैं कि मोक्षका साधन कर रहा है, पर वह भोगका उद्देश्य मनमें रखकर धर्ममें प्रवृत्ति करता है। इस तरह मनका दुरुपयोग करके पापका बन्ध करता है। ज्ञानी जीव मनमें ससार शरीर भोगोंसे वैराग्य चिन्तवन करक मनक द्वारा निजात्माका वारवार मनन करता है। शुद्धोपयोगके पानेका अभिप्रायवान होकर द्रव्यार्थिक नयसे अपने ही आत्माको शुद्ध बुद्ध परमात्मवत् विचारता है। कभी आत्मविचारमें उपयोग नहीं लगता है तो पचपरमेष्ठीकी भक्ति व कर्मबन्ध चर्चादिमें मनको लगाता है। तौ भी मनका हलन चलन स्वानुभवका विरोधी है ऐसा जानकर मनका आलम्बन छोड़ता है और मनसे अतीत होकर केवल स्वसवेदनमय हो जाता है और निजात्माकी सपदाका विलास करता है तब जो अपूर्व आनन्द पाता है वह वचनसे बाहर है। स्वानुभव ही मनके विजयका उपाय है।

६५—पृथ्वीकायिक वध अविरतभाव।

इस जगतमें जो स्वतन्त्रता प्रेमी हैं उनको परतन्त्रताकारक कारणोंको ढूढकर उनसे बचना चाहिये। आत्माकी परतन्त्रताका कारण कर्मोंका बन्ध है। कर्मोंका बन्ध मिथ्यात्वसे जैसे होता है वैसे

स भावसे होता है। बाह्य अविरत भावोंमें पाच इन्द्रिय व मनका वर्णन हो चुका है। शेष छ प्राणी संयमकी अपेक्षा अविरत भावोंमें पृथ्वीकायिक वधकी निर्गलता है। विश्वबन्धुत्वकी दृष्टिसे सर्व ही छोटे व बड़े प्राणी हमारे मित्र हैं। सबकी रक्षा होनी योग्य है।

सासारिक वासनाओंके वशीभूत होकर पृथ्वी खोदनी, कूटनी, सींचनी व जलानी पड़ती है। इनसे एकेन्द्रिय द्वारा स्पर्शसे जानकर कष्टकी वेदना सहनेवाले पृथ्वीकायिक जीवोंको बड़ा कष्ट होता है। वे निर्बलताके कारण अपना दुःख प्रकाश नहीं कर सकते हैं परन्तु उनको कष्ट उस भाति होता है, जैसे किसी मानवको हाथ पैर बाधकर जला दिया जावे, मुखमें कपड़ा भर दिया जावे और मग दरोंसे कूटा जावे। वह सब दुःख सहेगा परन्तु हलन चलन न कर सकेगा। कुमति ज्ञानके द्वारा जानकर कुश्रुत ज्ञानसे एकेन्द्रिय जीव दुःखका अनुभव करता है।

मिथ्यात्वी बहिरात्मा न्याय व अन्यायका विचार न करके स्वच्छन्द होकर निर्दयी भावसे पृथ्वीको खोदता है, खुदवाता है, तब सम्यक्ती आरम्भी गृहस्थ प्रयोजन वश पृथ्वीके साथ काम लेता है। मर्यादा रूप पृथ्वीकायिक जीवोंको कष्ट देता है। जानता है कि मैं कष्ट देता हू। मैं अभी इस तरहके संयमको पाल नहीं सकता तौ भी मनमें बड़ी निन्दा गर्हा करता है कि कब वह समय आवे जब पृथ्वीके दलन व कुचलनेका आरम्भ न करना पड़े।

देखो कर्मोंकी विचित्रता, कहां तो यह जीव परमात्मारूप, परमानन्दका धारी, परम शुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग इत्यादि

देवोंसे पूज्य, अमूर्तीक और कहा इसकी यह दशा जो पृथ्वीके कायमें रहकर इसको अनेक वचनागोचर दु ख सहने पडते है। ऐसा विचार का सम्यग्दृष्टि जीव क्षणभर निश्चित होजाता है। और साक्षात् अप नेको ईश्वर तुल्य अनुभव करता है। भेदविज्ञानके द्वारा अपन आत्माको सर्व अन्यकी सत्ताओंसे भिन्न जानता है। कर्म द्वारा होनेवाले विकारोंको भी अपना स्वभाव नहीं जानता है।

निश्चित होकर आपसे आपमें आपको विश्राम कराता है तब यकायक अभेद रत्नत्रयरूप स्वानुभूतिके पथपर चलन लगता है। मै स्वतंत्र हू यही भावना भाता है। रागादि भावोंसे मेरा कोई निजी सम्बन्ध नहीं है, इस तरह बारबार आपको आपरूप व परको पररूप देखने जानने रहनसे वीतरागताके अंश बढते जाते है, सरागताके अश घटते जाते हैं। जहा वीतरागता बढी कि पूर्वकर्म छूटने लगते हैं।

इस तरह आत्मसमाधिका प्रेमी आत्माको ही अपना सर्वस्व जानता है। सर्व लोककी प्रपञ्च रचनाओंसे अलग होकर एकाकी, निस्पृह, शातिरूप अपनको अनुभव करता है। यही अनुभव सुख शातिको सदाकाल देता है और परम तृप्ति प्रदान करता है।

६६—जलकायिक अविरत भाव।

स्वतंत्रता प्राप्तिका इच्छुक परतन्त्रताके कारणोंको विचार कर उनसे बचनेका उपाय करता है।

बारह अविरत भावोंमें जलकायिक अविरत भाव भी हिंसाकारक है। जलकायिक अल्प शरीर रखते हैं कि एक

पानीमें सत्या रहित जलकायिक जीव हैं, तौभी वे सब इसी तरह जीना चाहते हैं जैसे हम सब। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार परिग्रह चार सज्ञाओंके धारी हैं। अपने प्राणोंकी रक्षाकी सबको आकांक्षा है।

तब एक दयावान प्राणीका परम कर्तव्य है कि वह दयाको चाहनेवाले प्राणियोंको दयाका दान करे। मिथ्यात्वी अज्ञानी बहिरात्मा जीव दया धर्मसे उन्मुख रहकर स्वच्छन्द हो जलकायिक जीवोंका व्यवहार करते हैं जिससे उनकी प्रचुर हिंसा होती है। वे असमर्थ होकर दीनतासे सब कुछ सहन करते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी गृहस्थ धनी न होनेपर भी अनुकम्पावान होता है। प्राणी मात्रकी रक्षा चाहता है। अतएव वह जलकायिक जीवोंपर भी दयाभाव लाकर प्रयोजनसे अधिक उनकी हिंसा नहीं करता है। प्रयोजनवश भी जो हिंसा होजाती है उनके लिये अपने मनमें अपनी निन्दा गर्हा करता है। तथा यह भावना भाता है कि कब वह दिन आये जब वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे और पूर्ण अहिंसक भावमें ही रमण करे।

ज्ञानी गृहस्थ जहां तक होता है अचित्त जलका सेवन करता है। जिस किसी उपायसे भी जल जीव रहित होगया हो वह अचित्त है। स्वाभाविक उपायोंसे परिणत हुआ अचित्त जल व्यवहारके लिये बहुत ही निर्दोष है।

स्नान, पात्र धोवन, वस्त्र धोवन आदिमें जलका व्यवहार करना पड़ता है। गृहस्थी विवेकपूर्वक काम करता हुआ बहुत अंशमें वृथा जलकायिक प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता है।

यह अविरत भाव भी परिणामोंको हिंसक बनाकर पाप बंधका कारण है।

परिग्रहत्यागी निस्पृही निर्भय साधु बुद्धिपूर्वक जलकायिक जीवोंके वधसे विरक्त रहते हैं। उनकी महिमा अपार है।

बडे खेदकी बात है कि यह आत्मा परम पूज्य परमात्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्यका धारी, परम अमूर्तीक, शरीर रहित, अखण्ड, अव्याबाध है। तौभी अनादि कर्मोकी संगतिमें रहनेसे यह एकेन्द्रिय जलकायमें भी जन्म ले लेता है और पराधीनपनके असह्य कष्ट भोगता है।

इस संसारके शरीररूपी कैदखानेसे बचनेका उपाय कर्मबंधकी जंजीरका काट देना है।

प्रज्ञारूपी छैनीसे ही यह बंधन कट सक्ता है। मैं स्वयं अबंध हूं, अखंड हूं, अभेद हूं, निर्विकल्प हूं, चेतनामय हूं, अन्य सर्व पर संयोगजनित अवस्थायें मेरा स्वाभाविक परिणमन नहीं हैं। इस तरह निश्चय करके ज्ञानी मात्र अपने स्वभावका प्रेमी, रुचिवान व आसक्त होजाता और उद्योग करके अपने उपयोगको उपयोगवान शुद्ध आत्मामें जोड़ता है, योगभावको पैदा करता है।

इस योगाभ्यासमें रमण करनेसे इसे जो अकथनीय अतीन्द्रिय आनन्द आता है उसका मिलान सिद्ध सुखसे ही किया जा सकता है। यही स्वरूपानन्दका अनुभव स्वतंत्रताका उपाय है, यही मोक्षमार्ग है। यही वह गुफा है जहां सर्व संसार शून्यसा दिखता है। एक आप ही परम प्रभु अपनी शोभाको लिये हुए प्रकाशमान झलकता है।

६७–अग्निकायिक वध अविरत भाव।

एकात स्वतन्त्रता–खोजी इस बातपर विचार कर रहा है कि परतन्त्रताके कारणोंको कैसे मिटाया जावे। बारह अविरत भावोंमें अग्निकायिक अविरत भाव भी गर्भित है। सर्वज्ञने ज्ञान दृष्टिसे देखकर बताया है कि अग्निकायिक जीव भी घनागुलके असख्यातवें भागकी अवगाहनाके लिये बहुत अल्प शरीरधारी होते हैं। एक अग्निकी लौमें अनगिनती जीव होते हैं।

सर्व ही प्राणी चाहे छोटे हों या बड़े अपनेर प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं व अपने योग्य इन्द्रियके विषयोंमें लीन हैं। सर्व ससारी प्राणियोंके समान ये भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार सज्ञाओंसे पीडित हैं।

हम जैसे जीना चाहते हैं, वे भी वैसे ही जीना चाहते हैं। तब उनका प्राणघात होना उनके कष्टप्रद होनेसे व हमारे हिंसात्मक भाव होनेसे कर्मबधकारक है, परतन्त्रताका साधक है। इसीलिये साधुजन सर्व प्रकारका आरम्भ त्याग कर अग्निकायाके प्राणियोंकी हिंसासे विरक्त रहते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव अनुकम्पा रहित होते हुए निर्मल होकर अग्निकायके प्राणियोंकी हिंसा करते हैं जिससे बहुत अधिक पापकर्म बाधते हैं।

सम्यग्दृष्टी जीव आरम्भ करते हुए मनमें ऐसी दया रखते हैं कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुचे। एकेन्द्रिय अग्निकायिक प्राणी भी सुरक्षित रहें परन्तु वही अप्रत्याख्यान या प्रत्याख्यान कषायके उदयके वशीभूत होकर आवश्यक आरम्भमें प्रवृत्ति करते हैं तब इसे-

न चाहते हुए लाचारीसे विचार असमर्थ अग्निकायिक प्राणिओंकी हिंसा करनी पड़ती है। ऐसा सम्यग्दृष्टी यह भावना भाता है कि कब यह समय प्राप्त हो जब मैं पूर्ण अहिंसक होजाऊं। मन वचन कायसे कोई भी हिंसा न करूं। क्योंकि जैसे हरएक प्राणी अपनी हिंसा नहीं चाहता है वैसे हरएक प्राणी अपनी २ हिंसा नहीं चाहते हैं। अतएव इस आरम्भी सम्यक्तीको भी त्यागक मार्गपर चलनेवाला कहते हैं। ज्ञानी जीव प्राणियोंकी कर्मजनित असमर्थताको विचार कर बहुत खेदित होता है। क्योंकि इसको यह निश्चय है कि हरएक प्राणी मूलम शुद्ध जीव है, उसका द्रव्य समयसार है। गुणोंसे अभेद है। ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य, सम्यक्त व चारित्रका सागर है। अमूर्तीक होकर भी चिदाकार विज्ञान घन है, अबाधित है, अजर है, अमर है। इस निज स्वरूपके भीतर वास न पानेके कारण व अपनेसे बाहर परपदार्थोंमें मोह करनेके कारण यह जीव कर्मबंधमें लिप्त हो जाता है। कर्मबंध त्यागने योग्य है, काटने योग्य है। इस श्रद्धाके वशीभूत होकर यह ज्ञानी जीव केवल एक अपने ही द्रव्य स्वरूप आत्माके भीतर विश्राम करता है। मन, वचन, कायसे सुप्त होकर स्वरूप गुप्त हो जाता है। आपसे ही आपके आनन्दरसका स्वाद लेता है। स्वानुभवकी भूमिकामें ही कल्लोल करता है। स्वतन्त्रता साधक इस अमोघ उपायको करते हुए वह स्वतन्त्रताका पूर्ण निश्चय रखता हुआ जो सन्तोष भोगता है वह परम प्रशंसनीय व उपादेय है।

६८–वायुकायिक अविरत भाव।

एक स्वतन्त्रता प्रेमी परतन्त्रताके कारणोंको विचारकर उनके त्यागका उपाय करता है। बारह प्रकारके अविरत भावोंमें वायुकायिक अविरत भाव भी गर्भित है। कर्मोंकी विचित्रताके कारण इस जीवको एकन्द्रिय पर्यायमें आकर वायुका शरीर धारण करना पड़ता है। इनका शरीर भी घनांगुलका असंख्यातवां भाग होता है। इससे बड़ा नहीं होता है। एक वायुके झोकमें बेगिनती वायुकाय धारी जीव हैं। इन प्राणियोंको आगकी तपनसे, सूर्यके तापसे, पंखोंके झोकोंसे, भीतकी व पर्वतादिकी टक्करसे पीड़ित होकर प्राण छोड़ने पड़ते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा दुःख तो उन्हें भी होता है, व असमर्थ होकर उसके निवारणका उपाय नहीं कर सकते हैं।

जो विश्वभरके प्राणियोंका मित्र है, दयावान है, उसको इन प्राणियोंके कष्टोंपर भी ध्यान देना योग्य है।

महामुनि बुद्धिपूर्वक वायुकायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं। पंखे हिलानेका व कपड़ा झटकानेका आरम्भ नहीं करते हैं, न आग जलाते हैं। वे धीर२ पग धरकर चलते हैं, कूदते फांदते नहीं। वायुकायिक जीवोंकी रक्षाका पूरा उद्यम रखते हैं।

गृहस्थी भी सम्यग्दृष्टी बड़ी भारी दयाको धरता है। वह भी नहीं चाहता है कि एकन्द्रिय प्राणी पीड़ित किये जावें। तौ भी आवश्यक आरम्भको करते हुए, मकानादि बनाते हुए, वाहन पर चढ़कर चलते हुए, भोजन पकाते हुए आदि अनेक कामोंके करते हुए वायुकायिक प्राणियोंका बध करना चाहता है।

वह इस अविरत भावको कर्मास्रवका कारण जानता है। तब वह अपनी निन्दा भी किया करता है कि कब वह समय आवे जब उसके द्वारा किसी वायुकायिक प्राणीकी हिंसा न हो और वह उन सबका पूर्ण रक्षक रहे। बिना प्रयोजन पवन नहीं लेता, पखा नहीं करता, आग नहीं जलाता, यथासभव उनकी रक्षामें ही प्रयत्नशील है।

देखो, कर्मोंकी विचित्रता जो यह आत्मा स्वभावसे शुद्धात्मा, पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण वीतरागी, पूर्ण आनन्दी, अमूर्तीक परम वीर्यवान होते हुए भी अनादि कर्मके सयोगवश इसे वायुकादिक ऐसी क्षुद्र पर्यायमें जाना पड़ता है।

दयावान विचारता है कि हिंसाकारक भावोंसे किस तरह बचा जावे तब उसे यही सूझता है कि वह मन, वचन, कायकी क्रियाओंको छोड़े और एकातमें बैठकर निश्चयनयके द्वारा जगतको देखे तब उसे सर्व जीव शुद्ध व सर्व अजीव जीवसे भिन्न दीख पड़ेंगे। यकायक भेदविज्ञानका लाभ होजायगा।

अभ्यासीको उचित है कि भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माको शुद्ध द्रव्यरूप जानकर निरन्तर उसको ध्यावे। अपनी परिणति सर्व पर्से हटाकर एक निज स्वभावमें ही परिणतिको लगावे। आत्माको एक शात समुद्र माने। उसीमें वारवार स्नान करे। उसीके शीतल स्वानुभवरूपी जलको पीवे। उसीमे कल्लोल करे। उसीके तटपर विश्राम करे। इस तरह आत्मीक उपाधिके भीतर निमग्न होनेसे कर्मके मैल धुल जावेंगे। रागद्वेषके विकार शमन होजावेंगे। परम शातिका लाभ होगा। यही शांति पालेके समान कर्मरूपी वृक्षोंको जला देगी।

मैं सन स्वतन्त्र हूं, स्वाधीन हूं, अविनाशी हूं, मेरा सम्बन्ध किसी भी पर द्रव्यसे नहीं है। इस तरहकी भावना अनुभवका द्वार खोल देती है। तब यह स्वानुभवको लेते हुए परम सन्तोषित हो जाता है। परमानंद रसका पान करता है। आत्माके समुद्रमें रमणका यही फल है।

६९-वनस्पतिकायिक अविरतभाव।

स्वतन्त्रताका प्रेमी परतन्त्रताकारक कर्म बंधनोंके उत्पादक भावोंका स्मरण करके उनसे निवृत्ति पानेका परम उत्साह कर रहा है। बारह अविरत भावोंमें वनस्पतिकायिक अविरत भी है। वनस्पतिमें जीव उसी प्रकारसे है जैसे हम मानवोंके शरीरमें जीव है, वे प्रगट हवा लेते, ऐपड़ोंसे भोजन करते, निद्रित होते, कषायाविष्ट होते हैं, यह बात सायन्सने सिद्ध कर दिखाई है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे ये भी पीड़ित हैं। प्राण रक्षाका राग व प्राण हरणका भय रखते हैं। वनस्पति साधारण व प्रत्येक दो प्रकारकी है। अनेक जीवोंका एक साधारण शरीर रखनेवाली साधारण वनस्पति है, जिसको निगोद कहते हैं। एक जीवका एक शरीर रखनेवाली प्रत्येक वनस्पति है। प्रत्येक वनस्पतिके पांच भेद हैं-तृण, वल्ल, गुल्म (छोटे वृक्ष), कन्दमूल व पांच प्रकारके प्रत्येक जिस समयतक साधारण वनस्पति कायिक प्राणियोंसे सम्बन्धित होते हैं, उस समय उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब वे निगोद जीवोंसे आश्रित नहीं होते हैं तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। साधारण शरीरधारी जीव बहुत छोटे घनांगुलके असंख्यातवें भागसे अधिक बड़े नहीं होते हैं। प्रत्येक

शरीरधारी इतने छोटे भी होते हैं व बड़े भी होते हैं।

बहुत ऊँचे २ वृक्ष होते हैं, टूटे हुए पत्ते, फल, फूल बीजमें जबतक तरी है, वे सचित्त माने गए हैं। जिससे सिद्ध है कि वे वृक्षमें जबतक थे तबतक एक वृक्ष शरीरके अंग थे, तौ भी अपने आश्रित जीवोंको रखते थे, इसीसे वृक्षसे अलग होने पर भी जहांतक शुष्क व प्रासुक न होजावे वहांतक जीव सहित हैं।

दयावान प्राणीका परम कर्तव्य है कि वे इनकी भी रक्षा करें। इनको भी प्राण हरण होते हुए हमारे समान कष्ट होता है। कषायका अनुभाग कम होनेसे हमारी अपेक्षा कम वेदना होती है। तथापि इस कष्टको वे न पावे यह देखना दयावानका कर्तव्य है।

सर्व प्राणीमात्रके परम रक्षक साधु महाराज ऐसा कोई भी आरंभ नहीं करते जिससे इन ही प्राणियोंको पीड़ा पहुंचे। वे वृक्षके पत्तेको भी नहीं तोड़ते हैं।

गृहस्थ श्रावक आरंभी है—उसका काम वनस्पति छेद विना नहीं चल सक्ता है। वह अन्न फल, साग, मेवा आदिका व्यवहार करता है। इस आरम्भी हिंसासे वह सर्वथा बचा नहीं सक्ता है। दयावान गृहस्थको प्रयोजनसे अधिक इन दीन हीन वनस्पतिकायिकों-की भी हिंसा न करनी न करानी चाहिये।

इसलिये गृहस्थ दिन प्रतिदिन कुछ गणना कर लेता है। उसके सिवाय वनस्पतिके भक्षणसे विरक्त होजाता है। कभी कभी पर्व दिवसोंमें वह इनका घात बचानेके लिये इनका भक्षण बिलकुल नहीं करता है। मेरमें जितनी सा[illegible] उससे मैं वनस्पतिकायके धारी

योंकी अधिकसे अधिक रक्षा करूं यह भावना एक दयावान गृहस्थके भीतर होनी चाहिये।

वनस्पतिकाय रूपी कैदखानेमें जो जीव बन्द हैं वह जीव वास्तवमें तो परमात्माके समान अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, वीर्यमई व परमानन्द स्वरूप हैं। रागद्वेष विकारोंसे व अज्ञानसे रहित हैं, सदा ही निश्चल रहनेवाला है, परम शांत रहनेवाला है। ऐसे ही सर्व जीव हैं। धिक्कार हो कर्मबंधको जिसके कारण इस जीवको पिंजरेके पक्षीके समान परतंत्र होकर रहना पड़ता है।

इस कर्म परतन्त्रताके नाशका उपाय यही है जो मैं अपने मूल स्वभावको ग्रहण करके उसीमें श्रद्धा सहित रमण करूं, स्वात्मानुभव करूं, परद्रव्यसे रागद्वेष मोह छोड़कर समताभावमें जमकर आपको आपरूप परम शुद्ध अनुभव करूं।

यह स्वात्मानुभव ही स्वतंत्रताका साधन है। जो इस साधनको स्वीकार करता है वही साधु है व स्वतंत्रता प्रेमी है।

७०–त्रसकायिक अविरत भाव।

स्वतंत्रता बड़ी प्यारी वस्तु है। परतंत्रता दासत्व है, गुलामी है, सर्वदा त्यागने योग्य है। स्वतंत्रता स्वाभाविक सम्पत्ति है। आत्मीक स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंका संयोग है। कर्मोंके संयोगके कारण विभाव भाव हैं। अतएव विभावोंका त्याग जरूरी है। बारहवां अविरत भाव त्रसकाय वध है। त्रस जीवोंमें दो इन्द्रिय लट, कौड़ी, शंखादि, तेन्द्रिय चींटी, जूं, खटमलादि, चतुरिन्द्रियमें मक्खी, भ्रमर, पतंगादि,

पञ्चेंद्रियमें थलचर गाय, भैंस, मृगादि, जलचर मत्स्य, मच्छ, कच्छपादि, नभचर कबूतर, मोर, पक्षी आदि, मानव, देव व नारकी सब गर्भित हैं। इन सबकी रक्षाका भाव त्रसकाय अविरत भावसे बचाव है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु—इस पाठको जो ध्यानमें नहीं रखते हैं वे निर्गल होकर आरम्भ करते हुए छोटे २ जतुओंकी घोर हिंसा करते हैं, पशुओंको कष्ट देते हैं, आग छेदते हैं, अधिक भार लाद देते हैं, समय पर चारा नहीं देते हैं, पशुबलि करते हैं, मास व चमड़ेके लिये पशुवध करते हैं, गरीबोंको सताकर पैसा लूटते हैं। झूठ बोलकर जनताको ठगते हैं। मिथ्यादृष्टिके भीतर दया नहीं, वह विषय कषायोंकी पुष्टिके लिये, परके कष्टको व परके वधको अति तुच्छ समझता है। स्वार्थके आगे पदार्थ कुछ वस्तु नहीं है ऐसा जानता है। वह जगतके प्राणियोंको घोर कष्ट पहुचा कर अपने आत्माको कर्मकी परतंत्रतासे और अधिक जकड़ लेता है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव पूर्ण दयावान अनुकम्पाशील होता है। वृथा व अन्यायसे किसीको सताता नहीं। यथाशक्ति देखकर चलता है। देखकर वस्तु रखता उठाता है। देखकर दिनमें भोजनपान बनाता व रखता है। मनमें भी किसीको अहितकारी व कटुक नहीं कहता है। गृहस्थीके कार्योंको बहुत सम्हालके साथ करता है। मानवोंको सगे भाई बहनके समान देखकर उनको कष्ट नहीं पहुचाता है। आरम्भजनित हिंसामें कुछ त्रसकायका भी वध हो जाता है। उस आचारीके लिये वह अपनी निन्दा गर्हा करता है। तीसरी भूमिकाका आलम्बन करनेवाला महात्मा उन मन, वचन, कायोंसे ही अपनेको

जुदा कर लेता है, जिनमें त्रस कायका वध होता है या उनकी रक्षाका विकल्प होता है।

वह केवल अपने आत्माको ही अपना कार्यक्षेत्र बनाता है, वहीं बैठता है, वहीं विश्राम करता है, वहीं रमण करता है, वहीं परिणमन करता है। आत्माका आत्मस्वरूप ही ग्रहण कर लेता है। इसको सर्व चौदह गुणस्थानोंसे, चौदह मार्गणाओंके भेदोंसे, सर्व औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावोंसे सर्व रहित जानसे, सर्व पर रूपधारी जीवोंसे, सर्व पुद्गलोंसे, धर्म अधर्म आकाश कालसे न्यारा देखता है। एस शुद्धात्माको ही अब समझ कर उसकी सम्पत्तिको ही अपनी सम्पत्ति समझ कर सर्व परके परिग्रहसे मुक्त हो असंग हो जाता है। केवल आत्मानंदरूपी अमृतका पान करता है। यही स्वानुभूति रमण क्रिया इसे वास्तवमें स्वतंत्र झलकाती है व यही सर्व परतंत्रताके मिटानेका उपाय है। एक ज्ञानी सर्व प्रकार पर भावोंसे विरति भजकर स्वात्मरत होजाता है। यही स्वतंत्रताका मार्ग है।

७१-अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय।

स्वतंत्रता आत्माकी निज सम्पत्ति है, इसके मार्गमें बाधक जो कोई हो उसको पूर्ण शत्रु समझकर उनका विध्वंस करना ही एक साधकका परम कर्तव्य है। जीवका बाधक पुद्गल द्रव्य है। कर्मके स्कंध यद्यपि इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी इंद्रियसे ग्रहणमें नहीं आते तथापि उनके भीतर अनन्त बल है। जब वे जीवोंके कर्मजनित औदायिक भावोंके निमित्तसे जीवके साथ बंधको प्राप्त होजाते हैं तब

वे परतंत्रताका एक जाल ही बिछा देते हैं, जिस जालमें यह जीव फस जाता है। इस कर्मबंधके जाल बनानेके लिये ५७ आस्रवभाव कारण हैं।

पांच मिथ्यात्व व बारह अविरतका कथन करनेके पीछे २५ कषायोंका भी विचार करलेना उचित है। शत्रुको पहचाननेसे ही शत्रुके द्वारा स्वरक्षा की जासक्ती है।

मोहनीय कर्ममें चारित्र मोहनीय गर्भित है, यह कर्म आत्माके स्वरूपरमण चारित्रको या वीतराग भावको नहीं होने देता है। इसका अभाव करना बहुत ही जरूरी है। क्रोध चार प्रकारका होता है। अनन्तानुबंधी क्रोध सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणका घातक है। इसकी वासना छ मासमें अधिक बहुत दीर्घकाल तक रह सक्ती है।

जब कोई किसी बातकी चाह करता है उसके मिलनेमें जो बाधक होते हैं व प्राप्त वस्तुमें जो बाधक होते हैं उनकी हानिका भाव रहा करता है। अनन्तकाल तक भी हानिका भाव चला जा सके ऐसे क्रोधको अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं।

सर्व ही मिथ्यादृष्टी जीव इस क्रोध भावसे पीडित रहा करते हैं। कभी कभी सम्यक्ती जीव सम्यक्तसे छूटकर मिथ्यात्वके सामने जाते हुए बीचमें सासादन अवस्थाके भीतर उत्कृष्ट छ आवली तक इस कषायसे पीडित रहते हैं।

इस कषायसे त्रासित होकर कमठके जीवने कई जन्मों तक मरुभूतके जीवको पार्श्वनाथजीकी पर्याय तक द्वेषभावसे कष्ट दिया। इसके प्रभावसे एक तरफी वैरभाव भी हो जाया करता है। इस कषायके [illegible] उपाय एक मात्र सम्यक्तका लाभ है [illegible]तको

सम्यक्तक शस्त्रको ग्रहण करना चाहिये। उस शस्त्रकी सूरत देखते ही अनंतानुबंधी क्रोधका विकार गुप्त होजाता है। और जबतक वह शस्त्र हाथमें रहता है वह कभी अपना आक्रमण नहीं कर सक्ता है।

मैं शुद्ध, सिद्ध, चेतनामय, अमूर्तीक, अविनाशी, परमानन्दी, परम वीतरागी हूं। रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्मसे मेरा कोई नाता नहीं है। मेरा स्वरूप सिद्धात्माके समान है। जो इस भावनाको भाता है वह शांति व आत्मानन्दका झन्कार पाता हुआ सम्यक्तरूपी गुणोंको प्रकाश करनेका साधन करता है। जो इस साधनाका साधन करता है वही स्वतंत्रताका उपासक बुद्धिमान मानव है।

७२–अनन्तानुबन्धी मानकषाय।

स्वतंत्रता मानवका निजी स्वभाव है। कर्मबन्धकी परतंत्रता मेटनेके लिये उन भावोंको विचार कर छोडना चाहिये जिन भावोंसे कर्मोंका बंध होता है। पचीस कषाय भावोंमें अनंतानुबंधी मान भी गर्भित है। मिथ्यात्वकी वासनासे वासित प्राणी शरीर व उसके बाहरी इन्द्रियविषयकी सामग्रीमें मगन रहता है, इच्छानुकूल पदार्थोंको पाकर अपनेको बड़ा व दूसरोंको छोटा देखता है। उसका जीवनाधार विषय भोग होता है। वह धनिक पिता व माताके होनेका, अधिक रूपवान होनेका, अधिकार होनेका, धन होनेका शास्त्रीय विद्या–सम्पन्न होनेका, बाहरी उपवासादि तप करनेका बड़ा घमण्ड करता है, अपने संयोगोंसे राग करता है, परके संयोगोंसे द्वेष करता है, मान द्वेषका

आग है, कठोर परिणामोंको रखकर अपने छोटोंके साथ तुच्छता व घृणाका व्यवहार करता है, दया व प्रेमका व्यवहार नहीं करता है। इस कारण तीव्र कर्मका बंध करता है। हिंसात्मक कर्मोंके कर लेनमें मान दृष्टिके लिये न्याय व धर्मका भी घात हो जानमें अनन्तानुबन्धी मानीको कुछ विचार नहीं होता है। जगतके प्राणी ऐसे मानवके व्यवहारसे बहुत त्रासित होते हैं।

सम्यक्ती जीव अनन्तानुबन्धी मानसे रहित होता है, वह कोमल चित्त होता है, वह अपने आत्मीक गुणोंके सिवाय किसी भी परद्रव्य, परगुण, पर पदार्थको अपनी वस्तु नहीं मानता है, परवस्तुओंके संयोगोंको पुण्यका वृक्ष फल जानता है, उनको कर्मजनित सम्पदा मानता है, अपनी सम्पत्ति नहीं मानता है। अतएव उनके समागम होनेपर मान नहीं करता है। वह जानता है कि जो नाशवंत है उसको अपना मानना मूर्खपना है।

सम्यक्त प्राप्तिका इच्छुक प्राणी भेदविज्ञानका वारवार मनन करता है। वह विचारता है कि मैं आत्मा हूं, अकेला हूं, मेरा सम्बंध किसी भी परद्रव्य परक्षेत्र परकाल व परभावसे नहीं है। मैं अखण्ड, अविनाशी, अमूर्तीक, ज्ञानदर्शनपूर्ण व परमानन्दमई, परम वीतराग हूं, सिद्ध परमात्माकी जातिका हूं। उनके साथ हर तरह मेरी समानता है। सत्ता भिन्न होनेपर भी गुणोंमें समान हूं।

अनन्तानुबन्धी मानकषायके विपक्ष दमनके लिये स्वाधीनताका प्रेमी अपनी सम्पत्तिसे सहयोग करता है व परसे असहयोग करता है। निरन्तर आपको आप, परको पर देखता है। अपना शुद्ध स्वरूप ग्रहण करनेयोग्य है और सब त्यागनेयोग्य है। इस भावनाके प्रतापसे

अनुमान घटता जाता है। मानका मैल जितना जितना ह—
उतना उतना मार्दव गुण प्रगट होता है। ऐसी वस्तुस्थितिको
कर स्वतन्त्रताका प्रेमी मैं एकतान होकर अपनी सत्तामें आप ि
हूं। मेरी सत्ता ही मेरा घर है। वही वीरताका अटूट दुर्ग है
उसीमें विश्राम करता हुआ निर्भय और स्वच्छन्दवादी रहता हूं।

७३–अनन्तानुबन्धी माया कषाय।

एक ज्ञानी आत्मा विचार कर रहा है कि मैं निर्विकल्प, निश्च
परम वीतरागी, परमानन्दी, पूर्ण ज्ञान दर्शनमई परम शुद्ध द्रव्य हूं
फिर भी क्यों मन, वचन कायके झंझटोंमें फंसा हूं। कारण इस
परतन्त्रताका अनादिकालीन कर्मबंध व रागद्वेष मोहका जीव वृक्षरूप
सवार है। अतएव परतन्त्रताकारक पाप पुण्यमय कर्मोंके बंधके कारणी-
भूत भावोंको हटाए विना स्वतन्त्रताका उत्साद बन्ध नहीं हो सकता
है। अनन्तानुबन्धी माया भी गहरी पिशाचनी है। इसके वशीभूत
होकर मोटा मिथ्यादृष्टी जीव नानाप्रकारके कपट करता है। पांचों
इन्द्रियोंके भोगोंकी तृष्णाके आधीन प्राणी अपनी इच्छित वस्तुओंको
पानेके लिये उसी तरह जाल रचता है जैसे शिकारी मृगोंके पकड़नेके
लिये जाल रचता है। कभी रत्नादि धनके हरणके लिये धर्मात्मा
त्यागी बन जाता है।

कभी अमर्यको सत्य ठहरानेके लिये बड़े २ शास्त्र बना डालता
है। झूठे कागज व बहीखाते लिखकर सर्कारी वकील द्वारा धनका
अपहरण करता है। भोली भाली विधवाओंको विश्वास दिलाकर उनका
लाखोंका गहना हड़प कर जाता है। परस्त्री संयोगके लिये नाना

प्रकारके कपट करता है। रावणके समान कपट करके पतिव्रत सीता जैसी सतीके मनको क्षोभित कर देता है। इस महान अन्यायमें प्रेरणा करनेवाली मायाके वश होकर अनेक राज्य दूसरे राज्योंको निगलनेका महान कपट करते हैं। मायाचारसे विश्वासघात कर किसीको कष्ट पहुंचाना घोर हिंसा है। मिथ्याती निर्भय हो इस हिंसाका प्रचार किया करता है व तीव्र कर्मबन्धकी जञ्जीरोंसे जकड़ा जाता है।

सम्यक्ती ज्ञानी इस मायाके मेलसे भयंकर अन्यायमई कपट नहीं करता है। जो भद्र परिणामी सम्यक्ती होना चाहता है वह इस कषायके बन्धको घटानेके लिये कषाय रहित भावकी उसी तरह सेवा करता है जैसे कोइ उष्णताकी बाधासे पीड़ित होकर शीत जलका बार २ उपचार करता है। कषाय रहित अपना ही आत्मा द्रव्य है। भेद-विज्ञानसे इसी अपने स्वद्रव्यको सर्व पुद्गलोंकी वासनाओंसे रहित देखना चाहिये। जैसे अनेक कपड़ेकी पुटोंके भीतर रक्खे हुए रत्नको जौहरी रत्नरूप ही देखता है वैसे अपने आत्मद्रव्यको तनमें निराला परमात्माके तुल्य देखना चाहिये। यही देव दर्शन है, यही वह साधन है, जिस द्रष्टाको एक परम शांत समुद्र तुल्य आत्मा अपने ही भीतर दिख जायगा। इसीका बार बार दर्शन ही मायाकषायकी कालिमाको उत्पन्न करानेवाले कर्मोंका बन्ध घटाएगा, सम्यक्त गुणका प्रकाश करेगा। यह शास्त्रनीतिक आधार पर प्राप्त आनन्दमें सुख शान्ति प्रदान करेगा, स्वतन्त्रताके मार्ग पर आए हुए कष्टोंको काटेगा और शीघ्र ही सम्यक्त गुण रत्न प्राप्त कराकर [illegible] व स्वतन्त्र अनुभव करा देगा।

७४–अनंतानुबन्धी लोभ कषाय।

एक स्वतन्त्रता प्रेमी परतन्त्रताकारक बंधनोंको काटनका इच्छुक हो, उन सब कारणोंको स्मरण कर रहा है जिनसे कर्मवर्गणाएं संचित होकर कर्मका सूक्ष्म शरीर बनाती है, व जिन कर्मोंके फलसे आत्माका स्वतंत्र स्वभाव पराधीन व विकृत होजाता है।

अनंतानुबंधी लाभ भी बहुत ही अनिष्टकारी है। इस लोभके वशीभूत होकर प्राणी स्वार्थमें अंधा होजाता है। शरीरक भोगका मोही पाचों इन्द्रियोंके भोगका तृषातुर व्यक्ति इंद्रियभोग योग्य पदार्थोंकी तृष्णामें एसा फस जाता है कि उनके लाभके लिये आकुलित होकर धनादि संचय करनमें न्याय अन्यायका विचार छोड देता है। हिंसा, असत्य, चोरीसे धन एकत्र करता हुआ हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, रौद्रध्यानमें मनको मलीन रखता करता है। स्त्री परस्त्रीका विवेक छोड देता है, भक्ष्य अभक्ष्यकी ग्लानि हटा देता है, ग्राणयोग्य व अयोग्यकी चिंता त्याग देता है। दृश्य अदृश्यका भेद दूर कर देता है। श्रोतव्य अश्रोतव्यका विवेक नहीं रखता है। मन चाहे इंद्रियोंके विषयोंमें बारबार जाता है, तृष्णाको बढ़ाकर और अधिक प्राप्तिके लिये आतुर होता है, मिथ्यादृष्टी मोही जीव परम लोलुप होकर इस जगतका बहुत अनिष्ट करता है व तीव्र कर्म बांधकर परलोकमें कुफल पाता है।

सम्यग्दृष्टी जीव इस कषायको दमन करके पामुराकार वृत्तिके लोभसे छूट जाता है। स्वरूपाचरणकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। आत्मानंदके लाभको परम लाभ समझता है। विश्वके भोग्य पदार्थोंसे वैरागी होजाता है।

भद्र परिणामी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उत्साही व्यक्ति इस कषायके बलको क्षीण करनेके लिये जिनवाणीका अभ्यास करता है। व्यवहारनयसे परके संयोगसे जो अपने आत्माकी अवस्थाएं होती हैं उनको समझता है। निश्चयनयसे या द्रव्यार्थिक नयसे अपने आत्माके मूल स्वभावको समझता है कि यह आत्मा अमूर्तीक, असंख्यातप्रदेशी, शरीराकार, शुद्ध ज्ञानदर्शनका धारी, परम शांत, परमानंदी, निर्विकार, कषायकालिमासे रहित, चित् ज्योतिमय, अखण्ड, अभेद, एक अनादि निधन स्वसत्ताका धारी पदार्थ सिद्ध परमात्माकी आत्माके सदृश है। इस तरह दोनों नयोंसे जानकर वीतरागताके लाभके लिये निश्चयनयका मनन करता है, अपने आत्माका शुद्ध स्वभाव ध्यानमें लेकर नित्य उसका विचार करता है। भेदज्ञानका अभ्यास करता है। इसी औषधके सेवनसे वह इस कषायके बलको क्षीण कर कुछ कालमें सम्यक्ती व स्वानुभवी होजाता है और परम मंगलमय आत्माका आनन्द रस पान कर परम संतोषी व कृतार्थ होजाता है।

७५-अप्रत्याख्यान क्रोध कषाय।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका इच्छुक होकर परतंत्रताकारक भावोंका स्मरण कर उनसे बचनेका प्रयत्न कर रहा है। पच्चीस कषायोंमें अप्रत्याख्यान क्रोधका उदय भी बड़ा भारी घातक है। अनंतानुबंधी क्रोध जब स्वरूपाचरणको रोकता है तब अप्रत्याख्यान क्रोध हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच पापोंके त्यागसे परिणामोंको रोकता है। इन पांच पापोंके कारण जगतके प्राणियोंके साथ अनुचित

वर्तन होता है। व इस पापोंके निर्गल व्यवहारसे कष्ट पाते हैं। यह प्राणी इस चारित्र क्रोधके वश होकर पर प्राणियोंसे द्वेष करके व उनका बिगाड़ करके भी स्वार्थ साधना चाहता है।

जो कोई विषयभवनमें बाधक होता है उन पर क्रोध करके उनका अहित करना चाहता है।

मिथ्यादृष्टि जीवमें अनन्तानुबंधी क्रोधके साथ २ इस अप्रत्याख्यान क्रोधका भी उदय रहता है। इसलिये यह अज्ञानी न अपने स्वरूपमें रमण पाता है और न हिंसादि पाप त्याग कर सकता है।

सम्यग्दृष्टीमें जब चौथे पदमें इस क्रोधका उदय होता है तब वह सम्यक्ती अन्यायपूर्वक क्रोध तो नहीं करता है परन्तु यदि कोई प्रकार नीतिपूर्वक व्यवहार करते हुए उस सम्यक्तीका काम बिगाड़ने लगता है तब यह सम्यक्ती क्रोध करके उसकी अनीतिका उसे पाठ सिखाता है। जब वह नीति मार्ग पर आजाता है तब वह उसका बिगाड़ बंद कर देता है व क्रोध भी छोड़ देता है।

सम्यक्ती इस अप्रत्याख्यान क्रोधके शमनके लिये स्वानुभवकी औषधिका पान किया करता है। यह मिथ्यादृष्टी उस कषायके दमनके लिये श्री गुरुकी शरण लेकर आत्मा व अनात्माका भेद समझता है, भेदविज्ञान सीखता है, व अपने मिथ्यात्व विषके वमनके लिये भेद विज्ञानका वारवार मनन करता है। वालसे छिलका, मूसीसे दाल, तुषसे तंदुल, सुवर्णसे पीतल, दूधसे जल, रत्नसे तरकारी, आगसे जल जैसे भिन्न हैं वैसे शुद्ध बुद्ध अनन्त शक्तिधारी ईश्वरतुल्य स्वभावधारी परमानन्दमय वीतरागी अपना आत्मा प्रभुसे सर्व कर्म पुद्गल व सर्व

रागादि मल व सर्व संयोग सम्बन्ध व सर्व अन्य आत्माएं भिन्न हैं, इस तरहकी भावना करनेसे जैसे तन्दुलका अर्थी तुषसे उदास व तन्दुलसे प्रेमालु है वैसे यह साधक सर्व अपने आत्मासे भिन्न द्रव्य, गुण, पर्यायसे उदास हो जाता है। यही आत्मप्रेम इसके मिथ्यात्व विषको वमन कराता है व एक दिन यह सच्चा स्वानुभवी होकर परमानन्दका भोगी व परम सन्तोषी हो जाता है।

७६–अप्रत्याख्यान मान कषाय।

स्वतंत्रता खोजी ज्ञानी जीव सर्व प्रपंचजालसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है। इसलिये परतंत्रताके कारणोंको ढूंढ२ कर उनको दूर करनेका इच्छुक है। आत्माके साथ कर्मोंका संयोग हानिकारक है। इन आठ कर्मोंसे ही संसार अवस्था बनी हुई है। इन कर्मोंके संचय होनेमें कारण अप्रत्याख्यान मान भी है।

इस कषायके उदयसे मानवके भीतर परद्रव्य धन धान्यादिके भीतर इतना मोह व उनके साथ इतना अभिमान होता है कि उनको कुछ भी काम करानेके भाव नहीं होते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रहकी तृष्णा, इन पांच पापोंको थोड़े भी त्यागनेके भाव नहीं होते हैं। अपना अभिमान पुष्ट करनेको व मान बड़ाई बढ़ानेको यह प्राणी इन पापोंको राग सहित करता रहता है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव भी इस कषायके उदयके आधीन होकर जिन बातोंमें लौकिक अभिमान पुष्ट होता है उनके भीतर ममकार व अहंकार न चाहते हुए भी करता है और यह जानते हुए भी कि-

पाँचों पाप त्यागने योग्य हैं, त्याग नहीं कर सकता। यद्यपि अपने इस अत्यागभावकी निन्दा गर्हा करता रहता है। अप्रत्याख्यान मान उसके भीतर श्रद्धान निर्मल व निरहंकाररूप होते हुए भी इस मध्य श्रेणीके मानमें चारित्रकी हीनता रखता है जिससे वह परिग्रह सम्बन्धी मानको त्याग नहीं कर सकता।

मिथ्यादृष्टी जीवके साथ तो यह कषाय अनन्तानुबन्धी मानके साथ उदयमें आकर श्रद्धान और चारित्र दोनोंमें इस व्यक्तिको अभिमानी बना देती है जिससे वह धनादि होनेका बहुत मान करता है। उस मानके अंधकारसे ग्रसित होकर वह अपने आत्माको बिलकुल भूल जाता है। ऐसा अभिमानी मानव दान व परोपकारमें लक्ष्मीका उपयोग नहीं कर सकता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानियोंके द्वारा तत्वका उपदेश सुनता है। अप्रत्याख्यान मानको त्यागने योग्य समझता है। श्री गुरुका यह उपदेश स्वीकार करता है कि जबतक सत्तामें बैठे हुए कर्मोंका अनुभाग न दूर किया जायगा तबतक उन कर्मोंका प्रभाव आत्मा पर अशुद्ध असर डालता ही है।

कर्मोंके असरको घटानेके लिये आत्माके स्वरूपका मनन है। तत्वोपदेशसे भद्र मिथ्यात्वी जानता है कि यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध, निर्विकार, ज्ञातादृष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, परमानन्दमय है। इसीको परमात्मा, ईश्वर, प्रभु व शुद्ध, बुद्ध कहते हैं। निर्मल पानीके समान, स्फटिकमणिके समान व शुद्ध स्वच्छ वस्तुके समान इस आत्माको पहचानना चाहिये व राग द्वेष मोहके विकारोंको त्याग कर आत्माके

इसका मनन करना चाहिये। जैसे शीतल जलके सरोवरके निकट बैठनेसे शीतलता मिलती है, ताप कम होता है। अतएव स्वतंत्रता-प्रेमीको उचित है कि यह सर्व अन्य कार्योंसे छुट्टी पाकर एकाकी होकर अपने स्वरूपका मनन करे। जैसे कृष्ण दिखनेवाला वस्त्र साबुनकी बार बार रगड़से स्वच्छताकी तरफ बढ़ता जाता है वैसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका मनन कषायोंकी कालिमाको धोकर आत्माको शुद्ध करता जाता है। अतएव मैं सर्व प्रपंच—जालोंसे अलग होकर निराकुलतासे एक अपने आत्माको ध्याता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

७७—अप्रत्याख्यान माया।

स्वतंत्रता प्राप्तिका परम प्रेमी ज्ञानी जीव परतंत्रताकारक उन भावोंकी खोज कर रहा है, जिन भावोंसे कर्मोंका बंध होता है और यह आत्मा परतंत्रताकी जंजीरोंमें जकड़ा जाता है। पचीस कषायरूपी वैभाव भावोंमें अप्रत्याख्यान माया भी है।

यह कषाय पर पदार्थके त्यागके लिये भावोंको रोकती हुई धनादि पदार्थोंके रक्षण व लाभके लिये प्राणीको बाध्य करती है। अनन्तानुबंधी मायाके साथ यह प्रत्याख्यान माया मिथ्यादृष्टीको पकेके वंचनके लिये इतनी निर्दय बना देती है कि जिसने यह विश्वास किया था कि मेरे साथ कभी विश्वासघात न होगा, उसका भी विश्वास घात करके मिथ्यादृष्टी अपना स्वार्थ साधन कर लेता है।

अविरत सम्यग्दृष्टी जीव अनंतानुबंधी कषायके अभावमें किसीको ठगनेका बिलकुल प्रयोजन नहीं रखता है, किन्तु इस मायाचारके

उदयके आधीन होकर कभी कभी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये व अनिष्ट वस्तुके संयोग न होने देनेके लिये न चाहते हुए ऐसा कपट भी कर लेता है जिसमें अन्यायका दमन हो व न्यायका प्रचार हो। धर्म व न्यायकी रक्षार्थ सम्यग्दृष्टी जीव इस कषायके उदयसे वर्तन करते हुए मायाचार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। दुष्टको पकड़नेके लिये कपटका भेष बनाकर उसको मित्रका विश्वास दिलाकर उसके साथ दमन नीतिका व्यवहार करते हैं। ऐसा कपट सहित व्यवहार करनेपर भी सम्यग्दृष्टी जीव जब एकान्तमें विचारते हैं तब अपनी इस कपट प्रवृत्तिकी घोर निंदा करते हैं। मंद मिथ्यादृष्टी जीव गुरुमुखसे व शास्त्रोंसे ठीक ठीक समझ लेता है कि सर्व ही कषाय आत्माके भावोंको कथन करनेवाली है तथा इस कषायके मारनेके लिये भेदविज्ञानका अभ्यास ही एक अमोघ उपाय है, इसलिये वह आत्मा और अनात्माके भिन्न भिन्न विचार करके एकके द्रव्य गुण पर्यायसे दूसरेके द्रव्य गुण पर्यायका सम्मेलन नहीं करता है। जैसे चतुर पुरुष अनेक धातुओंसे बने हुए बर्तनमें मिश्रित सुवर्ण, रजत, तांबेको पहचान लेता है, वैसे ही भेदविज्ञानी कर्मोंके पुंजके साथ मिले हुए आत्माको भिन्न असंग एक आत्मा पहचान लेते हैं व मैं निश्चयसे शुद्ध निर्विकार परका अकर्ता व अभोक्ता हूं, ऐसा वारवार मनन करता है। इसी धुनके भीतर रम जाता है आत्म-रस प्रेमी होजाता है। इसी उपायसे करणलब्धिके परिणामोंकी प्राप्ति करके वह शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि होजाता है, तब आत्माका साक्षात्कार करता हुआ जो अद्भुत आनंद पाता है, वह वचन व मनसे अगोचर केवल अनुभवगम्य है।

७८–अप्रत्याख्यान लोभ।

एक ज्ञानी स्वतंत्रताप्रेमी परतंत्रताके कारणोंको विचार कर उनके समर्गम वचनकी चेष्टा करता है। अप्रत्याख्यान लोभ किंचित् भी त्याग या दान करनेमें रोकता है। यह कषाय प्राप्त परपदार्थोंके संपर्कको सदा चाहता है। अप्राप्त पदार्थोंकी तृष्णा करता है। अनंतानुबंधी लोभके साथ यह कषाय परिग्रहमें खूब मूर्छित रहता है। धनादि अनुकूल सामग्रीके लिये अति तृष्णा उत्पन्न करता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव इसके वशीभूत होकर रात दिन परिग्रहके संग्रहके लिये व सामग्री प्राप्त परिग्रहके रक्षणके लिये आतुर रहता है। मान कषाय या क्रोध कषायकी पुष्टिके लिये धन खरचनेमें तय्यार रहता है परन्तु परोपकार या शुभ कार्योंमें किंचित् भी धन खरचना अपना बड़ा अलाभ समझता है।

अविरत मिथ्यादृष्टी जीव यद्यपि पर पदार्थोंका संयोग आत्माके लिये हितकर नहीं जानता है तो भी इस कषायके प्रबल आक्रमणमें हिंसादि पापोंको एकदेश भी त्यागनेमें समर्थ नहीं होता है, न पांचों इन्द्रियोंके विषयभोगोंको त्याग कर सकता है। अतएव इस कषायके वशमें उस ज्ञानीको भी प्राप्तकी रक्षा व अप्राप्तको प्राप्त करनेकी भावना करनी पड़ती है। यद्यपि यह दयावान होता है अतएव किसीके साथ अन्यायका वर्ताव करना नहीं चाहता है, न्यायसे व पर पीड़ारहितपनेसे यह धनादि सामग्रीको उपार्जन करता है। धनादि संचयमें ऐसा नहीं उलझता है जिससे शरीरका स्वास्थ्य बिगड़ बैठे या आत्मीक रसके पानमें बाधाको प्राप्त करे। यह बारबार चाहता है कि श्रावकके

अणुव्रत ग्रहण करूं परन्तु इस कषायके जोरसे ग्रहण नहीं कर सक्ता है। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव गुरु समागमसे या शास्त्रोंके पढ़नेसे यह निश्चय करता है कि कषाय आत्माके वैरी हैं। ये ही कर्मबंधके कारण है। तथा इन कर्मोंका बंध जबतक दूर न होगा तब स्वतंत्रताका लाभ नहीं हो सक्ता। कषायका आक्रमण बचानेके लिये यह आवश्यक है कि कषायके जरको निर्बल किया जाय। इसका उपाय एक शुद्ध आत्माका मनन है। उसको यह निश्चय है कि यह आत्मा स्वभावसे परमात्मा है। यह परम निर्विकार, ज्ञातादृष्टा, आनन्दमई, परम प्रभु सर्व दुःखोंसे रहित, आनंद, अखंड, शुद्ध, क्षीर जलके समान निर्मल है। यह सर्व तरह स्वतंत्र है वीतराग है अतएव यह नित्य एकांतमें बैठकर या चित्तके सहयोगमें निज आत्माका मूल स्वभाव वारवार विचारता है। धारावाही विचारके प्रभावसे सम्यग्दर्शन निरोधक कर्मोंका बल घटता जाता है। एक समय आजाता है जब वह मिथ्यात्वको दमन करके उपशम सम्यग्दृष्टी होजाता है तब आप परम सुखशांतिका स्वाद पाता है। ऐसा ही समझता है मानो मैं पूर्ण स्वतंत्र ही हूं। फिर तो यह जब चाहे तब स्वरूपके सम्मुख होजाता है और बड़े प्रेमसे आत्मानन्द-रूपी अमृतका पान करता हुआ संतोषी रहता है।

७९–प्रत्याख्यान क्रोध।

एक ज्ञानी अपनी अवस्थाको परतंत्र देखकर उसके मिटानेका परम उत्सुक होरहा है। बंधनके कारणोंका विचार करके उनके दूर करनेका प्रयत्न करना चाहता है। पच्चीस कषायोंमें प्रत्याख्यान क्रोध कषाय भी है जो महाव्रतरूप चारित्रके निमित्तसे होनेवाली आत्म शु

वीतरागताके प्रकाशको रोकता है। इसका उदय स्वानुभवमई स्वरूपाचरण चारित्रको सदोष रखता है।

अनंतानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके साथ २ प्रत्याख्यान क्रोधका उदय एक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्माको रहता है इसलिए वह मिथ्यादृष्टी किसीपर क्रोधित होके दीर्घकाल तक द्वेषभावको दूर नहीं कर सकता है, किंचित् भी अपराध पर या हानि होनेपर वह हानिकर्ताका ऐसा शत्रु होजाता है कि जड़मूलसे इसका नाश कर दिया जाय। कभी २ इन कषायोंमें अनुभाग कम होता है, तब थोड़े नाशसे सन्तोष मान लेता है परन्तु द्वेषभावका संस्कार नहीं मिटता है।

सम्यग्दृष्टी श्रावकको यह प्रत्याख्यानावरण क्रोध जब आता है तब अन्यायी व हानिकर्ताकी आत्माका सुधार चाहता हुआ मात्र इतना द्वेष करता है जिससे पश्चात्ताप करे व भावी कालमें अपना वर्ताव ठीक करले। जहांतक आरम्भ त्यागी आत्मा प्रतिमाका धारक नहीं होता है वहांतक हानिकर्ताको मन, वचन, कायके व अन्य उपकरणोंसे ऐसा पाठ सिखाता है कि वह सुधर जाय व अपनी भूलको स्वीकार करके क्षमा मांग ले। आठमी प्रतिमाधारी व ऊपरके प्रतिमाधारी कोई आरम्भ नहीं करते। कर्मका उदय विचार कर समभाव रखते हैं तथा परिणामोंमें द्वेषभावको जल्दी नहीं मिटा सक्ते हैं। १५ दिनके भीतर वासना रहित अवश्य होजाते हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टी भीतर सत्तामें बैठी हुई कषाय उत्पन्न करनेवाली कर्मवर्गणाओंके अनुभागको सुखानेके लिये शुद्धात्माका मनन व ध्यान करते हैं। इसी उपायसे कषायोंको शान्त करते चले जाते हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टि श्रीगुरुके उपदेशसे व शास्त्र विचारसे यह निर्णय करता है कि मेरा आत्मा सर्व परद्रव्यसे, भावोंसे निराला है, इसकी सत्ता नहीं है व अन्य आत्माओंकी सत्ता जुदी है। अणु व स्कन्धरूप सर्व ही कार्मण, तैजस, आहारक रूप व भाषावर्गणा रूप इत्यादि सर्व ही पुद्गल द्रव्यसे व धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे व कालाणुओंसे मेरे आत्माकी सत्ता जुदी है। कर्मोंके संयोगसे होनेवाले राग द्वेष मोहसे व अन्य सर्व ही शुभ या अशुभ भावोंसे मैं बिल्कुल निराला हू। मैं तो मात्र शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र व आनंदका धारक एक अखण्ड अभेद अमूर्तिक परम वीतराग व अनन्त वीर्य धारी पदार्थ हू। इस तरहकी श्रद्धाको पाकर यह निरंतर इसी भेद विज्ञानका मनन करता है। इस तरह वार वारकी मननरूपी चोटोंके प्रभावसे आत्माका साक्षात्कार रूप सम्यग्दर्शनका निरोधक मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय कर्म दब जाता है और अनादिकालसे छिपा हुआ सम्यग्दर्शनका प्रकाश होजाता है। तब यह ज्ञानी होकर ज्ञानमय भावोंका कर्ता व ज्ञानमय भावोंका भोक्ता अपनेको मानता है। स्वात्मानुभवके द्वारा आनंदामृत पानकी शक्तिको पाकर यह अपनेको परम कृतार्थ समझ कर परम संतोषी रहता है।

८०–प्रत्याख्यान मान।

एक ज्ञानी व्यक्ति अपने मूल स्वभावको विचार करके व वर्तमान अवस्थाको देखकर उसी तरह दृढ़ संकल्प कर लेता है कि मैं मूल स्वभावको झलकाऊँगा, मलीनताको हटाऊँगा। जिस तरह कोई विवेकी

रुईके सफेद वस्त्रको मलीन देखकर यह दृढ सङ्कल्प कर लेता है कि मैं कपडेको धोकर स्वच्छ कर दूंगा। मलीन करनेवाले भावोंकी तरफ जब यह दृष्टिपात करता है तो २५ कषाय भावोंमें प्रत्याख्यान मानको भी पाता है। यह मान कषाय साधुके योग्य पूर्ण चारित्रके भावको रोकनेवाला है।

यह अपनी योग्य स्थितिको होते हुए उसके अभिमानका मल एक श्रावकके मनमें भी यह उत्पन्न कर देता है जिसके वशीभूत होकर एक ऐलक भी मान कषायके मैलसे नहीं बचता। परन्तु सम्यग्दृष्टी गृहस्थ अविरति भावमें हो या देशविरतिमें हो कर्म द्वारा प्राप्त अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग साताकारी अवस्थाओंमें मान भावको प्राप्त करते हुए भी उस मानको कर्मोदय जनित विकार मानके उस मानसे पूर्ण वैराग्यवान रहता है व ऐसी भावना भाता है कि कब वह समय आवे जब यह मानकी कलुषता बिलकुल भी न हो।

मिथ्यादृष्टीको यह कषाय अनन्तानुबन्धी मानके साथ उदयमें आता हुआ पर्यायबुद्धिके अहंकारमें उलझाए रखती है। मैं धनी, मैं नृप, मैं अधिकारी, मैं परोपकारी, मैं दानी, मैं तपस्वी, मैं भक्त, मैं पुजारी, मैं मुनि, मैं श्रावक, मेरी प्रभुता बढ़े, परकी प्रभुता घटे, मेरे सामने किसीकी प्रतिष्ठा न हो। मैं ही बुद्धिवान, विचारवान समझा जाऊँ, इन भावोंमें फसा रहता है।

कभी कभी मिथ्यादृष्टी ख्याति व पूजाके लोभसे महामुनि होजाता है, शास्त्रानुसार चारित्र पालता है, तपस्या करता है, अनेक शास्त्रोंका पारगामी होजाता है परन्तु जितना जितना ज्ञान व चारित्र

बढ़ता है उतना उतना अधिक मानी होजाता है। जरा कोई नमस्कार न करे तो कुपित होजाता है। प्रतिष्ठा पानेपर खूब सन्तोष मानता है। कषायनाशक धर्मका स्वाग धार करके भी चारित्रमोहके तीव्र उदयके वश मान कषायका पुनरपि तीव्र बन्ध करता है। यह कषाय मोक्षके मार्गमें प्रतिबन्धक है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव इस कषायके बलको क्षीण करनेके लिये कषाय रहित अपने आत्माके स्वरूपको परिचयमें लेता है। जानता है कि श्रीगुरुका उपदेश सच्चा है कि—इस शरीरके भीतर आत्मा परमात्माके समान पूर्ण ज्ञानघन अविनाशी परम वीतराग परमानन्दी, अमूर्तीक, अभेद निरंजन, निर्विकार, परम स्वतन्त्र पदार्थ है। यह शरीर पुद्गलकी रचना है। ८ कर्मका रचा शरीर व तैजस शरीर पुद्गलकी रचना है व कर्मोंके उदयसे होनेवाले सर्व अशुभ व शुभ भाव भी पौद्गलिक हैं मेरे स्वभाव नहीं। मैं भिन्न हूं वे भिन्न हैं, मेरी सत्ता सिद्धात्माओंकी सत्तासे भी जुदी है। इस तरह निश्चय करके यह सम्यक्तकी सन्मुखताको प्राप्त जीव निरंतर सोहं मन्त्रके द्वारा आपको आपरूप ही मनन करता है। जैसे शीतल जलमें डाला हुआ लोहेका उष्ण गोला धीरे धीरे शांत हो जाता है वैसे वैसे वीतराग मननसे शांत जलमें कषायोंका आताप शांत हो जाता है। वह शीघ्र ही सम्यक्ती होकर अपने ही पास मोक्षको देखकर परम सन्तोषी व परमानंदी हो जाता है।

८१–प्रत्याख्यान माया ।

एक ज्ञानी परतंत्रताके कारक कारणोंको विचार करके उनके निरोधका संकल्प करता है, जिससे कर्मबंध न हो और यह आत्मा स्वतंत्र हो जावे । पच्चीस कषाय आत्माके प्रबल वैरी है, उन्हींमें प्रत्याख्यान माया भी है ।

यह कषाय साधुके महाव्रत सम्बंधी वीतराग भावोंको रोकनेवाली है । जहातक इसका उदय रहता है वहातक किंचित् मायाचार भावोंमें होजाना संभव है । जैसे कोई धर्मक्रिया करनी तो पद्रह आने व बाहरसे ऐसा झलकाना कि मैंने १६ आना की है । क्षुल्लक ऐलक उत्कृष्ट श्रावक होते हैं। यह भी जमीन देखकर चलते हैं। और भी हिंसाके त्यागी हैं उनको भी वाहनपर नहीं चढ़ना चाहिये । तौ भी वाहनपर चढ़कर अपनेको आरम्भी हिंसाका त्यागी मानना इस प्रकारके मायाचारका दृष्टांत है । कोई सूक्ष्म दोष भोजन करते समय होनेपर भी व ज्ञात होनेपर भी टाल जाना प्रत्याख्यान मायाका विकार है ।

मिथ्यादृष्टी जीवके यह माया अनंतानुबंधी मायाके साथ रहकर बहुत बिगाड करती है । स्वार्थ खोजी मिथ्यादृष्टी कपटका भाजन बन जाता है, विश्वास दिलाकर दयापात्र गरीब व विधवा बहनको भी ठग लेता है, मायाचारीसे धर्मात्मा बन जाता है, धर्मात्माओंको विश्वास दिलाकर धर्मका भंडार हडप कर जाता है । धर्मद्रव्यसे अपना स्वार्थ साधन करता है व दिखलाता यह है कि मैं धर्म द्रव्यका रक्षक हू। मायाचारसे व्यवहार करते हुए पांचों इंद्रियोंके विषयोंका एकत्र करना इस मिथ्यात्वीका एक तरहका स्वभावसा बन

जाता है। गतदिन दावपवका विचार करता ही रहता है। कभी कभी एसा मिथ्यात्वी साधु भी बन जाता है। मोक्षमार्ग मात्र एक स्वानुभव है, उसका लाभ न करके शुभ भावको ही मोक्षमार्ग मान लेता है। यदा अनानपूर्वक मायाका अस्तित्व है। लेश्या शुद्ध हो सक्ती है। जैसा द्रव्य वैसा भाव। मन, वचन, कायकी सरलतापूर्वक ऋजु क्रियामें कुछ भी कमी मायाचारकी कलुषताकी द्योतक है।

मन्द मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुके प्रसादसे जब यह समझ जाता है कि आत्माका स्वभाव बिल्कुल शुद्ध है, कषाय रहित है, परम वीतराग है, परमानन्दमई है, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमई है, अमूर्तिक अविनाशी है, सत् द्रव्यमय है उत्पाद व्यय होनेपर भी ध्रुव स्वभावी है, परमात्माके समान है, तथा रागद्वेषादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न है। पच्चीसों कषाय आत्माके वैरी हैं, तब यह इन कषायोंके सूक्ष्म जो अनुभाग शक्ति है उसको हीन करनेके लिये भेदविज्ञानकी भावना भाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ता है, अरहन्त सिद्धकी भक्ति करता है। थोडी देर एकान्तमें बैठकर सामायिक करते हुए शुद्धात्माकी भावना भाता है, कभी सत्संगतिमें बैठकर आत्माके शुद्ध स्वभावकी चर्चा करता है। इस तरह आत्माके रसकी खोजमें वर्तन करता हुआ यह थोडे कालमें करणलब्धिके परिणामोंको पा जाता है। अन्तर्मुहूर्तमें सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश कर देता है तब ज्ञान चक्षुवान होकर साक्षात् निजात्माको देख लेता है। परम कृतार्थ हो जाता है परमनिधि पाकर जब चाहे तब उसका स्वाद लेकर आनंदित रहता है।

८२–प्रत्याख्यान लोभ।

एक ज्ञानी भव्य जीव स्वतंत्रताका प्रेमी परतन्त्रताके कारणोंको खोज कर उनसे बचनका प्रयत्न करता है। आठ कर्मोंसे परतंत्रताकी वेडी बनती है। उस वेडीको बनानवाले जीवके राग द्वेष मोह भाव हैं। उन्हींमें पच्चीस कपाय गर्भित हैं।

प्रत्याख्यान लोभके प्रभावसे प्राणीका ममत्व वस्त्राभूषण, गृहादिसे नहीं छूटता है। परिग्रहको त्यागने योग्य समझकर भी पांचवें गुणस्थानवर्ती एक श्रावक सर्व परिग्रहका त्याग नहीं कर सक्ता है। इस कषायके हटे विना पूर्ण वैराग्य एसा नहीं उदय होता है जिस वैराग्यसे प्रेरित होकर राज्यपाटादि छोडकर यथाजात रूपधारी दिगम्बर साधु होजावे। यह महाव्रतोंके धारणमें बाधक है।

मिथ्यादृष्टी जीवके जब इस कषायका उदय अनतानुबंधी लोभके साथ होता है तब वह जीव तीव्र लोभी व परिग्रहवान बना रहता है। इसका मोह शरीर व इंद्रिय भोगोंसे कुछ भी कम नहीं होता है। वह तीव्र लालसावान होकर न्याय व अन्यायका विचार छोडकर अपने इच्छित चेतन व अचेतन पदार्थोंका संग्रह करता है। धनादि प्रचुर होनेपर भी तृष्णाको शमन नहीं कर सक्ता है, तीन लोककी सम्पत्तिकी प्राप्तिको भी अल्प समझता है।

कभी २ ऐसा मिथ्यात्वी जीव बाहरसे दिगम्बर साधु होजाता है, बहुत ही वैराग्यभाव झलकाता है। शास्त्रोक्त आचरण पालता है तथापि भीतर भावोंमें परिग्रहका राग नहीं हटता है। वैषयिक सुखकी अनन्तताको मोक्षका [illegible] ता है। उसको

आनन्दकी पहिचान नहीं हुई है। यह कहनेको मोक्षमार्गी है परन्तु वह साक्षात् संसारमार्गी है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव इस कषायके बन्धके निर्मूल करनेके लिये कषायकी कलुषताको कर्मपुद्गलोंका मैल है ऐसा समझता है व आत्माके स्वभावको सर्वप्रकार कषाय कालिमासे रहित पूर्ण वीतरागी, परमानन्दी, पूर्ण ज्ञानादृष्टा अमूर्तीक, निरञ्जन निर्विकार, असंख्यात प्रदेशी, चिदाकार, अविनाशी, शुद्ध परम ब्रह्म, परमात्मा ऐसा सम्यकार जानता है व निश्चय भी रखता है। गाढ निश्चय रखकर वह भव्य जीव एकांतमें बैठकर आत्मा व अनात्माका भिन्न २ विचार करता है। मैं शुद्ध स्फटिक पाषाण रूप हूं। या निर्मल जलके समान हूं। सब अन्य द्रव्य व अन्य भाव मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार बार बार भावना भाते यह दर्शनाल्ठिवक पनको प्राप्त करता है। कर्मोकी स्थितिको ७० भाग कर देता है। गाढ रुचि जैस जैसे बढ़ती है स्थिति और भी कम होती जाती है। अन्तर्मुहूर्त तक अनन्तगुणी समय २ वृद्धि होनेवाली विशुद्धताको बढ़ाते हुए जब वह करणलब्धिमें विचरण करता है तब यकायक दर्शन मोह व अनन्तानुबन्धी चार कषायका उपशम होजाता है और यह जीव अन्धकारसे प्रकाशमें आजाता है। मिथ्यात्व भूमिकाको लांघकर सम्यग्दर्शनकी उँची भूमिपर आरूढ होजाता है। तब जब व्यवहारनयको गौण कर निश्चय नयसे देखता है तब सर्व ही विश्वकी आत्माओंको परम शुद्ध परम सुखी परमात्मा स्वरूप देखता है। तब वहां छोटे बड़ेका भेद, स्वामी सेवकका भेद, पूज्य पूजकका भेद सब मिट जाता है। एक अभेद

अद्वैत तत्व इसके उपयोगके सामने आकर खड़ा होजाता है। वह समताके समुद्रमें मगन होजाता है। अपनी ओर लक्ष आते ही स्वानुभूतिकी कला चमक जाती है। इस कलाके प्रभावसे यह निरंतर आत्मानन्दका भोग करता हुआ परम तृप्त रहता है।

८३–सज्वलन क्रोध।

स्वतंत्रता प्रेमी सज्जन परतंत्रताकारक सर्व ही भावोंको पहचान कर उनके नाशका दृढ संकल्प करता है। २५ कषायोंसे कर्मका बंध होता है। कर्मकी शृंखलाएं आत्माको भव--बंधनमें जकड़े रहती हैं। उन कषायोंके क्षयके बिना आत्मा स्वाधीन नहीं होसक्ता। उनहींमें सज्वलन क्रोध भी है। यह क्रोध जलकी रेखाके समान शीघ्र ही मिट जानेवाला है। इसलिये यदि और अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोधका उदय न हो तो यह सज्वलन क्रोध संयम भावको बिगाड़ नहीं सक्ता है। तो भी यथाख्यात चारित्रके प्रकाशमें बाधक है। परन्तु जब यही सज्वलन क्रोध अनंतानुबन्धी आदिके साथ२ उदय आता है तब तो यह स्थायी द्वेषभावको रखनेमें सहाई होता है। मिथ्यात्वी जीव अपने स्वार्थके विराधकपर तीव्र द्वेष करके उनका बिगाड़ करनेपर उतारू हो जाता है व बिगाड़ कर भी देता है। परकी हानि होनेसे संतोष मानता है। जिसपर द्वेष हो जाता है उसको दीर्घ काल तक भूलता नहीं है। अवसर पाकर कष्ट देने लगता है। अन्तरङ्गका क्रोध जनित द्वेषभाव हर समय कर्म बंधके कारण पड़ जाता है।

कभी कभी ऐसा मिथ्यात्वी साधुपद धारण कर लेता है, बाहरसे

बड़ा शांत भाव झलकता है पर तु भीतरसे द्वेषभावकी कालिमाको धो नहीं सकता है। यदि कोई अपमान कर व इसके कहे अनुसार क्रिया न करे तो वह तीव्र क्रोध भाव करता है व यही चाहता है कि इसका बिगाड़ होजावे तब ही इसे शिक्षा मिलेगी। वर्ष दो वर्ष बीतनेपर भी द्वेषभाव भावोंमें दूर नहीं कर पाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव जिनवाणी सुनकर यह दृढ निश्चय करता है कि आत्माका स्वभाव निष्कषाय है, वीतराग है, इसका स्वभाव कषायोंका विपाक मलीन कर देता है अतएव इन कषायोंकी जड़को खोदकर फेंक देना चाहिये। उसे श्रीगुरु द्वारा यह भी शिक्षा मिलती है कि शुद्धात्माके मननसे जो वीतरागताका अंश प्रकट होता है वही अंश सत्तामें बैठे हुए कर्मके अनुभागको सुखाता है तब वह बहुत ही प्रेमसे अध्यात्म ग्रन्थोंका पठन करता है वीतराग सर्वज्ञ भगवानकी भक्ति करता है, निर्ग्रंथ आत्मज्ञानी गुरुओंकी शरणमें बैठता है व एकांतमें बैठकर अपने आत्माके निश्चय स्वरूपकी भावना भाता है कि यह आत्मा बिलकुल शुद्ध द्रव्य है। यह ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंका सागर है। सिद्ध भगवानके समान यह मेरा आत्मा भी पूर्ण गुणोंका धारी है। मेरे ही मंदिरमें शाश्वत चिदाकार वीतराग आनंदमई प्रभु विद्यमान है। वह अपने आत्माको पवित्र गंगाजलके रूपमें स्थापित करता है व दिनमें कभी तीन, कभी दो कभी एक दफे अपने उपयोगको इसी गंगाजल स्वरूपी शांत निर्मल सुखप्रद आत्मामें डुबाकर उसे निर्मल करता है। आत्माके मननके प्रतापसे यह एक दिन करणलब्धिको पाकर सम्य-

दर्शन गुणको झलका देता है। तब इसे अपने ही आत्मा प्रभुका साक्षात्कार होजाता है, आत्मदर्शन होजाता है यह आत्माके रसका स्वाद वेदने लगता है। यह शुद्धात्म-प्रेमी होजाता है, ससारसे पूर्ण वैरागी होजाता है। क्रमश स्वतत्र होनका शस्त्र पाकर परम सन्तोषी हो जाता है।

८४-सज्वलन मान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारसे निश्चय कर चुका है कि मुझे आत्मस्वात्त्य प्राप्त करना चाहिये। इसलिये बाधक कारणोंको विचारता है जिससे कर्मबन्धकी परतत्रताकी वेडी आत्माक साथ बधती है। पच्चीस कषायोंमें सज्वलन मान भी है। इसके उदयसे परिणामोंमें ऐसा विकार व मलीन भाव रहता है जिससे यह आत्मा यथाख्यात चारित्र सम्बधी वीतरागताका लाभ नहीं कर सकता है। अबुद्धिपूर्वक परजनित भावमें अहकारसा रहता है जो पानीक भीतर लकीरक समान होता है व मिट जाता है।

अनतानुबधी मानके साथ जब इस कषायका उदय मिथ्यादृष्टी जीवके साथ होता है तब उसके भीतर दीर्घकाल स्थायी मानभाव रहता है। शुभ क्रियामें शुभ क्रियाका मैं कर्ता हू, अशुभ क्रियामें मैं अशुभ क्रियाका कर्ता हू यह अहकार भावोंमें जागता रहता है। मिथ्यात्वी अपनको धनी, निर्धन, रोगी, निरोगी, बालक, युवा, वृद्ध, प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, नीच, ऊच, रागी, द्वेषी, क्रोधी, परोपकारी, व सुदर, असुन्दर, तपस्वी, अतपस्वी, विद्वान, निपुण आदि सबसे

मान करता है। आठ कर्मोंके उदयसे या निमित्तसे जो अपनी अवस्था व परिणति अवस्थाएं होती हैं, उनमें यह अहंकार कर लेता है। कभी मद मानभावसे सदा ही लिप्त रहता है।

ऐसा आत्मानुभव विहीन मिथ्यात्वी मुनिपद धार करके भी मैं मुनि, मेरी बाह्य क्रिया शुद्ध परम गम्य तार दनी, इस अहंकारसे अंधा बना रहता है, कभी भी आत्मज्ञानके प्रकाशको नहीं पा सकता है।

यह मिथ्यात्वी जब कषायोंकी कालिमाको अपने आत्मासे छुड़ानेके लिये उत्सुक होजाता है। श्री गुरुसे समझता है कि शुद्धात्माका मनन ही कषायोंके व मिथ्यात्वके मलको धोनेको समर्थ है। अतएव यह श्रीगुरुके उपदेशानुसार अपने ही आत्माको शुद्ध निश्चय दृष्टिसे परमात्माके समान देखता है। पूर्ण निश्चय कर लेता है कि मैं केवल एक आत्मा ही हूं पूर्ण ज्ञानका समुद्र हूं, अपार वीतरागताका सागर हूं स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्दका वारिधि हूं एकाकी स्वतन्त्र हूं अमूर्तीक हूं सर्व अन्य आत्माओंसे भिन्न हूं यद्यपि स्वभावसे सब सदृश हैं तथापि सत्ता सबकी निराली है। सर्व सूक्ष्म स्थूल पुद्गलोंसे सर्व प्रकारके शरीरोंसे, आकाश, काल धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायसे निराला हूं, मैं बन्ध व मोक्षकी कल्पनासे रहित हूं अपने गुणोंसे अभेद हूं। इस तरह अपने ही शुद्धात्माकी भावना करते करते वह किसी समय मिथ्यात्व विषको वमन कर डालता है तब स्वयं ही अपने आत्माका दर्शन प्राप्त कर लेता है। उस आत्माका अनुभव हो जाता है सम्यग्दर्शन जग जाता है वह परम कृतार्थ होकर अपनेको स्वतन्त्र ही जानता है, परम सुखी रहता है।

८५–सञ्ज्वलन माया।

एक स्वतन्त्रताप्रेमी व्यक्ति परतन्त्रताकारक भावोंको तलाश करके उनके सहारका बीडा उठाता है। जानता है कि पाप व पुण्यकर्मोंकी जंजीरें जबतक नहीं काटेंगे, आत्मा स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा।

आठों कर्मोंकी जंजीरोंको बांधनेवाले कषायभाव हैं। उन्हींमें यह सञ्ज्वलन माया भी है। इसके उदयसे बहुत सूक्ष्म कपटकी तरंग पानीमें लकीरके समान भावोंमें उठती है फिर तुर्त मिट जाती है यथार्थ शुद्ध चारित्रको मलीन कर देती है।

छुड़ाए, आत्माके भीतर बधनी हैं, उन उन भावोंको मिटाना ही स्वतन्त्रता-प्राप्तिका उपाय है।

पचीस कषायोंमें सज्वलन लोभ भी है। उसका उदय सूक्ष्म-साम्पराय दशवें गुणस्थान तक रहता है। कुछ राग अशका मैल प्रगट रहता है, जिससे पूर्ण नमूनेदार वीतरागभाव नहीं होने पाता। यद्यपि यह कषाय पानीकी लकीरकी तरह तुर्त मिट जानेवाली है, तथापि इसका होना ज्ञानावरणादि कर्मबन्धका हेतु है। अनन्तानुबन्धी लोभ-कषायके साथ जब इसका उदय मिथ्यादृष्टि जीवको होता है तब वह विषयभोगोंका तीव्र लोलुपी होता है। इस हेतु विषयभोगकी सामग्री व धन प्राप्त करनेमें वह न्याय अन्यायको, दया व प्रेमको, हित अहितको भूल जाता है। चाहे कितना भी बड़ा पाप करना पड़े, उसे ग्लानि नहीं आती है।

यह धनका ऐसा गुलाम बन जाता है कि धनका सग्रह करना ही उसका एक व्यसन होजाता है। न तो वह उचित कार्योंमें धन खरचता है न दान धर्ममें लगाता है। कोई २ विषय-लम्पटी विषय-भोगोंमें व नामवरी होनेमें खूब धनका व्यय करते हैं। ऐसे कितने ही जनी नामके लिये मदिर बनवाते, बिम्बप्रतिष्ठा कराते, गजरथ चलाते, यात्रा सघ निकालते, कोई २ मुनि व श्रावकके व्रत भी पालने लगते हैं। आशा यह होती है कि पुण्यके फलसे स्वर्गमें मनोज्ञ विषयभोग प्राप्त करू। ऐसे जीव कषायके बधनमें और भी अधिक जकड जाते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुके मुखारविंदसे धर्मकी अमृतमई वाणीका पान कर परम सन्तोषित होजाता है। और यह

इस संकल्प कर लेता है कि किसी तरह कर्मबंधनसे मुक्त होजाऊं। उसको श्री गुरु बताते हैं कि बंधक काटनेका मुख्य शस्त्र सम्यग्दर्शन है।

इसकी प्राप्तिका उपाय भेदविज्ञानका मनन है।

इस उपदेशको मान्य करके वह भव्य परिणामी आत्मा व अनात्माको भिन्न २ विचार करता है।

आत्मा स्वभावसे निर्मल है, ज्ञाता दृष्टा है, अविनाशी है, परम वीतराग है, परमानन्दमय है, अमूर्तीक है अनंतबलका धनी है, परम कृतकृत्य है, केवल है, अपनी सत्ताको भिन्न रखता है। मेरे आत्माके साथ अनादिसे मल रखनेवाले कार्मण व तैजस शरीर बिलकुल मुझसे भिन्न पुद्गल द्रव्यके द्वारा निर्मापित हैं। तब उनके सर्व कार्य या फल भी मुझसे भिन्न हैं। सर्व शुभ व अशुभ भाव भी व सर्व तीन लोक सम्बन्धी जीवके बाहरी व भीतरी अशुद्ध अवस्थाएं भी मुझसे भिन्न हैं। मैं सिद्ध पुरुष परमात्मा हूं, उसके सिवाय कुछ नहीं हूं। इस तरह भेद विज्ञानके मनन अभ्याससे एक समय आता है तब कारण परिणामोंके द्वारा यह मिथ्यात्वी भी वमन कर सम्यक्ती होजाता है। स्वतंत्रताकी सड़क पर जाकर स्वच्छन्दता पाजाता है। सतत आनन्दमय होकर जीवन सुखी रखता है।

८७–रति नोकषाय।

एक स्वतंत्रताप्रिय मानव परतंत्रताकारक कारणोंको विचार करके मिटानेका प्रयत्न कर रहा है। जिन भावोंसे कर्मोंका बंध होकर संसारमें भ्रमण करना पड़े उन कारणोंको मिटाना ही एक बुद्धिमानका परम कर्तव्य है।

पच्चीस कषाय बन्धकारक भाव हैं। उनमें रति नोकषाय भी है। रतिके उदयके साथ लोभ कषायका भी उदय रहता है। लोभकी सहायतासे यह काम करती है। इसीसे इसे नोकषाय कहते हैं। इसके उदयसे जलरेखाके समान रागभाव होता है व मिट जाता है। अप्रमत्त ध्यानमें लीन साधुओंको व श्रावकोंको यह ध्यानसे गिरा नहीं सकती है, इतनी निर्बल है। परन्तु प्रमत्त साधुओं व श्रावकोंको यह ध्यानसे हटाकर शिष्योंमें, पुस्तकोंमें, या कुटुम्बमें व मित्रोंमें रतिवान बना देती है, वीतरागभावसे गिरा देती है। मिथ्यात्वी जीव अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ जब रति नोकषायका उदय पाता है तब यह विषयोंकी इच्छानुकूल सामग्री पाकर आसक्त होजाता है, उन्मत्त होजाता है, धर्मको व आत्मोन्नतिको बिलकुल भूल जाता है। उसे पांचों इंद्रियोंके विषय ही प्यारे लगते हैं। उनकी प्राप्तिके लिये, उनकी रक्षाके लिये, बाधकको हटानेके लिये यह महान पाप करते हुए संकोच नहीं करता है, सातों व्यसनोंमें फँस जाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव इस नोकषायके अनुमानको मिटानेके लिये श्रीगुरुसे शिक्षा पाता है कि वीतराग भावका लाभ करो, उसके लिये भेदविज्ञानके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन करो, तब वह भव्यजीव एकांतमें बैठकर मनन करता है कि यह मेरा आत्मा अन्य आत्माओंसे भिन्न है। पुद्गलके परमाणु व स्कन्धोंसे जुदा है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंसे भिन्न है। कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मसे, रागादि भाव कर्मसे, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है। यह ज्ञानका सागर है, शांतिका उदधि है, आनंदका समूह

है, परम अमूर्तीक है अविनाशी है असख्यात प्रदेशी होकर भी मेरे शरीर आकार है, शरीर मन्दिर है, उसमें आत्मादेव विराजमान है। शुद्ध स्फटिक सार है या शुद्ध जलमय है। ऐसा ध्यान २ कारण लब्धिको पाता है तब सम्यक्ती होकर आत्माका दर्शन पाकर परम सतोषित होजाता है। फिर तो यह जब चाहे तब अपनी आत्म-भावामें स्नान करके परमानन्दका लाभ करता है।

८८-अरति कषाय।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके विकासके लिये परतंत्रता कारक कर्मोंके क्षयका व सत्ताका उद्यमी होकर कर्मबंधके कारणोंका विचार करके उनके मिटानेका उद्योग कर रहा है।

पचीस कषाय भावोंमें अरति नोकषाय भी बड़ी हानिकारक है। इसके उदयसे एक प्रकारका अरुचिकर भाव होजाता है, जिससे धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंके साधनमें उपयोग नहीं लगता है। आलस्य रूप अरति भाव पैदा होजाता है। यह एक तरहका अरति ध्यानमय भाव है। इसका जब उदय अपमत्त गुणस्थानवर्ती व आठवें गुणस्थानवर्ती साधुके होता है वह इतना मन्द होता है कि साधुके ध्यान करते हुए इसका स्वाद नहीं आता है परन्तु केवलज्ञानी इसके उदयसे मात्र मलीनताको जानते हैं। छठे प्रमत्त व पांचवें देशविरत गुणस्थानवर्ती साधुके भीतर यह ऐसा विकार उत्पन्न करती है कि एक अन्तर्मुहूर्त व अधिकके लिये उनका मन भी क्दाइर धर्म व कर्ममें उदास होजाता है। परन्तु साधुके जलरेखाके समान तुर्त मिट जाती है। श्रावकके बालूकी रेखाके समान कुछ काल पीछे मिटती है।

मिथ्यात्वीके मन तानुबंधी भाव व क्रोधके साथ जब इसका उदय होता है तब वह धार्मिक कार्योंसे तीव्र अरुचि करता है। आलस्यमें डूबकर धनको नहीं कमाता। व शरीरकी रक्षाके व नामके भोग भी नहीं करता है।

जिन किन्हीं बाहरी आदमियोंके कारण सकट होनेसे उदासी आई है उनके नाशका विचार करके तीव्र पापकर्म बांधता है। जीवनको वृथा खोकर वह अज्ञानी पशु आयु बांधकर एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय तक तिर्यंच होजाता है।

भद्र मिथ्यात्वी जीव श्री गुरुसे आत्मकल्याणका मार्ग जानकर व मोहके दमनका उपाय एक आत्माका मनन है, जो श्रेय विज्ञानके द्वारा किया जाता है, ऐसा समझ कर निरंतर एकांतमें तिष्ठकर भेद विज्ञानके द्वारा यह विचारता है कि मेरी आत्मा स्वयं भगवान, अविनाशी अमूर्तीक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तबली परम सुखी, परम शान्त, परम कृतकृत्य, परम सन्तोषी है। मेरे ही शरीर मंदिरमें आत्मदेव विराजमान है। वह उनको रोककर वारवार आत्माके भीतर बुद्धिका प्रवेश करता है। इस उपायसे करणलब्धि द्वारा सम्यग्दर्शनकी झलका कर आत्माका साक्षात्कार पाकर निश्चय कर लेता है कि मैं अवश्य स्वतंत्र होजाऊंगा, परम सन्तोषी होजाता है।

८९–शोक नाकषाय।

एक ज्ञानी परतन्त्रताकारक भावोंको विचारकर उनसे बचनेका उद्यम कर रहा है। कर्मोंका सयोग स्वरूपके पूर्ण भोगमें बाधक है।

अतएव कर्मरूप धनको काटकर स्वतंत्र होना जरूरी है। पचीस कषायोंमें शोक भी बहुत ही बाधक है। इष्टवियोगसे अनिष्ट संयोगसे व पीडाके परिणामोंमें शोकका उदय होजाता है तब प्राणी असाता वेदनीय कर्मको बांधता है। वास्तवमें शोक करना मूर्खता है।

यह शोक नोकषाय सज्वलन कषायके साथ आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक रहता है। परन्तु वहां इतना कम होता है कि ध्यानी साधुके अनुभवमें नहीं आता है।

प्रवृत्ति मार्गी अविरत सम्यक्ती देशविरति व प्रमत्तविरत साधुओंको धर्मकी श्रद्धा सहित होता है। उनके शोकका उदय किसी इष्ट वस्तुके न होनेपर हो जाता है। साधुओंके तो जलरेखाके समान तुर्त मिटनेवाला होता है। तथापि कुछ देरतक किसी गुरु या शिष्य या पुस्तकके खो जानेका ख्याल रहता है। बालू रेतके समान शोक रहता है। आरम्भी गृहस्थोंको चेतन व अचेतन परिग्रहके वियोगपर भी शोक हो जाता है। यही हाल व्रत रहित गृहस्थोंका होता है। जिनका शोक हलकी रेखाके समान देरमें मिटनेवाला होता है।

सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञानके मननसे शोकके मैलको धो डालता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानीको अनन्तानुबंधी कषायके साथ शोकका उदय बड़ा ही शोकित बना देता है। व इष्ट पदार्थके वियोगमें घबड़ाकर प्राण तक दे देते हैं व मरते समय कष्टसे मरकर पशुगतिमें चले जाते हैं। शोकके कारण उन मानवोंका जीवन बहुत ही निरर्थक वीत जाता है। व धर्म, अर्थ काम, मोक्ष चारों शुद्ध पदार्थोंके लिये पशु हो जाते हैं। शोक कषाय कर्मका जोर हटानेके लिये भव्य मिथ्यादृष्टी जीव

श्रीगुरुसे उपाय समझते हैं कि भेदविज्ञानका मनन ही कषायके अनुभागको सुखाता है।

तब वे एकान्तमें बैठकर आत्माका स्वभाव अनात्मासे भिन्न विचार करते हैं कि आत्मा स्वभावसे अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, परम शान्त, परमानंदमई, निर्विकारी, अनन्तबलका धनी है। इसकी सत्ता अन्य आत्माओंसे, सर्व पुद्गलोंसे, धर्म द्रव्यसे, अधर्म द्रव्यसे, आकाशसे, कालाणुओंसे निराली है। यह ज्ञानावर्णादि आठों कर्मोंसे, रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे निराला है। जैसा मेरा आत्मा है वैसा ही सर्व प्राणियोंका आत्मा है। वह ज्ञानी होकर सम भावको जागृत करता है। इस तरह वीतरागताके अंगोंको बढ़ाकर वह करणलब्धिको पाकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। स्वानुभवकी अग्नि जलानेकी रीति विदित हो जाती है। इसी उपायसे यह जीवनको आनन्दमय बनाकर तृप्त रहता है और धीरे धीरे स्वतंत्रताकी ओर बढ़ता जाता है।

९०—भय नोकषाय।

एक ज्ञानी अपने आत्माको स्वतन्त्र करनेका उद्यमी होता हुआ परतन्त्रताकारक कर्मोंके बंधनोंसे छूटना चाहता है। जिन भावोंसे कर्मोंका बंधन होता है उनको विचार करके उनके दूर करनेका प्रयत्न करता है।

नोकषायोंमें भय नोकषाय भी बहुत ही कायर बना देती है। इसका उदय आठवें गुणस्थान तक रहता है। तौभी साधुको सातवें न

है। उसे आत्माके अमरत्वका निश्चय नहीं होता है तब मरणको ही अपना मरण समझ लेता है। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे कषायके नाश करनेकी दवा समझता है कि एक ही दवा कषाय मिटानेकी है, और वह उत्तम आत्माका मनन है।

इसलिये वह भव्य जीव एकांतमें बैठकर थिरताके साथ अपने आत्माके स्वभावको सबसे भिन्न विचारकर मैं ज्ञानादृष्टा, आनन्दमई, परम शांत, अविनाशी शुद्ध आत्मा हूं। कर्मोंके संयोगवश जो आत्मामें रागद्वेषादि भाव या अशुभ या शुभ भाव होते हैं ये सब मेरे निज स्वभाव नहीं हैं। न पाप पुण्य कर्म मेरे हैं, न यह कोई शरीर मेरा है। मेरा तो मेरा ही स्वभाव है। वह अभेद व अखण्ड है, अमिट व अविनाशी है, परम वीतराग है। इस तरह मनन करते करते वह कभी मिथ्यात्व कर्मको उपशम करके सम्यग्दृष्टी होजाता है। तब वह ज्ञानी होकर परम निर्भय होजाता है। उसके भीतर यही श्रद्धा रहती है कि उसका आत्मा सदा भयरहित है। उसे कोई भी नाश नहीं कर सक्ता है। इस सम्यक्तके प्रभावसे वह अपना जीवन परम सुखी बना लेता है।

९१–जुगुप्सा नोकषाय।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे छूटकर यह मनन करता है कि स्वतंत्रताका लाभ कैसे किया जाय। स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंका संयोग है। उन कर्मोंका सम्बन्ध रागादि कषाय भावोंसे होता है तब उनका क्षय रागादि रहित वीतराग भावसे होता है। इन २५ प्रकार

कषायोंमें जुगुप्सा नोकषाय भी है जिसके उदयसे अपने भीतर घृणप्प नका व परकी तरफ ग्लानिका भाव होता है।

यद्यपि इन नोकषायका उदय आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक रहता है तथापि अप्रमत्त दशामें वह इतना कम है कि ध्याता मुनिके मनमें कुछ भी विकार नहीं पैदा होता है। प्रमत्तविरत छठे गुणस्थान तक यह ग्लानिका भाव पैदा कर देता है। साधुके भीतर यह जलमें लकीरके समान होता है जो तुर्त मिट जाता है।

मिथ्यादृष्टीके इसका उदय अनंतानुबंधी मानके साथ होता है। तब वह अपने रूप, बल, धन, विद्या, अधिकारका व अपने कुल व जातिका महान अभिमान करके दूसरोंको बहुत तुच्छ दृष्टिसे देखता है। गरीब दीनोंकी तरफ कठोर भाव रखकर उनका तिरस्कार करता है। उपकार करना तो दूर ही रहा, वह अपनेको बड़ा पवित्र समझता है। दूसरोंको अपनेसे योग्य आचरण रखनेपर भी अपवित्र समझता है।

सम्यग्दृष्टी अविरत व देशविरत भावधारीके भीतर भी इस नोकषायका उदय हो जाता है। वह श्रद्धानकी अपेक्षा इस भावको कर्मकृत जानकर त्यागनेयोग्य समझता है। चारित्रकी अपेक्षा कभी २ ग्लानि भाव कुछ देरके लिये आ जाता है, उसको यह भेदविज्ञानके शस्त्रसे काटनेका उद्योग करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरु द्वारा कषायोंके जीतनेका उपाय समझते हैं। वह उपाय एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपपर मनन है। वह निरन्तर एकांतमें बैठकर यह मनन करता है कि मैं शुद्धात्मा हूं, ज्ञाता दृष्टा [illegible] परम अतींद्रिय हूं, वीतराग हूं, परमानंदमई

हू, मेरे स्वभावमें रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म नहीं हैं, मैं एकाकी अनन्त गुण पर्यायवश परमात्मा परमेश्वर हू। इस तरह मनन करते हुए वह सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोको हटा देता है और आत्माके प्रकाशका दर्शन पाकर परम तृप्त व आनंदित होजाता है। स्वतन्त्रता मिल ही गई ऐसी गाढ रुचि होजाती है।

९२–स्त्रीवेद नोकषाय।

स्वतन्त्रताका अभिलाषी जीव कर्मोंकी शृखलाको तोडना चाहता है। कर्मकी जजीरें कषायोंके वेगसे जकडी जाती हैं। इन कषायोंका क्षय करना जरूरी है।

२५ कषायोंमें स्त्रीवेद नोकषाय भी है। इसका उदय नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होता है, परन्तु नौमेमें इतना भेद होता है कि शुक्ल ध्यानधारी शुद्धोपयोगीके भावोंमें कोई विकार नहीं पैदा होता है। छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधुके तीव्र उदय संभव है। तब मुनिके सज्वलन लोभके उदयके साथ कुछ विकारभाव पैदा होजाता है। परन्तु वह जलमें रेखाके समान तुर्त मिट जाता है। मिथ्यादृष्टी जीवके अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ जब इस वेदका उदय होता है तब वह स्त्री सम्बन्धी कामविकारसे आकुलित होजाता है। और नाना प्रकारके हाव भाव चेष्टा करके पुरुषके साथ रमण करनेकी कुत्सित भावना किया करता है। जिससे वह शात ब्रह्मचर्यके भीतर रमण नहीं कर सकता है। कामविकार मनको क्षोभित करके अन्धा बना देता है। तब एक स्त्री परपुरुष रत होजाती है। स्त्रीवेदका तीव्र

कषायोंमें जुगुप्सा नोकषाय भी है जिसके उदयसे अपने भीतर बहस्प नका व परकी तरफ ग्लानिका भाव होता है।

यद्यपि इन नोकषायका उदय आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक रहता है तथापि अप्रमत्त दशामें वह इतना कम है कि ध्याता मुनिके मनमें कुछ भी विकार नहीं पैदा होता है। प्रमत्तविरत छठे गुणस्थान तक यह ग्लानिका भाव पैदा कर देता है। साधुके भीतर यह जलमें रेखाके समान होता है जो तुर्त मिट जाता है।

मिथ्यादृष्टीके इसका उदय अनंतानुबंधी मानके साथ होता है। तब वह अपने रूप, बल, धन, विद्या, अधिकारका व अपने कुल व जातिका महान अभिमान करके दूसरोंको बहुत तुच्छ दृष्टिसे देखता है। गरीब दीनोंकी तरफ कठोर भाव रखकर उनका तिरस्कार करता है। उपकार करना तो दूर ही रहा, वह अपनेको बड़ा पवित्र समझता है। दूसरोंको अपनेसे योग्य आचरण रखनेपर भी अपवित्र समझता है।

सम्यग्दृष्टी अविरत व देशविरत श्रावकोंके भीतर भी इस नोकषायका उदय हो जाता है। वह श्रद्धानकी अपेक्षा इस भावको कर्मकृत जानकर त्यागनेयोग्य समझता है। चारित्रकी अपेक्षा कभी २ ग्लानि भाव कुछ देरके लिये आ जाता है, उसको यह भेदविज्ञानके शस्त्रसे काटनेका उद्योग करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुके द्वारा कषायोंके जीतनेका उपाय समझते हैं। वह उपाय एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपपर मनन है। वह निरन्तर एकान्तमें बैठकर यह मनन करता है कि मैं शुद्धात्मा हूं, ज्ञाता दृष्टा निर्विकार हूं परम अतींद्रिय हूं वीतराग हूं, परमानंदमई

हू, मेरे स्वभावमें रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म नहीं हैं, मैं एकाकी अनंत गुण पर्यायवश परमात्मा परमेश्वर हू। इस तरह मनन करते हुए वह सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंको हटा देता है और आत्माके प्रकाशका दर्शन पाकर परम तृप्त व आनन्दित होजाता है। स्वतंत्रता मिल ही गई ऐसी गाढ रुचि होजाती है।

९२–स्त्रीवेद नोकषाय।

स्वतंत्रताका अभिलाषी जीव कर्मोंकी शृखलाको तोडना चाहता है। कर्मकी जंजीरें कषायोंके वेगसे जकडी जाती हैं। इन कषायोंका क्षय करना जरूरी है।

२५ कषायोंमें स्त्रीवेद नोकषाय भी है। इसका उदय नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होता है, परन्तु नौमेमें इतना भेद होता है कि शुक्ल ध्यानधारी शुद्धोपयोगीके भावोंमें कोई विकार नहीं पैदा होता है। छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधुके तीव्र उदय संभव है। तब मुनिके सज्वलन लोभके उदयके साथ कुछ विकारभाव पैदा होजाता है। परन्तु वह जलमें रेखाके समान तुर्त मिट जाता है। मिथ्यादृष्टी जीवके अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ जब इस वेदका उदय होता है तब वह स्त्री सम्बन्धी कामविकारसे आकुलित होजाता है। और नाना प्रकारके हाव भाव चेष्टा करके पुरुषके साथ रमण करनेकी कुत्सित भावना किया करता है। जिससे वह शांत ब्रह्मचर्यके भीतर रमण नहीं कर सकता है। कामविकार मनको क्षोभित करके अन्धा बना देता है। तब एक स्त्री परपुरुष रत होजाती है। स्त्रीवेदका तीव्र

उदय नाहरी निमित्तोंके आधीन होता है। कामभावसे प्रेरित स्त्री वस काम भावके निमित्त बना लेती है, नानाप्रकारका शृङ्गार करती है व स्त्री भूषणोंको पहनती है, बाहरी खोटी चेष्टा बताती है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव इस कामविकारके पैदा करनेवाले कषायके प्रबलके लिये श्री गुरुसे आत्मज्ञानकी औषधि समझता है और एकान्तमें बैठकर भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माके स्वभावका मनन करता है।

मेरा आत्मा स्वभावसे शुद्ध अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, परम शांत, निराकार परमात्मा सम है। यही वास्तवमें परमात्मा है। यह स्पर्श, रस, गंध वर्णसे रहित है। रागद्वेषादि भावोंसे रहित है। संसारकी दशाओंसे रहित है पाप पुण्यके संयोगसे रहित है। यह जैसा शुद्ध है वैसे सब आत्माएं शुद्ध हैं। ऐसा विचार करके समभावका अभ्यास करता है। इसीके अभ्याससे उसका सम्यक्त रोधक कर्म उपशम होता है और यह आत्माका साक्षात्कार पाकर सम्यग्दृष्टी होजाता है, परम तृप्त व परम सुखी होजाता है।

९३–पुरुषवेद।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी प्यारी स्वतन्त्रताके लाभ हेतु बाधक कारणोंको विचार करके हटानेकी चेष्टा करता है। कर्मोंके बंधके मूल कारण मोहनीय कर्मके भेद हैं। चारित्र मोहनीयके पच्चीस भेदोंमें पुरुषवेद भी है जिसके उदयसे कामविकार ऐसा पैदा हो जाता है, जो यह प्राणी स्त्रीसे कामसेवन करना चाहता है। इसका उदय अनि

वृत्तिकरण नौमें गुणस्थानके सवेन भाग तक है, परन्तु सातवेंसे यहांतक इतना मद उदय जलमें रेखाके समान है कि साधुके परिणाममें विकार नहीं होता है, क्योंकि यहां शुक्लध्यान होता है या सातवेंमें उत्तम धर्मध्यान होता है। छठे गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टीके भी कामविकार उठ खड़ा होता है, उसे साधु ज्ञान वैराग्यके बलसे मिटाते हैं।

गृहस्थी श्रावक भी कामविकारको निन्दनीय समझता है व काम भावको मिटाना चाहता है, परन्तु स्त्रीके निमित्त होनेपर व पुरुषवेदके तीव्र उदयसे लाचार हो, स्त्रीसेवनके प्रपञ्चमें पड़ जाता है। इस कार्यको अपराध जानता है, क्योंकि उस समय स्वात्माराधनसे दूर रह जाता है।

यह मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबंधी लोभके उदयके साथ साथ पुरुषवेदका तीव्र उदय पाकर आपसे बाहर होजाता है। उसको श्रद्धान भी यही है कि विषयसुख सच्चा सुख है। अतीन्द्रिय सुखकी रुचिसे शून्य है, इसलिये स्व स्त्री, पर स्त्री, वेश्याका विवेक छोड़कर अपनी वासना शांत करके पशुके समान आचरण करता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुसे ज्ञान प्राप्त करके अतीन्द्रिय सुखकी चाह पैदा करते हैं और सत्तामें बांधे हुए कर्मोंकी शक्ति कम करनेके लिये उपाय समझता है, वह उपाय एक वीतराग भावका ही लाभ है।

वीतराग भाव एक गुण है, जो आत्माके स्वभावमें रहता है। इसलिये उस वीतराग भावके लिये यह मुमुक्षु जीव अपने आत्माके मूल द्रव्यका स्वरूप विचारता है कि यह आत्मा अमूर्तीक, ज्ञातादृष्टा है परम शांत है, निर्विकार है, परमानन्दमय है, सम्यक्त गुणोंका व

व वैराग्यसे काम विकारको जीतते हैं। पांचवें गुणस्थानमें काम विकार उत्पन्न होकर कुछ अधिक देर ठहरता है। चौथेमें और अधिक ठहरता है। ज्ञानी ब्रह्मचर्य व्रतके स्मरणसे इस विकारको यथाशक्ति जीतनका प्रयत्न करते हैं।

मिथ्यादृष्टी मोही जीवके भीतर अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ इस वेदका जब उदय होता है तब यह नपुंसक वेदधारी असैनी पंचेन्द्रियोंके समान मूर्छित होकर स्त्री पुरुषकी मिश्रित कामचेष्टा करके विकारी भावोंसे तीव्र कर्मबंध करता है और एकेन्द्रियादि पर्यायमें चला जाता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मका उपदेश सुनता है। कामभावको आत्मीक शांतिका परम वैरी जानता है। यह भी समझता है कि जबतक तीव्र कर्मोंका अनुभाग सत्तामें होगा तबतक उनका उदयमें आकर भावोंको विकारी बनाना शक्य है। यहां भी श्रीगुरु समझाते हैं कि अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपके मननसे सत्तामें बैठे हुए कर्मोंका रस सूख जाता है, तब यह उद्यम करके यह मनन करता है कि मैं एक अकेला आत्मा हूं, परम शांत हूं परम निर्विकार हूं, परमानंदमय हूं, पूर्ण ज्ञानदर्शनका सागर हूं, अनंत बलशाली हूं, परम अमूर्तीक हूं शरीररूपी मंदिरमें औदारिक, तैजस, कार्मण शरीरोंके भीतर परम तेजस्वी सूर्य समान ईश्वर स्वरूप विराजमान हूं। ऐसा बार बार मनन करनेसे यह जीव अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मोंको निर्बल कर देता है। वे ढीले पड़कर मुरझा जाते हैं,— तब यह सम्यक्ती होकर अपनी सम्पदाका आप स्वामी बन जाता है, पर सर्वचित्तसे बिल्कुल उदासीन होजाता है।

अन तरीर्य गुणका धारी है परम निराकुल है। शुद्ध स्फटिकके समान है। यही ईश्वर, परमात्मा, प्रभु, निरंजन व जिनेन्द्र देव है। यही सिद्ध है, यही अरहंत परमात्मा है। सब ओरसे उपयोगको खींचकर इस अपने शुद्ध स्वरूपमें मननकी धारावाही चेष्टा करता है। इसीसे करण लब्धिको पाकर झट ही सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका उपशम करके आत्मज्ञानी, आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टी होजाता है और तब संसारसे छूट करके स्वतन्त्रताके पथपर चलने लगता है। और सच्चे सुखका भोग करता है।

९४–नपुंसक वेद नोकषाय।

एक ज्ञानी आत्मा अपनेको पराधीन देखकर अतिशय उदासीन है व इस प्रयत्नमें है कि स्वाधीनताका लाभ करना ही चाहिये। पराधीनताका कारण कर्मोंका बंधन है। कषायोंसे ही कर्मोंमें स्थिति व फलदान शक्ति पड़ती है। इन कषायोंके विजयसे ही स्वतन्त्रताका लाभ है। २५ कषायोंमें नपुंसक वेद भी है। इस वेद नोकषायका उदय नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके वेद भाग पर्यंत होता है। परन्तु ८ वेंसे शुक्लध्यान व निर्विकल्प समाधि व शुद्धोपयोगकी धारा बहने लगती है। उस धारामें बहुत ही अल्प कामका विकार ध्यानसे ध्याताको पतन नहीं कर सक्ता, न कामभाव ही उठ सक्ता है। तथापि केवल-ज्ञान गम्य वेदके उदयकी मलिनता है सो जलमें रेखाके समान है।

छठे गुणस्थान तक वेदका उदय विकारभावको प्रगट पैदा करता है। परन्तु वह शीघ्र ही मिट जाता है। साधुजन भेदविज्ञानसे

व वैराग्यसे काम विकारको जीतते हैं। पांचवें गुणस्थानमें काम विकार उत्पन्न होकर कुछ अधिक देर ठहरता है। चौथेमें और अधिक ठहरता है। ज्ञानी ब्रह्मचर्य व्रतके स्मरणसे इस विकारको यथाशक्ति जीतनेका प्रयत्न करते हैं।

मिथ्यादृष्टी मोही जीवके भीतर अनंतानुबंधी लोभके उदयके साथ इस वेदका जब उदय होता है तब यह नपुंसक वेदधारी असैनी पचेन्द्रियोंके समान मूर्छित होकर स्त्री पुरुषकी मिश्रित कामचेष्टा करके विकारी भावोंसे तीव्र कर्मबंध करता है और एकेन्द्रियादि पर्यायमें चला जाता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मका उपदेश सुनता है। कामभावको आत्मीक शांतिका परम वैरी जानता है। यह भी समझता है कि जबतक तीव्र कर्मोंका अनुभाग सत्तामें होगा तबतक उनका उदयमें आकर भावोंको विकारी बनाना शक्य है। यहां भी श्रीगुरु समझाते हैं कि अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपके मननसे सत्तामें बैठे हुए कर्मोंका रस सूख जाता है, तब यह उद्यम करके यह मनन करता है कि मैं एक अकेला आत्मा हूं, परम शांत हूं परम निर्विकार हूं, परमानन्दमय हूं, पूर्ण ज्ञानदर्शनका सागर हूं, अनंत बलशाली हूं, परम अमूर्तीक हूं, शरीररूपी मंदिरमें औदारिक, तैजस, कार्मण शरीरोंके भीतर परम तेजस्वी सूर्य समान ईश्वर स्वरूप विराजमान हूं। ऐसा बार बार मनन करनेसे यह जीव अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मोंको निर्बल कर देता है। वे ढीले पड़कर मुरझा जाते हैं, तब वह सम्यक्ती होकर अपनी सम्पदाका आप स्वामी बन जाता है, पर सांविसे [illegible] धीन होजाता है।

९५–सत्य मनोयोग ।

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि अपनी प्यारी स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो। कर्मोंका बंध परतंत्रताकारक है। कर्मोंके बंधनके कारक मिथ्यात्व, अविरत कषाय व योग हैं। यद्यपि कषायसे कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग पड़ता है, परन्तु योगोंसे ही कर्मोंका आस्रव होता है व प्रकृति प्रदेश बंध पड़ता है।

आत्मामें एक कर्मको आकर्षण करनेकी शक्ति है जिसको योग-शक्ति कहते हैं। यह शरीर नामकर्मके उदयसे काम करता है। जब आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं। मनके विचार होते हुए, वचनोंके बोलते हुए, कायसे कोई काम करते हुए, आत्मा सकंप होगया है। इन ही कर्मोंका आना प्रकृति व प्रदेश बंध होता है। इसलिये योगोंका हलन चलन भी शत्रुओंके बुलानेके कारण हैं। जहां मन, वचन, कायके योग नहीं चलते हैं वहां कर्म नहीं आते हैं। मनके चार प्रकार योगोंमें सत्य मनोयोग है। यह सत्य मनोयोग सैनी पचेंद्री जीवको होसकता है जब किसी सत्य बातका विचार किया जाता है।

यह सत्य मनोयोग संकल्प विकल्पकी चंचलताकी अपेक्षा १२वें क्षीण गुणस्थान तक होता है व द्रव्य मनोयोगकी चंचलताकी अपेक्षा तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें भी होता है। जब यह योग कषायकी कालिमासे मैला नहीं होता है तब मात्र सातावेदनीय कर्मका आस्रव आता है वह भी ईर्यापथ होता है। कर्म आते हैं व चले जाते हैं, ठहरते नहीं हैं। मिथ्यादृष्टिका अभिप्राय मिथ्या वासनासे होता है। इसलिये उसका सत्य मनोयोग भी विशेष कर्मबंधका

ही कारण होता है। योगोंकी थिरताके लिये ज्ञानी सम्यक्ती जीव अपने शुद्ध आत्माका चितवन करते हैं। वे एकाग्र हो मनको आत्माके स्वभावमें लय कर देते हैं जिसमें शांत भाव पैदा होजावे और वीतरागताका कर्मोंके सुखानेमें कारण हो। योगोंको थिर करनेका अभ्यास ही योगाभ्यास है।

शुद्ध भावना ही शुद्ध योगका कारण है। मैं शुद्ध ज्ञातादृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, परमानन्द मय हूं, रागद्वेष मोहरहित हूं, यही भावना एकाग्रताका उपाय है। इसी भावनासे ही भद्र मिथ्यादृष्टिसे करणलब्धिकी प्राप्ति होती है व सम्यक्तवका लाभ होता है। मैं शुद्धात्मा हूं अन्य कोई नहीं हूं, यह भाव मोक्षका बीज है, परमानन्द दाता है। यही करनेयोग्य है और सब त्यागने योग्य हैं।

९६–असत्य मनोयोग।

ज्ञानी आत्मा किसी प्रकारसे परतंत्रताको मिटाकर स्वतंत्र होना चाहता है। वह जानता है कि कर्मोंके बंधनोंसे आत्मा परतंत्र रहता है। कर्मोंके आस्रवको रोकना जरूरी है। आस्रवका कारण देहका सकंप होना है। मन योग चार प्रकारका होता है। असत्य मनोयोग भी बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक रहता है। अबुद्धिपूर्वक असत्य विचारका संस्कार रहता है क्योंकि ज्ञान अल्प है। केवलज्ञान नहीं हुआ है। सैनी पंचेंद्रिय जीव किसी प्रयोजनवश असत्यका विचार करते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव असत्य कल्पनाओंसे जगतको मायाचार पूर्वक घोर अन्याय फैलाते हैं। महान कर्मका बंध करते हैं। सम्यग्दृष्टी चौथेसे

छठे गुणस्थान तक भव्योंके भीतर ज्ञानके कर्मोंसे असत्य विचार हो जाते हैं, तब इतने अंश व भी हानिकारक ही हैं, असत्य विचार ही रहा कर। बुद्धिपूर्वक आत्माकी झलकके लिये यह मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरुसे यह समझकर कि आत्माकी शुद्ध भावोंके मननसे सत्तामें बैठे हुये दूषित होते हैं, यह भव्य जीव एकांतमें बैठकर निश्चयनयके द्वारा जमको परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा, अविकारी, आनन्दमय, वीतरागी, अमूर्तीक, शुद्ध, परम पवित्र, निरंजन, निर्दोष शुद्ध जलके समान ध्याता है। तब परिणामोंकी उन्नति होती जाती है। कुछ काल प्रमाद करनेसे वह करणलब्धिके परिणामोंको प्राप्त कर लेता है। और यकायक अन्धकारसे प्रकाशमें आजाता है, सम्यक्ती होकर सुखी हो जाता है।

९७-उभय मनोयोग।

ज्ञानी जीव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको पहचानकर उसकी कर्मबंध रूप दशासे उदासीन होरहा है। व यही दृढ़ भावना करता है कि मैं शीघ्र स्वतन्त्र होजाऊँ। कर्मोंका बंध योगोंसे व कषायोंसे होता है व कर्मोंका सब योग निरोधरूप शुद्धात्मानुभवसे होता है। पन्द्रह योगोंमें उभय मनोयोग भी है। इस योगमें सैनी प्राणी ऐसी बातोंको विचार करता है जिनमें सत्य व असत्य अभिप्राय मिला हुआ है। कषायकी प्रेरणासे ऐसा अभिप्राय छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होसक्ता है। इसके आगे बारहवें गुणस्थान तक यह योग है, सो केवलज्ञानके अभावमें अज्ञानजनित है, केवलज्ञानीके उभय मनोयोग नहीं होसक्ता है।

छठे गुणस्थानवर्ती साधु किसी व्यवहार धर्मकी प्रभावनाके हेतु कभी उभय मनोयोगसे प्रवृत्ति कर सक्ते हैं। आरम्भी श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टी गृहस्थ न्यायपर चलते हुए भी कभी कभी मिश्रित मनोयोग कर लिया करते हैं। सत्यके साथ असत्यको मिलानेका अभिप्राय करना पड़ता है तौभी ये निन्दा गर्हासे मुक्त हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानीसे सारा सत्य है वह तो अपना लौकिक स्वार्थ अन्यायपूर्वक भी करता रहता है तब जूठ सच मिला हुआ बहुतमा विचार करता है। कषायोंकी तीव्रतासे घोर पापकर्म बांधता है।

भद्र मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरुसे भेद विज्ञानका मंत्र सीखता है, जिससे उस आत्माका असत्य स्वभाव सर्व परभावोंसे भिन्न नजर आता है। प्रतीति पूर्वक वह लगातार मनन करता है कि मैं आत्मा हू, निर्विकार हू, ज्ञाता दृष्टा परम शांत, परमानन्दमय हूं। मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी अन्य आत्मासे किसी पुद्गलके परमाणुसे व धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंसे रागद्वेषादि भावकर्मोंका शरीरादि कुटुंब व मित्रोंसे कोई भी नहीं है। सर्व पासे उदास होकर तब सम्यग्दर्शनके सन्मुख रहनेवाला भद्र जीव वार वार अपने ही आत्माका मनन करता है जब धीरे २ कषायका बल घटता जाता है। एक समय आजाता है जब यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्नका प्रकाश घटता जाता है तब यह परम सन्तोषी होजाता है तब इसको स्वतंत्रता देवीका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे नित्य दर्शन होता है। यह शीघ्र ही पूर्ण स्वतंत्र हो जायगा। वास्तवमें शुद्धात्माका मनन ही परम कार्यकारी है, यही सुखशांतिका स्रोत है, यही परम मंगलकारी है व यही सब तरहसे

करने योग्य काम है। जो अपने आत्मीक घरमें विश्राम करते हैं वही सुखी हैं।

९८-अनुभय मनोयोग।

एक ज्ञानी आत्मा अपने अनादिकालीन शत्रुओंके नाशके लिये उद्यम कर रहा है। जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उनको पहचानकर उनके मिटानेका प्रयत्न करना जरूरी है। १५ योगोंमें अनुभय मनोयोग भी है। किसी ऐसी बातका विचार करना जिसको सत्य व असत्य कुछ भी नहीं कह सकते, अनुभय मनोयोग है। बुद्धि-पूर्वक यह योग छठे प्रमत्त गुणस्थान तक होता है। अबुद्धिपूर्वक इसका सम्बन्ध बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक है। यद्यपि तेरहवें सयोग गुणस्थानमें भी यह है, तथापि श्रुतज्ञान व मतिज्ञान न होनेसे कुछ कार्यकारी नहीं है। द्रव्य मनोयोग है इस अपेक्षा भाव मन भी कहा हो, ऐसा दीखता है वहां मनके संकल्पविकल्प नहीं है।

अनुभय मनोयोग मिथ्यादृष्टीके भी होता है, परन्तु उसका आशय मिथ्यात्व सहित है। इससे उसके भीतर जो किसी बातके जाननेकी इच्छा होती है या कुछ प्रगट करनेकी इच्छा होती है, उसमें विषय कषायोंकी पुष्टिका ही अभिप्राय रहता है, इससे वह संसारवर्द्धक ही कर्मास्रव करता है।

सम्यग्दृष्टी चौथेसे छठे गुणस्थान तक जो प्रश्नादि करनेका विचार करता है उसमें अवश्य स्वतन्त्रताका साधन ही है। कषायवश भी यह अनर्थक विषय कामके सम्बन्धमें भी विचार करता

है। उस समय भी उपयोगकी चचलता उसकी कामनाके सिवाय होती है। इसलिये वह संसारवर्धक बंधका पात्र नहीं होता है।

भव्य मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुसे यह समझता है कि अनुभय मनोयोग भी कर्मके उदयका कार्य है, आत्माका स्वभाव नहीं अतएव त्यागनेयोग्य है, ग्रहण करनेयोग्य है। अपने ही आत्माका सर्वस्व है जो पूर्ण ज्ञान, दर्शन वीतराग व आनंद स्वभाव है, जो आत्मा बिलकुल अमूर्तीक है, सर्व सांसारिक विकारोंसे बाहर है। कर्मबंध चौदह गुणस्थानोंसे भी प्रतीत है। केवल स्वसंवेदनगम्य एक शुद्ध आत्मीक भाव है। इसी भावकी भावना करनेसे पूर्वबद्ध कर्मोंका आस्रव रोकता है, आत्माके मननके प्रतापसे मिथ्यात्व विषका वमन हो जाता है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्रगट होजाता है। इस रत्नके प्रगट होतेही ज्ञानका सच्चा प्रकाश होजाता है, तब स्वतंत्रताका दर्शन अपने ही भीतर होने लगता है, यही मोक्षका सोपान परम सुखका स्थान है।

९९—सत्य वचन योग।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतंत्रताका लाभ चाहता हुआ परतंत्रता कारक कर्मोंसे पीछा छुड़ाना चाहता है। नए कर्मोंके आनेको रोकनेके लिये उनके कारण आस्रव भावोंका विचार करके उनसे वैराग्यभाव लाता है। १५ योगोंमें सत्य वचन योग भी है।

जहां सत्य, पर पीड़ा रहित, हितकारी अभिप्राय सहित वचन कहा जावे वह सत्य वचन है। सत्य वचनको कहते हुए आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना व कर्म नोकर्म आकर्षण शक्तियोगका काम

कहना सत्य वचन योग है। यह सत्य वचन योग तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। यद्यपि केवलीकी वाणी अनुभय वचन योग है तथापि श्रोताओंके ग्रहणकी अपेक्षा सत्य वचनमई है।

छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान तक अभिप्रायपूर्वक व इच्छापूर्वक सत्य वचनका प्रयोग होता है। सम्यग्दृष्टीकी भूमिका ज्ञानमई होती है। भेदविज्ञानकी कलासे वह शुभोपयोगसे प्रेरित सत्य वचन कहता है। तथापि वह वचनके सर्व प्रकारके वर्तनसे परम उदास रहता है। उसका भीतरी अभिप्राय एक मात्र अपने शुद्धात्माका ही अनुभव व परमानंदका योग है। वह कर्मोदयकी बरजोरीसे वचन बोलता है। मिथ्यादृष्टी सैनी भी सत्य वचन योग रखता है। पर पीड़ाकारी वचन नहीं बोलता है तथापि मैं सत्यवादी हूं इस अहंकारसे मुक्त नहीं होता है। इसलिये संसारके कारणीभूत बन्धसे नहीं छूटता है।

यह मिथ्यादृष्टी श्री गुरुके द्वारा कर्मास्रवके कारण योगोंकी प्रणालिकाको बंद करनेके लिये आत्माके शुद्ध स्वरूपके मननके उपाय सीख लेता है। यह भव्यजीव सम्यक्तके सन्मुख होता है तब यह मनन करता है कि मैं केवल एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूं। मेरा स्वभाव परम निरञ्जन, निर्विकार, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यवान अमूर्तीक है। रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म सब निराले हैं। मेरे आत्माकी सत्ता सर्व आत्माओंसे व पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे भिन्न है। सिद्ध सम शुद्ध स्वरूपका मनन करनेसे परम वैराग्यकी धारा बहती है। करणलब्धिका लाभ होता है। यकायक सम्यक्त ज्योतिका प्रकाश होजाता है। तब इसको अपने आत्माका

साक्षात्कार हो जाता है। यह परम तृप्त होजाता है। आनन्दामृत पीनेकी कला प्रगट होजाती है। तब स्वतन्त्रतादेवीका दर्शन करके परम सन्तोषी रहता है।

१००—असत्य वचन योग।

एक स्वतन्त्रता वाछक ज्ञानी भलेप्रकार जानता है कि जबतक कर्मबंधके कारक भावोंको नहीं रोका जायगा तबतक परतंत्रताकारी कर्मोंका आना बन्द नहीं होगा।

१५ योगोंमें असत्य वचन योग भी है। परपीडाकारी व परको अहितकारी वचन कहना असत्य वचन कहलाता है। उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंकी चंचलता होकर कर्माकर्षण करनेवाली भाव योग शक्ति कर्मोंको खींचती है।

यह असत्य वचन योग अबुद्धिपूर्वक बारहवें क्षीण मोह गुण-स्थान तक रहता है। प्रमादके वशीभूत होनेसे सम्यग्दृष्टी, श्रावक व साधुसे भी कभी असत्य वचन निकल जाता है। ये ज्ञानी महात्मा-गण अपने दोषको दोष जानते हैं। निन्दा गर्हा करके प्रतिक्रमण करते रहते हैं।

मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विषयासक्त असत्य वचनोंसे स्वार्थ साधन करता हुआ पर प्राणियोंको बहुत कष्ट देता है। दयाभाव रहित तीव्र कठोर भाव सहित होता है। इसलिये वह असत्य वचन योगके द्वारा तीव्र कर्मोंका बंध करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी श्री गुरुसे समझता है कि जबतक सत्तामें बैठे

हुए कषाय कर्मोका अनुभाग न सुखाया जायगा तब तक अस्त्य भापणका मैल दूर नहीं हो सक्ता है। वह यह भी समझता है कि इसका उपाय शुद्धात्माका मनन है। भेद विज्ञान द्वारा अपने आत्मामें परसे भिन्न यथार्थ आत्मद्रव्य पहचानना चाहिये कि यह आत्मा स्वभावसे परमात्माके तुल्य पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्रका धारी है। यह अविनाशी अमूर्तीक असंख्यातप्रदेशी शरीर व्यापक एक अनुपम द्रव्य है। यह न रागी है न द्वेषी है न मोही है। यह तो परम वीतरागी है। इस तरह निज आत्माका मनन करते करते काललब्धिके परिणामोंका लाभ होता है तब भद्र मिथ्यादृष्टी सम्यक्त बाधक प्रकृतियोंको उपशम करके सम्यग्दृष्टी होजाता है। अंधकारसे प्रकाशमें आजाता है। स्वतत्रताको निश्चयसे अपने पास ही रखकर परम सतोषी होजाता है।

१०१—उभय वचन योग।

ज्ञानी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वतत्रताका परम प्रेमी होकर बाधक कारणोंको हटाना चाहता है। विना विरोधी दलके दमनके किसीको स्वतत्रता प्राप्त नहीं हो सकती है। कर्मवर्गणाएं यद्यपि पुद्गल हैं तथापि जीवोंके राग द्वेष मोहादि भाव सुरोंके निमित्तसे अपनी उपादान शक्तिसे ऐसी प्रगटता करती हैं कि जीवके ज्ञानादि गुणोंका घात करती हैं व उसे शरीरमें कैद रहनेका साधन जोड़ देती है। इन कर्मवैरियोंका नवीन समट न हो इसलिये अशुभ भावोंको विचार कर दमन करना जरूरी है।

१५ योगोंमें उभय वचन योग भी है। सत्य वचनके साथ असत्यका मेल उभय वचनयोग है। इसका ठिकाना बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक है। छद्मस्थ होनेसे सातवेसे बारहवें तक अबुद्धिपूर्वक उभय वचन योग संभव है। बुद्धिपूर्वक उभय वचन योग छठे प्रमत्त गुणस्थान तक है। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ या प्रवृत्तिमार्गी मुनि किसी न्याय व धर्मयुक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिये, धर्मप्रचार व शिष्योंको सुमार्ग लानेके लिये असत्यको मिलाकर सत्य बोलते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टी व्रत रहित होनपर अर्थ व काम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कभी कभी उभय वचनसे काम लेता है। परन्तु फिर अपनी निंदा [illegible] है।

मिथ्यादृष्टी स्वच्छंद होकर विषय कषायकी पुष्टिके [illegible] वचन बोलता हुआ बड़ा आनंदित होता है जब उसका [illegible] हो जाता है। इस कारण वह अज्ञानी तीव्र कर्मका [illegible] है। सम्यग्दृष्टी संसारवर्धक कर्मको नहीं बांधता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव सत्तामें बैठे हुए कर्मोंकी [illegible] मंत्र श्रीगुरुसे सीख लेता है, जिससे वह आस्रव कर्मोंका ही [illegible] होसके। यह मंत्र एक भेदविज्ञानपूर्वक निज [illegible] है। वह एकांतमें बैठकर श्रद्धापूर्वक यह मनन करता है कि मैं मात्र एक ही शुद्धात्मा हूं। सर्व कर्मजनित विकारोंसे दूर हूं अविनाशी ज्ञाताद्रष्टा एक निराला तत्व हूं, न परभावका कर्ता हूं न परभावका भोक्ता हूं। अपने ही शुद्ध गुणोंमें नित्य वर्तन करनेवाला हूं। मेरा संबंध किसी भी परद्रव्य, परगुण, परपर्यायसे नहीं है। मैं एक अभेद [illegible] हूं। केवल [illegible] नित्य मनन करते

करणालब्धिके परिणामोंको प्राप्त करके सम्यग्दृष्टी होजाता है, स्वत त्रताको प्राप्त कर पूर्ण विश्वासपात्र हो जाता है। इससे जब चाहे तब अतींद्रिय आनंदका लाभ करता रहता है।

१०२–अनुभय वचनयोग।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका प्रेमी होकर आत्माके बाधक कर्म-शत्रुओंके विजयका उद्यम कर रहा है। जिन क्रियाओंसे व परिणामोंसे कर्मोंका संचय होता है उनका स्वरूप विचारकर उनसे वैराग्यभाव ला रहा है। १५ योगोंमें अनुभय वचनयोग भी है, जहां सत्य व असत्यकी कोई कल्पना मायाचार या आर्जव भावपूर्वक न की जासके। प्राकृतिक रूपमें वचनोंका प्रयोग हो वही अनुभय वचन है। इस अनुभय वचनके होते हुए भी आत्माके प्रदेश परिस्पन्द होते हैं व कर्म आकर्षणकारक योग शक्ति काम करती है। द्वेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय असैनी तक सबके अनुभय वचनयोग पाया जाता है। मन रहितके सत्य असत्यकी कल्पना नहीं होती है। केवली अरहन्तकी दिव्य ध्वनि भी अनुभय वचनयोग है।

केवलीके भाव मन सम्बन्धी संकल्प विकल्प नहीं होता है। कर्मोदयसे प्रकृति रूपमें वाणी खिरती है जैसे–सोते हुए प्राय मानव बड़बड़ाने लगते हैं। सैनी पंचेन्द्रियोंके भी अनुभय वचनयोग होता है। जब कोई वाणी ऐसी हो कि जिसमें सत्य व असत्यकी कोई कल्पना न हो जैसे आमंत्रिणी भाषा यहां आओ आज्ञा देना, याचनीय भाषा मुझे कुछ दीजिये, सूचनात्मक भाषा इसने यह सूचना की है आदि २।

सम्यग्दृष्टी जीवोंकी भूमिका ज्ञानमई होजानेसे उनके सर्व ही योगों जो आस्रव होता है वह ससारवर्द्धक नहीं है। किंतु मिथ्या-दृष्टी जीवोंकी भूमिका अज्ञानसे रगी हुई होती है, इसलिये उनका कर्मास्रव ससारवर्द्धक सापरायिक होता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मोपदेश सुनकर आत्मा अनात्माका विवेक प्राप्त करता है। आत्माको द्रव्य दृष्टिसे सिद्ध भग-वानके समान परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमानंदमय निर्विकार परम वीत-राग, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, गुणपर्यायवान, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्या-त्मक जैसाका तैसा जानता है। और यह भी समझता है कि वचनोंसे उनका स्वरूप संकेत रूप मात्र कहा जाता है। जब इंद्रियोंको व मनको रोककर आपसे आपमें ठहरा जाता है तब ही वह आत्मतत्व अपने अनुभवमें आजाता है। इस शिक्षाको गाठ बाधकर वह भद्र जीव नित्य दो घड़ी एकांतमें बैठकर आत्मा अनात्माका पृथक् पृथक् विचार करता है। इस भेदविज्ञानके अभ्याससे एक दिन वह सम्य-ग्दर्शन गुणका प्रकाश कर लेता है तब वह यथार्थमें स्वतन्त्रतादेवीका दर्शन पाकर कृतकृत्य होजाता है। वह सासारिक भूमिसे उल्लघकर मोक्षभूमिमें चलने लगता है।

१०३–औदारिक काययोग।

ज्ञानी आत्मा इस बातकी पूर्ण ही उत्कंठा कर चुका है कि आत्माको स्वतन्त्र कर देना चाहिये। स्वतंत्रताका बाधक आठ कर्मोंका संयोग है। प्राचीन कर्म जो आत्मध्यानसे हटाये जा सकते हैं। परन्तु

नवीन कर्मोंके आनेको रोकनेके लिये उन कारणोंको जानना चाहिये जिनसे कर्मोंका आस्रव होता है।

पन्द्रह योगोंमें औदारिक काययोग भी है। औदारिक शरीरके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका सम्बन्ध होकर योगशक्ति द्वारा कर्मोंका ग्रहण होता है।

यह औदारिक काययोग निगोद एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रिय तिर्यंचोंके, सर्व मानवोंके तेरहवें सयोग केवली जिन गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है। कषाय मिश्रित योग साम्परायिक आस्रव करता है। कषाय रहित योग केवल ईर्यापथ आस्रव करता है जिससे एक समयकी स्थितिवाले सातावेदनीय कर्मोंका ही आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि मर्यादारहित रागी,तथा अज्ञानी जीवोंका अभिप्राय मलीन व विषयभोगोंकी तरफ झुका होता है। वे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओंसे बाधित होकर अपना हित साधन करते हैं। वहां आत्महित कुछ भी नहीं होता है, इसलिये कषाय सहित औदारिक योग कषायके प्रमाणसे स्थिति अनुभाग बंध करता है।

सम्यग्दृष्टी जीवोंका भावानुराग स्वतन्त्रताकी ओर होता है इससे वे संसार भ्रमणकारी बंध नहीं करते हैं। वीतरागी सम्यग्दृष्टियोंके बुद्धिपूर्वक कषाय सहित औदारिक योग होता है जिससे अल्प बंध होता है। सराग सम्यग्दृष्टिके अशुभ शुभ दोनों ही उपयोग समान हैं। तदनुसार बंध होता है। मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायके विना संसारका कारण बंध नहीं होता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मका उपदेश सुनकर संसारसे

भयभीत होजाते है और ससारनाशक औषधि एक मुख्य सम्यग्दर्शन है ऐसा समझकर उसकी प्राप्तिका यत्न करते हैं। **भेद विज्ञान ही सम्यक्त होनेका उपाय है।**

इसलिये वह प्रयत्न करके यह भावना निरन्तर करता है कि मैं आत्मा द्रव्य हू, बिल्कुल अकेला हू, मेरा प्रदेश समूह अखण्ड है, मैं कभी बना नहीं, कभी बिगड़नेका नहीं। मेरा सम्बन्ध अनादिसे अनतकाल तक मेरे ही ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्रादि गुणोंसे है। मैं इन गुणोंको पीये बैठा हू, मै वास्तवमें अपने गुणोंका अभेद पिंड हू, मेरे साथ पुद्गलका कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गलमय ही सर्व पाचों शरीर है। रागादि विकार पुद्गलकी कलुषता है। मैं पूर्ण वीतरागी व पूर्ण आनदमय हू। मुझसे सर्व अन्य आत्माए व अन्य रूप पाचों द्रव्य निराले हैं। मैं तो स्वरूपसे परम शुद्ध हू। मै ही परम आत्मा हू, इस तरह ध्यात २ एक दिन आता है जब वह सम्यक्ती होजाता है, तब जो आनदका अनुभव पाता है वह वचन अगोचर है। वह स्वतत्र होनेका पूर्ण विश्वासी होजाता है।

१०४–औदारिक मिश्र काययोग।

ज्ञानी स्वतत्रताका प्रेमी होकर उन सब कारणोंको विचारता है जिनके कारणसे यह ससारी जीव कर्मवर्गणाओंका आस्रव करके बधनमें प्राप्त होता है।

१५ योगोंमें औदारिक मिश्र काययोग भी है। यह तिर्यंच व मानवोंको अपर्याप्त अवस्थामें चाहे एक श्वासके १८ वार जन्म मरण

करानवाले लब्ध्यपर्याप्त अवस्थामें हो, चाहे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तक निर्वृत्य पर्याप्त अवस्थामें हो, प्राप्त होता है। एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक काल नहीं है। तरहवें गुण स्थानवर्ती समुद्घात केवलीको भी यह प्राप्त होता है। कार्मण शरीरसे मिश्रित औदारिक शरीरको मिश्र कहते हैं। उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेश चचल होकर योगशक्तिके परिणमन द्वारा कर्मोंका व नोकर्मोंका आस्रव होता है। कषायका उदय भी साथ साथ पहले दूसरे व चौथे गुणस्थानमें होनेपर साम्परायिक आस्रव होता है। केवलीके कषायका उदय न होनेपर ईर्यापथ आस्रव होता है। जिससे एक समयकी स्थितिरूप सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञान व अनतानुबधी कषायकी भूमिका न होनेसे ससार कारणीभूत बध होता है। सम्यग्दृष्टिके भीतर पूर्ण व यथार्थ तत्त्वज्ञान होता है व पूर्ण वैराग्य होता है। वह सिवाय निजात्म स्वरूप लाभके और किसी वस्तुको नहीं चाहता। उसका योग परिणमन कर्मोदयसे उसकी वाछा विना होता है अतएव वह अल्प स्थिति व अनुभाग सहित कर्मोंका बध करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टि जीव कर्मास्रवके निरोधका उपाय एक सम्यक्तका लाभ है ऐसा श्री गुरु परम दयालुसे सुनता है तब वह ससारके भ्रमणमें भयभीत होकर भेदविज्ञानकी भावना भाता है कि मैं द्रव्य दृष्टिसे सिद्ध भगवानके समान शुद्ध हू। भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादिसे सर्वथा निराला हू। मैं अनन्तदर्शन, अनत ज्ञान, अनत वीर्य, अनत सुख, परम शुद्ध चारित्र, परम शुद्ध

सम्यक्त आदि सर्व ही शुद्ध गुणोंका एक अमिट व अखड भंडार है। इस प्रकारके सतत मननसे वह एक समयमें सम्यक्तबाधक कर्मोंका उपशमन करके सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश कर देता है, अधकारसे प्रकाशमें आ जाता है, अतीन्द्रिय आनदका भोग पाकर परम कृतार्थ हो जाता है।

१०५–वैक्रियिक काययोग।

ज्ञानी आत्मा परतत्रताकारक कर्मबधनोंक द्वारको रोकना चाहता है। नव योगोंमें वैक्रियिक काय योग भी है। देव व नारकी पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिक शरीरके आलम्बनसे अपने आत्माके प्रदेशोंको सकम्प करते हुए योग शक्तिकी प्रबलता या मदताके अनुसार कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षण करके स्वय अपने आत्माके बाधक बधनोंको दृढ करते हैं। जहा तक कषायोंका औदयिक भाव रहता है वहातक कर्मोंका सचय होता है। सम्यग्दृष्टि देव व नारकी नहीं चाहते कि राग द्वेष करना पडे। वे तो एक ज्ञान चेतनाके सुदर वीतराग आसनपर निश्चित तिष्ठ करके परमानन्दका भोग करना चाहते हैं। सर्व सांसारिक पर्यायोंको वे तुच्छ, हेय, व अनर्थकारी देखते हैं। उनकी एक मात्र लौ सिद्ध पदवीपर रहती है। तथापि रोगी मानवको न चाहते हुए भी जैसे रोगकी वेदना सहना व उसका इलाज करना पडता है वैसे सम्यग्दृष्टी तत्वज्ञानियोंको न चाहते हुए भी कषाय रोगकी वेदना सहनी पडती है व उपाय करना पडता है। अतएव वैक्रियिक योगसे वर्तन करते हुए क्रीडादि करते हुए अल्प स्थिति व अनुभागको लिये हुए कर्मोंका बध करते हैं।

जब कि मिथ्यादृष्टी देव विषयोंको पाकर परम सन्तोष मानते हैं। अनन्त रागी हो भोग करते हैं। इष्ट पदार्थके वियोगमें महान् शोक करते हैं। संसारासक्त होनेसे दीर्घ स्थिति व तीव्र अनुभागवाले पापकर्म बांधते हैं। नारकी मिथ्यादृष्टी विषयोंकी कामनासे रातदिन आतुर रहते हुए इष्ट वस्तु न पाकर संतापित रहते हैं व संक्लेश परिणामोंसे तीव्र कर्मबंध करते हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टी, श्री० गुरुसे कर्मके छेदनको कुल्हाड़ीके समान प्रज्ञाकी प्राप्ति कर लेता है। एकांतमें बैठकर मनन करता है कि मैं तो केवल एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूं। मैं ज्ञायक भी हूं, ज्ञेय भी हूं, मैं अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही कर्ता हूं व अपने ही वीतराग विज्ञानमय धर्मसे प्रकाशित अपने ही अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता हूं। मैं पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता हूं, अतएव ज्ञानावरणादि कर्म निराले हैं, शरीरादि नोकर्म निराले हैं, रागद्वेषादि भाव कर्म निराले हैं व सर्व अन्य आत्माएं व धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तिक द्रव्य ये सब निराले हैं। इन्द्रियजन्य सुख असंतोषकारी हैं, तृष्णावर्द्धक हैं, विषके समान त्याज्य हैं। ऐसी भावना करनेसे यह करणलब्धिको पाकर अनंतानुबंधी कषाय व मिथ्यात्व कर्मका उपशम करके सम्यग्दृष्टी होजाता है, स्वतन्त्रताका स्वामी बन जाता है, सिद्धपदको अपनेमें ही देखकर परम संतोषी होजाता है।

१०६—वैक्रियिक मिश्र काययोग।

ज्ञानी जीव कर्म शत्रुओंके बाहर करनेका निश्चय कर चुका है।

उसके उपायोंको ध्यानमें लेते हुए उसका आगमन रोकना जरूरी है। कर्मोंके आस्रवके कारण ५७ आस्रव हैं। उनमें १५ योग भी हैं।

वैक्रियिक मिश्र काय योग भी देव व नारकियोंको निर्वृत्य पर्याप्त अवस्थामें आत्माके प्रदेशोंको सकम्प करानेमें निमित्त कारण है। जब आत्माके भीतर हलन चलन पैदा होती है तब योग शक्तिका काम होता है। वह शक्ति कर्मवर्गणाओं व नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षण करती है। योगोंके साथ कषायोंकी कलुषता भी होती है। इससे स्थिति व अनुभाग बंध पड जाते हैं। सम्यग्दृष्टी देव व नारकियोंके भी इस प्रकारके योगसे कर्मोंका आस्रव होता है। उन ज्ञानियोंके भीतर पूर्ण सम्यग्ज्ञान व पूर्ण वैराग्य रहता है। उनकी भूमिका ज्ञान-चेतनासे निर्मापित है। वे निरन्तर इस धारणा ज्ञानसे विभूषित रहते हैं कि मैं तो एक केवल शुद्ध आत्मा द्रव्य हूं। मेरा सम्बन्ध न तो किसी जीवसे है न पुद्गलके किसी भी तरहके परमाणुसे है। वे असंयत गुणस्थान सम्बन्धी भावोंको रखते हुए मंद कषायके कारण अल्प स्थिति व अनुभागका बंध करते हैं। आत्माके स्वभावके घातक ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म हैं। इनका बन्ध बहुत थोडी स्थितिका व मंद अनुभागका पडता है। यह सम्यग्दर्शन गुणके प्रकाशकी महिमा है।

मिथ्यादृष्टी देव नारकियोंको भी यह काय योग होता है। उनकी भूमिका अज्ञानचेतनासे मलीन है। वे निरन्तर कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतनामें फसे रहते हैं। वे परमुखी होते हैं, प्राप्त पर्यायमें आसक्त होते हैं। इसलिये तीव्र कषायके कारण घातीय कर्मोंमें स्थिति

व अनुभाग अधिक प्राप्त करते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव किसी आत्मज्ञानी गुरुसे यह मंत्र सीख लेता है जिस मंत्रके मननसे मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी कषायका बल क्षीण किया जावे। यह एक भेदविज्ञान है। वह मुमुक्षु इसलिये नित्य ही एकांतमें बैठकर मनन करता है कि मैं तो एक शुद्ध आत्मा द्रव्य हूं। कार्मण, तैजस व औदारिक शरीरसे केवल संयोग सम्बंध है। रागादि विकार मोहनीय कर्मका मल है। मैं तो सिद्ध भगवानके समान शुद्ध हूं। सर्व ही परकृत भावोंसे शून्य हूं। ज्ञान, चारित्र व आनन्दका सागर हूं। इस तरह विना स्वरूपपर प्रेम करनेसे व पर स्वरूपसे उदास रहनेसे एक समय आजाता है कि जब सम्यक्त घातक कर्म दबता है और सम्यक्त गुणका प्रकाश हो जाता है। स्वतंत्रताका बीज मिल जाता है।

१०७–आहारक काययोग।

ज्ञानी आत्मा पूर्ण स्वतंत्रताका चाहनेवाला है। परतंत्रताकारक कर्मबंधोंका सम्बंध बिलकुल नहीं चाहता है। उसको जैसे पापकर्म शत्रु दीखते हैं वैसे ही पुण्यकर्म। वह शुभ योगोंसे भी वैसे ही उदास है जैसे अशुभ योगोंसे। इन योगोंमें आहारक काय योग भी है। यह प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थानवर्ती साधुके उस समय होता है जब उसने आहारक ऋद्धिकी प्रगटताकारक पुण्य कर्मका बंध, सातवें व आठवें गुणस्थानमें कर लिया हो। इस शक्तिके धनी पास साधु एक हाथप्रमाण पुरुषाकार पुतला आहारक वर्गणाओंसे बनाता है, जो मस्तकसे आत्माके प्रदेशोंको लिये हुए फैलकर निकलता है। मूल शरीरको न छोड़ते हुए आत्माके प्रदेशोंकी डोरको

लिये हुए वह शरीर ढाईद्वीप भरमें किसी अरहतके या श्रुतकेवलीके दर्शनार्थ जाता है। यदि कोई सूक्ष्मतत्व सम्बन्धी शंका होती है तो देखते ही मिट जाती है। इसकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। यदि केवली या श्रुतकेवलीका समागम उस कालमें नही हुआ तो फिर दूसरा पुतला उससे बन जाता है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर वह लौटकर खिर जाता है। प्रदेश मूल शरीरप्रमाण होजाते हैं।

इस कालमें आहारक योग होता है। आहारक शरीरके निमित्तसे आत्माके प्रदेश सकम्प होते है। योगशक्ति तब कर्म व नोकर्मको ग्रहण करती है। घातीय कर्मोंका बन्ध तो इस पुण्यमय आहारक योगके समयमें भी होता है। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्धात्माके अनुभवमें बाधक समझकर इस कर्मके बध योग्य योग व कपायको भी नहीं चाहता है। यह मिथ्यादृष्टी जीव भी पूर्ण स्वतंत्रताका प्रेमी होकर श्री गुरुसे कर्मशक्ति दमनकारक मंत्र सीखकर उस मंत्रका वारवार मनन करता है कि मेरा आत्मा स्वभावसे पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका धनी परम अमूर्तीक सर्व विकारी भावोंसे शून्य परम वीतराग है, सिद्धके समान है। यही ईश्वर परमात्मा परब्रह्म परम शान्त व परम शुद्ध सर्व पाप व पुण्यकर्मोंसे अलिप्त है। सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख त्यागने योग्य है व परम आत्मीक अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण योग्य है। इस शुद्ध भावनाके प्रतापसे वह सम्यग्दर्शनका प्रकाश पा लेता है, तब अपनेको कृतकृत्य समझकर परम संतोषी होजाता है, तबसे स्वतंत्रताके पथपर चलकर उन्नतिशील रहता है व सदा ही आनन्दका अनुभव करता है।

१०८–आहारक मिश्रकाययोग।

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि आत्माकी स्वतत्रता यद्यपि आत्माहीके पास है तथापि जबतक इसके साथ पर पदार्थका सयोग है तबतक स्वतत्रताके विकासमे भरी बाधा खड़ी हो रही है। कर्म पुद्गलोंमें भी अचिंत्य शक्ति है। ससार अवस्थामें कर्म व आत्माका परस्पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि कर्मके फलसे आत्माके भाव बिगड जाते है व भावोंके विकारसे कर्म बंध जाते हैं, जो उदयमें आकर कटुक फल प्रगट करते हैं। पुरुषार्थके द्वारा कर्मके बलको घटाया जा सकता है। व कर्मके बधके कारणोंको रोका जा सकता है।

कर्मोंके आस्रवके कारण १५ प्रकारके योग हैं उन्हींमें एक **आहार मिश्रकाय योग** है। आहारक रिद्धिधारी प्रमत्त सयमी साधु जब आहारक शरीर बनाते हैं उसके बननेमें कुछ काल एक अन्तर्मुहूर्त लगता है। उतनी देर तक आहारक मिश्रकाय योग होता है। आहारकके साथ औदारिक मिश्रण होता है। जब तक आहारक शरीर न बन इस मिश्रकायके द्वारा आत्माके प्रदेश सकप होते हैं तब योगशक्ति काम करती है। कर्म व नोकमवर्गणाओंको खींचती है। इस समय शुभोपयोग होनेसे कर्मका बन्ध भी साधुके होता है। अघातीयमें पुण्य प्रकृति व घातीयमें पाप प्रकृतियोंका बन्ध होता है। यह भी योग परतत्रताका कारण है, इसलिये त्यागने योग्य है। आत्माकी स्वतत्रता निश्चल स्वभावमें रहकर निजात्मानदका उपभोग है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुके द्वारा बध व मोक्षके स्वरूपको

समझकर बंधसे उदासीन व मोक्षसे प्रेमालु होजाता है। तब यह श्रीगुरुसे बंधके निरोधका व बन्धके छेदका उपाय सीख लेता है। वह उपाय यही है कि भेदज्ञानपूर्वक अपने ही आत्माका मनन किया जावे व नित्य एकान्तमें बैठकर विचारा जावे कि मेरा आत्मा एक निराला सत् पदार्थ है। अपने ही शुद्ध गुणोंका व अपनी ही शुद्ध पर्यायोंका समूह है। यह अपने गुणोंसे अभेद है। इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण इसकी अपूर्व महिमाको झलकाते हैं। मैं सदा ही शुद्ध हू, एक हू, परम वीतरागी हू। यही भावना सम्यक्त घातक कर्मका रस सुखानी है और एक समय आता है जब सम्यक्त गुण प्रगट कराकर आत्माको स्वतंत्र पथगामी बना देती है।

१०९–कार्मण काययोग।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतंत्रताको पानेके लिये परतंत्रताकारक कर्मोंके आस्रवसे अपनेको बचाना चाहता है। इसलिये आस्रवके कारणोंका विचार करता है। १५ योगोंमें कार्मण योग भी है। कार्मण शरीरके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके सकम्प होनेको कार्मण योग कहते हैं। तब योगशक्ति कर्मोंको व तेजस वर्गणाओंको विग्रह गतिमें आकर्षण करती है। केवली भगवान जब केवल समुद्घात करते हैं तब प्रतर द्वय और लोकपूर्ण तीन समय तक कार्मण योग रहता है। केवलीके कषायोंका उदय नहीं है, इससे ईर्यापथ आस्रव होता है। विग्रह गतिमें मिथ्यात्व, सासादन व अविरत सम्यक्त ऐसा पहला दूसरा व चौथा गुणस्थान होता है, तब जिन कषाय सहित

परिणामोंको लिए हुए जीव होता है उन परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव होता है। रागद्वेष मोह भावकी चिकनाई जबतक है तबतक कर्मोंका बंध हुआ करता है, परतंत्रताका जाल बनता रहता है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानीके भीतर मिथ्यादर्शनका मैल नहीं होता है, इससे उसका मोक्षमार्गसे गमन रुकता नहीं है। मिथ्यादृष्टीका संसार बढ़ता जाता है।

मन्द मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे कर्मास्रव निरोधक व कर्मछेदक मंत्र सीख लेता है। उसका नित्य मनन करता है। वह मंत्र यही है कि आत्माका स्वभाव निश्चयसे परम शुद्ध, ज्ञानदर्शनगुणोंसे पूर्ण, परम वीतराग, परमानन्दमय, अविकारी है। इसके साथ पुद्गलका संयोग सम्बन्ध होते हुए भी जैसे धान्यसे चावल अलग है, तिलकी भूसीसे तेल अलग है, सुवर्णसे रजत अलग है, काष्ठसे अग्नि अलग है, पानीसे दूध अलग है, इसी तरह आत्माका स्वभाव पुद्गलसे व रागद्वेषमई विकारोंसे व सर्व प्रकारके गुणस्थानादिसे अलग है। जो कोई इस आत्माके स्वभावको वारवार मनन करता है, आत्माका परम प्रेमी हो जाता है। संसारसे उदास हो जाता है। वह मन्द कषायसे प्राप्त विशुद्धताके बलसे अनन्तानुबंधी कषाय व मिथ्यात्वका बल घटाते घटाते एक दिन उनका शमन करके सम्यक्त्वी होजाता है तब अपनेको परम कृतार्थ समझकर संतोषी हो जाता है और सच्चा सुख पैदा करता है।

११०—प्रकृति बन्ध।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका प्रेमी होकर कर्मोंके आस्रव द्वारा कोई विचार करके उनसे उदास होगया है। मिथ्यात्व पांच प्रकार, अविरति बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग १५ प्रकार। इस तरह ५७ आस्रव द्वार हैं। ये ही कर्मबन्धके भी कारण हैं। भावास्रव व भावबन्धमें कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि जो समय कर्मोंके आस्रवका है वही समय कर्मोंके बन्धका है। जिस गुणस्थानमें जहांतक बंध है व बंध व्युच्छित्ति है वहींतक आस्रव है व आस्रव व्युच्छित्ति है। आगे पीछेका समय नहीं है।

जिस समय कर्मवर्गणाएं खिंचकर बंधती हैं, तब चार प्रकारका बंध एकसाथ होता है। कर्मोंमें प्रकृति या स्वभावका प्रगट होना प्रकृति बंध है। कितने काल तक उनकी कर्मरूप प्रकृति बनी रहेगी सो स्थितिबंध है। कर्मोंके भीतर तीव्र या मंद फल दान शक्ति पाना अनुभाग बंध है। किस कर्म प्रकृतिकी कितनी कर्म वर्गणाएं बंधीं सो प्रदेश बंध है। प्रकृतिबंधमें मूल आठ प्रकारका स्वभाव विचारना चाहिये। चार स्वभाव तो ऐसे हैं जो आत्माके गुणोंको ढकते हैं, प्रगट नहीं होने देते। उन कर्मप्रकृतियोंको घातीय कर्मप्रकृति कहते हैं। चार स्वभाव आत्माके गुणोंको विकारी नहीं बनाते हैं परन्तु आत्माके लिये बाहरी सामग्री शरीरादिका संबंध अच्छा या बुरा मिलाते हैं उनको अघातीय कर्मप्रकृति कहते हैं।

ज्ञानको ढकनेवाला ज्ञानावरण कर्म है। दर्शनको ढकनेवाला दर्शनावरण कर्म है। सम्यग्दर्शन या आत्मप्रतीति या वीतराग चारित्रको

रोकनेवाला मोहनीयकर्म है। आत्माके अनंत बलको ढकनेवाला अन्तरायकर्म है। ये ही चार घातीयकर्म हैं। जितना उनका परदा हटा होता है उतना आत्मीक गुण प्रगट रहता है। स्थूल शरीरमें कैद रहनेवाला आयुकर्म है। शरीरकी रचना बनानेवाला नामकर्म है। किसी कुलमें डालनेवाला गोत्रकर्म है। साता व असाताकारी पदार्थका लाभ करानेवाला वेदनीयकर्म है।

इन मूल प्रकृतियोंके द्वारा ही संसारी जीव भवभ्रमणमें कष्ट उठाते रहते हैं। इनके बंधका मूल प्रबल हेतु मिथ्यात्व भाव है। इसलिये भद्र मिथ्यादृष्टि जीव भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको बिलकुल एकाकी शुद्ध ज्ञातादृष्टा अविनाशी, परमात्मा रूप, परमानंद मय ध्याता है। वारवार आत्माके मननसे मिथ्यात्वका व चार अनंतानुबंधी कषायोंका बल क्षीण होता है और एकायक सम्यग्दर्शन ज्योतिका प्रकाश हो जाता है तब उस ज्ञानीको आत्माका साक्षात्कार हुआ करता है। वह स्वतन्त्रताका पथी होजाता है।

१११–स्थितिबंध।

ज्ञानी आत्मा परतन्त्रता कारक बंधका स्वरूप विचार रहा है। स्थिति बंध उस कालकी मर्यादाको कहते हैं जो कर्म प्रकृतियोंमें प्रकृति रूप बने रहनेको होता है। जब कालकी स्थिति समाप्त होजाती है तब वह बंध प्राप्त कर्म अपनी प्रकृतिके स्वभावको छोड़कर केवल अबंध कर्मवर्गणाओंके रूपमें ही रह जाते हैं।

एक समय कभी आठों कर्मोंका, कभी आयु बिना सात कर्मोंका

बंध नौमें गुणस्थान तक होता है। हरएक समय जितनी मूल व उत्तर प्रकृतियोंका बंध होता है उनके लिये कर्मवर्गणाओंकी संख्या नियत होती है। योगोंके द्वारा कम व अधिक वर्गणाएं आकर्षित होकर आती हैं। जिस कर्म प्रकृतिकी जितनी वर्गणाएं बंधती हैं उनमें कषायोंकी तीव्रता व मंदताके अनुसार स्थिति पड़ती है। उस स्थितिके अनुरूप आबाधाकाल होता है। एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिपर सौ वर्षका आबाधाकाल होता है। इसी हिसाबसे कम-स्थितिका कम व अधिक स्थितिका अधिक आबाधाकाल होता है। आबाधाकाल पकनेके कालको कहते हैं। तब तक बंध प्राप्त कोई वर्गणाएं नहीं गिरतीं। आबाधाकालके पूरे होनेपर आबाधाकाल रहित जितनी स्थिति बंधती है उस स्थितिके समयोंमें वर्गणाएं बट जाती हैं। पहले अधिक फिर कम कम होते हुए अंतिम स्थितिके समयमें सबसे कम वर्गणाएं झड़ती हैं। इसलिये अंतिम समयमें झड़नेवाली वर्गणाओंकी स्थिति बंधके समय टलनी पड़ती है। पहले झड़नेवाली वर्गणाओंकी एक एक समय कम मर्यादा समझनी चाहिये। यदि कोई परिवर्तन न हो तो स्थितिके समयोंमें बटवारेके अनुसार वर्गणाएं गिरती रहेंगी। अनुकूल सामग्री होनेपर फल देकर नहीं तो विना फल दिये झड़ेगी।

आयुकर्मके सिवाय सातों ही कर्मोंमें कषायकी तीव्रतासे अधिक व मंदतासे कम स्थिति पड़ती है, चाहे पुण्य प्रकृति हो या पाप प्रकृति हो। आयुकर्मका हिसाब यह है कि नर्क आयुकी स्थिति तीव्र कषायसे अधिक व मन्द कषायसे कम पड़ती है। परन्तु तिर्यंच,

मनुष्य व देव आयुकी स्थिति मंद कषायसे अधिक व तीव्र कषायसे कम पड़ती है। कषाय भावोंके ही कारण कर्मोंका ठहरना होता है। कषाय ही स्थितिबंधके लिये निमित्त कारण है।

कषाय रहित जीवोंके न ठहरनेवाला ईर्यापथ आस्रव होता है। कषाय आत्माके शत्रु हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टीको श्री गुरुके प्रतापसे कषाय व मानका उपाय हाथ लग जाता है। वह भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माको शुद्ध, निष्कषाय, परमानंदमय द्रव्य मानकर निरन्तर मनन करता है। शुभ अशुभ सर्व मंद व तीव्र कषायके भावोंको कर्म विकार समझकर उनसे वैरागी होजाता है। इसी आत्ममननसे वह एक सम्यग्दर्शनको पाकर परम कृतार्थ होजाता है, स्वतंत्रताका द्वार खोल लेता है।

११२-अनुभाग बन्ध।

ज्ञानी आत्मा परतंत्रताकारक कारणोंका वार वार विचार करके उनसे बचनेकी भावना करता है।

चार प्रकार बंधमें जो एक ही साथ योग और कषायोंके अनुसार होता है। अनुभाग बंध उसे कहते हैं जिससे बंधती हुई कर्मवर्गणाओंमें तीव्र या मंद फलदान शक्ति पड़ती है। जैसे चावल पकते हुए अपने भीतर तीव्र या मंद स्वाद रखते हैं। कषायोंके भीतर जिन अंशोंसे स्थिति पड़ती है उनको स्थितिबंध अध्यवसाय स्थान कहते हैं व जिन कषायोंके अंशोंसे उन कर्मोंमें रस पड़ता है उनको अनुभाग बंध अध्यवसान कहते हैं। घातीय चार कर्मोंमें रस प्रदानके

चार दृष्टात हैं–लता रूप अर्थात् मदतर, दारु या काष्ट रूप अर्थात् मद, अस्थि या हड्डी रूप या तीव्र, पाषाण रूप अथात् तीव्रतर। अघातीय पाप प्रकृतियोंमें रस प्रदानके भी चार उदाहरण हैं। नीम, काजीर, विष, हालाहलके समान मदतर, मद, तीव्र, तीव्रतर कटुक।

अघातिय पुण्य प्रकृतियोंमें रसके चार दृष्टात है। गुड, खाड, शक्कर व अमृतके समान मदतर, मद, तीव्र, तीव्रतर, मिष्ठ।

जिन वर्गणाओंमें जैसा रस पडता है वैसा उनका अच्छा या बुरा फल प्रगट होना है। मद कषायोंके होनेपर घातीय चार कर्मोंमें और अघातीय पापरूप कर्मोंमें मद अनुभाग व तीव्र कषायोंके होनेपर उनमें तीव्र अनुभाग पडता है। किन्तु अघातीय पुण्य रूप कर्मोंमें मन्द कषायोंके निमित्त होनेपर तीव्र व तीव्र कषायोंके द्वारा मद अनुभाग पडता है। कषायोंका दमन ही बंध छेदका व बंधके निरोधका एक मात्र उपाय है।

जैसे तप्त शरीर शीतल जलके भीतर अवगाह पानेसे शात हो जाता है वैसे कषायाविष्ट जीव परम शात आत्माके स्वभावके भीतर मगन होनेसे शात व वीतराग होजाता है। यही वीतराग परिणत सत्तामें बैठे कर्मोंकी शक्तिको बदल देती है। इसलिये भद्र मिथ्यादृष्टि जीव एकान्तमें बैठकर एकमात्र शुद्ध नयके द्वारा अपने आत्माको निरजन, निर्विकार, परमानन्दमय, ज्ञातादृष्टा, शुद्ध जाता है। इसी भावनामें निरत होनेसे वह अपने सम्यक्त गुणका प्रकाश पा लेता है। आत्मानुभवकी कला मिल जाती है, स्वतन्त्र होनेकी युक्ति हाथमें आजाती है। वह अपनेको कृतार्थ मानके परम सन्तोषी होजाता है।

११३–प्रदेश बंध।

ज्ञानी आत्मा परतंत्रताके निवारणके लिये कर्मबंधसे बचनेकी भावना भाता है। चार प्रकारके बंधमें प्रदेश बंध भी है। आत्माके प्रदेशोंमें सर्वत्र पूर्व बंध हुए कर्मोंका संयोग कार्मण शरीर रूपमें रहता है। यह कार्मण शरीर सर्व आत्माके प्रदेशोंमें व्याप्त रहता है। नये कर्मोंका बंध इस ही कार्मण शरीरके साथ होजाता है। जितनी कर्म-वर्गणाओंका बंध होता है उस संख्याकी नियुक्तिको प्रदेश बंध कहते हैं।

एक समयप्रबद्ध मात्र कर्मवर्गणाएँ समय २ आती हैं। वे संख्यामें अनंत होती हैं। अनंतके अनंत भेद होते हैं। योगशक्तिके मन्द होनेसे समयप्रबद्ध कम संख्याका व योगशक्तिके तीव्र होनेपर समय प्रबद्ध अधिक संख्याका आता है। निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है। एक ध्यानारूढ योगी साधुके योगबल अधिक होता है तब उनके अधिक संख्याका समय प्रबद्ध बंधता है। एक समयमें बांधे हुए कर्म आठ मूल कर्मोंमें या कभी सात मूल कर्मोंमें बंट जाते हैं।

यदि आठ कर्मोंका बंध हो तो सबसे अधिक बटवारा वेदनीय कर्ममें आएगा। उससे कम मोहनीय कर्ममें। उससे कम ज्ञानावरणमें। उतना ही दर्शनावरणमें। उससे कम अन्तराय कर्ममें। उससे कम गोत्रकर्ममें। उतना ही नाम कर्ममें। सबसे कम आयु कर्ममें बट-वारा जायगा।

गोम्मटसार कर्मकांडमें इसका बड़का जानने योग्य वर्णन लिखा है। कर्मप्रकृति बांधनेवाले अधिक कर्मोंका संचय करते हैं। अधिक

प्रकृति बाधनेवाले अधिक। क्योंकि उनके योगशक्ति हीन होती है। योगोंका काम तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान तक होता है। वहापर अनत कर्मवर्गणाए आती हैं। परतु एक समय पीछे झड जाती है।

ब ध हानिकारक ही है ऐसा विचार कर भद्र मिथ्यादृष्टी जीव बधक नाशका मत्र श्री गुरुसे सीख लेता है। वह मत्र मात्र एक भेदविज्ञान है। मै एक आत्मा अखड, अविनाशी, पूर्णज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्रादि शुद्ध गुणोंका स्वामी हू। मैं ही परमेश्वर, परमात्मा, परम निरञ्जन, प्रभु परम शात परम कृतकृत्य, परभावका अकर्ता व अभोक्ता हू। मैं आठों कर्मोंसे व राग द्वेषादि भावकर्मोंसे व शरीरादि नोकर्मोंसे बिल्कुल निराला हू।

इस तरह जो अपने आत्माका मनन करता है उसका दर्शन-मोह क्षीण होने लगता है। वह कषायोंका रस सुखाता है। यह एक दिन सम्यग्दर्शनको पाकर मोक्षमार्गी होजाता है। तब स्वतत्रताका पथ साक्षात्कार कर लेता है। जो मात्र एक शुद्धात्मानुभव रूप है, यही परमानद पद परम हितकारी है। जो इसे पाता है वही परम धनी हो जाता है।

११४–सम्यग्दर्शन सवरभाव।

स्वतत्रता प्रेमी स्वतत्र होनेका उपाय विचार करता है। कर्मोंके आस्रव व बधके सम्बधमें मनन करके अब यहा सवरका विचार करता है। जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव व बध रुकता है, उन भावोंको सवर भाव कहते हैं। उस भाव सवरसे जिन कर्म प्रकृतियोंका

आस्रव व बंध रुकता है उनके रुकनेको द्रव्य संवर कहते हैं। सबसे महान संवर भाव एक सम्यग्दर्शन है। यह आत्माका भिन्न गुण है। यह एक ही प्रकारका है परन्तु मलीनता व शिथिलताकी अपेक्षा इस सम्यक्तके तीन भेद हैं। परम निर्मल क्षायिक सम्यक्त है, जहां सम्यक्त विरोधी चार अनन्तानुबन्धी कषायका व दर्शन मोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका कर्मद्रव्य सत्तामेंसे निकल जाता है। उपशम सम्यक्त निर्मल तो है परन्तु शिथिल है। यहां सातों प्रकृतियोंका उपशम केवल एक अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। फिर उज्वलता कम होजाती है या बिल्कुल जाती रहती है। तीसरा क्षयोपशम या वेदक सम्यक्त है। यहां छः प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है किन्तु एक सम्यक्त मोहनीयका उदय होता है जिससे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टिप्रशंसा अन्य दृष्टि संस्तव ऐसे पांच तरहके अतीचार लगते हैं। तीनों ही प्रकारके सम्यक्त चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमें होसक्ते हैं। इस सम्यक्तकी ज्योतिके प्रकाशसे ज्ञानीको अपना आत्मा सदा ही शुद्ध व मुक्त अनुभवमें आता है।

वह ज्ञानी जगतके कर्मोंका व कर्मके उदयका साक्षीभूत रहता है। मन वचन कायकी किसी भी क्रियाका स्वामी अपनेको नहीं मानता है। वह जब चाहे तब आरम्भ होकर आत्मानन्दका स्वाद लेता रहता है, भीतरसे परम वैरागी होता है, चारित्रमोहनीय कर्मके उदयवश व्यवहार कार्य करता है। भावना यह रहती है कि कब वह कर्मराग मिटे, कब मैं कर्मके विषयभोगसे छूटूं। ऐसा भावधारी गृहस्थ युद्ध व विषयभोग व नीति कार्य करता हुआ भी एसा महात्मा

होता है कि अपनी भीतरी भूमिकामें ४६ कर्मप्रकृतियोंको नहीं आने देता है। बन्ध योग्य १४८ मसे १२० प्रकृति गिनी गई है। क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्तमोहनीय इनका ही बन्ध नहीं होता है। पाच बन्धन, पाच संघात पाच शरीरोंमें गर्भित हैं। बीस वर्णादिमें चार गिने जाते हैं, सोलह नहीं। इसतरह २८ घटाकर १२० बन्धमें रह जाती हैं। सम्यक्ती ४१ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करता है। १ मिथ्यात्व + ४ अनन्ता०कषाय + सम० सिवाय ५ पाच संस्थान + वज्रवृषभ नाराच संहनन सिवाय ५ पांच संहनन + ४ जाति एकेन्द्रिसे चौइंद्रिय तक + २ नपुं० व स्त्री वेद + ३ स्त्यान गृद्धि आदि निद्रा + १ स्थावर + १ सूक्ष्म + १ साधारण + १ अपर्याप्त + २ नरकगति व गत्या० + २ तिर्यंच गति व गत्या० + २ नारक व तिर्यंच आयु + १ दुर्भग + १ दुस्वर + १ अनादेय + १ उद्योत + १ आताप + १ नीच गोत्र । १ अप्रशस्त विहायोगति = ४१ । आहारक २ का बन्ध यहां नहीं होता तब १२०–४३=७७ प्रकृतियोंका बन्ध ही होता है। यह कथन नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। एक जीवकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानमें ६४, ६५ या ६६ का बंध होगा। ५ ज्ञान + ६ दर्शन + १ वेदनीय + १७ मोहनीय + १ आयु + १ गोत्र + ५ अंतराय + नामकी २८, २९ या ३० = ६४, ६५ या ६६।

यह सम्यक्ती कुगतिको नहीं बांधता है। धन्य है सम्यक्त जिसके प्रतापसे आस्रवका विरोध होता है और अपने आत्मप्रभुका दर्शन अपने देह–मंदिरमें सदा होता है। यह सम्यक्ती परम सन्तोषी रहता है। यह मुक्ति–कन्याका मुख सदा देखकर प्रसन्न रहता है।

११५-देशविरत संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा संवर तत्वका विचार कर रहा है। दूसरा संवरभाव देशविरत है। यहां पांचवें गुणस्थानमें श्रावक होकर बारहों पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतोंको पालता है व व्यवहार चारित्रका विभाग दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्ताहार त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग, इन ग्यारह प्रतिमाओंमें या श्रेणियोंमें क्रमक्रम यथाशक्ति पालता है। इस सब चारित्रको केवल निमित्त कारण मानता है।

उपादान साधन एक आत्मानुभवको ही झलकाता है। इसलिये उसका अभ्यास बढाता है। इस गुणस्थानमें १० प्रकृतियोंका संवर कर देता है। अप्रत्याख्यान चार कषाय + वज्रवृषभ नाराच संहनन + औदारिक शरीर। औ० अंगोपांग+ मनुष्यायु + मनुष्यगति+मनुष्य+ गत्यानुपूर्वी=१०।

चौथे गुणस्थानमें ७७ का बंध होता था यहां केवल ६७का ही होता है। यह बंध नाना जीवापेक्षा है। एक जीवकी अपेक्षा देश-विरत भावधारी मनुष्य या तिर्यंच ६० या ६१ का ही बंध करता है। अर्थात् ज्ञा० ५ + दर्शन ६ + वेदनीय १ + मोहनीय २३ + आयु १ + नाम कर्मकी २८ या २९ + गोत्र १ + अंतराय ५= ६० या ६१।

वास्तवमें जितना मोह कर्मका उदय है वह औदयिक भाव ही बंधका कारण है। संवर भाव तो वह निर्मलता है जो रत्नत्रय धर्मके अभ्याससे प्राप्त है। स्वानुभवकी ज्योति ही संवर तत्व है। उसके

आलम्बनसे ही यह श्रावक मोक्षमार्गी होरहा है। यह बड़ा उद्योगी है। सविकल्प ध्यानसे निर्विकल्प ध्यानमें चढता रहता है। यह मनन करता है कि मैं एकाकी शुद्ध आत्मा द्रव्य हू, मेरा संयोग किसी परद्रव्यसे नहीं है। न ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे न शरीरादि नोकर्मोंसे न रागादि भाव कर्मोंसे कोई सम्बन्ध है। मैं ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि अपनेसे न कभी छूटनेवाले गुणोंका अटूट व अनन्त भण्डार हू, परम कृतकृत्य हू, अपने ही आत्माकी शुद्ध परिणतिका कर्ता हू व शुद्ध अतींद्रिय आनंदका भोक्ता हू। इस तरह मनन करते हुए वह यकायक एक अद्भुत अनिर्वचनीय आत्माके क्रीडावनमें पहुंच जाता है। वहा ऐसा गुप्त होजाता है कि जगतका कोई व्यवहार व मन, वचन, कायका वर्तन उसका पता ही नहीं पा सकते। यह सुखसागरमें मानो मगन होकर परम संतोषी हो जाता है।

११६–प्रमत्तविरत संवर भाव।

ज्ञानी संवर तत्वका विचार करता है और यह जानता है कि एक वीतराग भाव ही संवरका कारण है। यह वीतराग भाव तब ही प्राप्त होता है जब कि आत्मा पर भावोंसे उदासीन होकर निजी आत्माके शुद्ध भावमें लीन होता है, स्वानुभव प्राप्त करता है। यह स्वानुभव अविरत सम्यक्त चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होकर बढता जाता है। देशविरतमें श्रावकके योग्य स्वानुभव था। छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमें प्रत्याख्यान चार कषायोंका भी उदय नहीं है, इसमें वीतरागताका अंश अधिक है। पांचवेंमें ६७ प्रकृतियोंका आस्रव था। यहां चार

प्रत्याख्यान कषायका आस्रव बंद होजाता है। केवल ६३ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है, यह नाना जीवोंकी अपेक्षासे है । एक जीवकी अपेक्षासे उस साधुके—ज्ञा० ५ + दर्श० ६ + वेदनीय १ + मोह ९ + आयु १ + नाम २८ या २९ + गोत्र १ + अन्त० ५=५६ या ५७ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है । १२०—५८=६३ का बिल्कुल नहीं होता है, ६१ का संवर है । यद्यपि ५६ का या ५७ का आस्रव है, तथापि जब वह साधु ध्यानमग्न होकर स्वानुभवमें होता है तब मंद अनुभाग व स्थितिको लिये घातीय कर्मोंको व तीव्र अनुभाग लिये अल्पस्थिति लिये अघातीय पुण्य प्रकृतियोंको बांधता है । शेष कालमें प्रकृतिके समय बंध अधिक स्थिति व अनुभागका होता है, पुराने में अनुभाग कम पड़ता है ।

ज्ञानी संवर तत्वका विचार करता हुआ यह भले प्रकार जानता है कि जो आत्मा आत्मारूप परिणमन करता है वहां ही वास्तवमें संवर तत्व है । आत्माके मननसे आत्मा आत्मारूप होजाता है ।

आत्मा अपनी सत्ता आदिसे रखता है। यह किसीसे बना नहीं इसलिये यह कार्य नहीं है । यह किसी द्रव्यको उत्पन्न नहीं करता है इसलिये यह कारण भी नहीं है । यह हरएक उन्य आत्मासे, सर्व पुद्गल भेदोंसे, आकाशसे धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे व असंख्यात कालाणुओंसे व कर्मकृत होनेवाले अपने भीतर रागादि विकारोंसे बिल्कुल भिन्न है यह ज्ञायक पदार्थ है । सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है, चन्द्रमाके समान परम शांत है व आनन्दामृतका वर्षानेवाला है, आकाश समान असंग है व अग्निके समान तेजस्वी

है व पृथ्वीके समान परम क्षमावान हैं, स्फटिकमणिके समान स्वच्छ हैं, दर्पणके समान निर्विकार है। यही परमेश्वर है। यही परमात्मा है, ऐसा ध्यानमें लेकर जो जिसको ध्याता है वह परम संतोषी होकर निरंतर आनंदका स्वाद पाता है। बंध व मोक्षकी कल्पनासे रहित होकर स्वरूप गुप्त रहता है।

११७–अप्रमत्तविरत सराग भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके लाभके लिये संवरके कारणोंका विचार करता है। यह जानता है कि जहांतक कर्मोंका संबंध है वहांतक आत्मा स्वतंत्र नहीं है। प्रमत्तविरत भावमें १२० कर्मोंमेंसे ६३का आस्रव होता था। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलन कषायके मंद उदयसे विशुद्धता व वीतरागता बढ़ गई है। इस कारण यहां अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक, इन ६ का आस्रव नहीं होता परन्तु आहारक शरीर व अंगोपांग कर्मोंका आस्रव होता है। एक कषायकी अपेक्षा ज्ञाना० ५ + दर्श० ६ + वेदनीय १ + मोहनीय ० नाम ८ या २९ या ३० या ३१ + गोत्र १ + अन्तराय ५ + आयु १=५६, ५७, ५८, ५९ का आस्रव होता है। १२० मेंसे ६१ का नहीं होता है।

स्वस्थान अप्रमत्तसे प्रमत्तमें व प्रमत्तसे स्वस्थानमें वारवार गमनागमन होता है। यह साधु इस अप्रमत्त भावसे प्रमाद रहित ध्यानस्थ रहता है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे यह अपने आत्माको बिलकुल

परम शुद्ध रागादि रहित, अखण्ड, ज्ञानानन्दमय मनन करता है। यही स्वसंवेदन ज्ञान होता है।

आपसे आपको आपके द्वारा वेदन करता है। यहां कोई बुद्धि-पूर्वक विकल्प नहीं होते हैं। यह ध्याता अपने उपयोगको अपने ही आत्मामें ऐसा मग्न कर देता है कि ध्याता ध्येयका भेद नहीं रहता है। लवणकी डली जैसे पानीमें घुल जाती है वैसे यह स्वानुभवमें एकतान होजाता है। जबतक इस संवर भावमें रहता है तबतक अतींद्रिय आनन्दका अमृतपान करता है। यह परम निष्काम है। माया, मिथ्या, निदान शल्यसे रहित सच्चा निर्ग्रंथ साधु है। अपनेको असंग, निरंजन, निर्लेप ही स्वादमें लेता है। इसको शुद्ध आत्माका निर्मल स्वाद आता है। यह मोक्षका मार्गी होकर भी मोक्षरूप ही मानो होरहा है।

इसको गाढ़ निश्चय है कि यह स्वयं परमात्मा व परमेश्वर है। यहां मन थिर है, वचन मौन हैं, काय थिर है। एक अकेला आत्मा ही नाम रहित लिंग रहित, कारक रहित, चिंतवन रहित, जैसाका तैसा स्वादमें आरहा है। धन्य है स्वानुभव, यही संवर तत्व है, इसीका स्वामी परम रत्नत्रय विधिका साधी है, परम संतोषी है।

११८-अपूर्वकरण संवर भाव।

ज्ञानी स्वतंत्रताके लाभके लिये कर्मोंकी संततिसे बचना चाहता है। इसलिये संवरतत्वका विचार करता है। अप्रमत्तविरत संवरभावमें १२० मेंसे ५९ प्रकृतियोंका ही आस्रव रह गया था। अब यह साधु उपशम या क्षपकश्रेणिपर चढ़कर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान-

पर आगया है। समय २ परिणामोंकी अनन्तगुणी विशुद्धि करता जाता है। यहां देवायुका आस्रव बन्द होजाता है तब केवल ५८ का आस्रव नाना जीवोंकी अपेक्षासे होता है। एक जीवकी अपेक्षा ज्ञान० ५ + दर्श० ६ या ४ + वेदनीय १ + मोहनीय ९ + नाम २८, २९, ३०, ३१, या १ + गोत्र १ + अंत० ५ = ५५, ५६, ५७, ५८ या २६ अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक दर्शनमें निद्रा या प्रचलाका बन्ध होता है, शेष भागोंमें २ घट जायगी।

जितनी २ कषायकी मंदता आत्मध्यानके प्रतापसे होती है उतना २ ही सम भाव बढ़ता जाता है। यहां ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियोंमें अनुभाग बहुत कम पड़ता है, स्थिति तो सर्व ही कर्मोंमें कम पड़ती है। यहां ध्याता शुक्ल ध्यानके प्रथम भेदको प्राप्त कर चुका है। शुद्ध भावमें लीन है। ध्याता बिलकुल आत्मस्थ है। अबुद्धिपूर्वक उपयोगका पलटना होता है, इसलिये आत्म द्रव्य ध्येयसे ज्ञानगुणपर या सिद्ध पर्यायपर आजाता है। शब्दका आलम्बन भी पलट जाता है। जैसे जीव झटसे आत्मापर आजावे। मन, वचन, काय योग भी पलट जाते हैं। तथापि ध्याताको पता नहीं चलता है। यहां इतनी कषायकी मंदता है कि ध्याताको उसका फल अनुभवगोचर नहीं होता है।

धन्य है आत्माका ध्यान। आत्माका द्रव्य स्वभाव बिलकुल शुद्ध है। सिद्धके समान है। कोई पर द्रव्यका, पर भावका, पर गुणका, पर पर्यायका सम्बन्ध नहीं है। अगुरुलघु सामान्य गुणके कारण यह आत्मद्रव्य सदा ही अपने अनन्तगुण व स्वभावोंको लिये

हुये उनमें तन्मय रहता है न कभी किसी गुण या स्वभावकी हानि होती है । अपनी सत्ताको अखण्ड व अमिट रखता हुआ यह आत्मा अपने ज्ञानके प्रकाशमें सदा चमकता रहता है । कोई रागादि विकार व कामनाएं आत्माको स्पर्श नहीं करती हैं । यह ज्ञानी मन, वचन, कायके विकल्पोंको बुद्धिपूर्वक छोडे हुये आत्मा हीके द्वारा अपने आत्मामें ही लीन है । निश्चल होकर आनन्दामृतका पान करता रहता है । यह परम सन्तोषी है व निर्विकारी है। मोक्ष महलकी तरफ बढा चला जारहा है ।

११९—अनिवृत्तिकरण संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मके संयोगसे बचनेके लिये संवर भावका विचार करता है। अपूर्व करणमें प्रथम भागतक निद्रा प्रचलाका बंध था, आगे बन्ध व छठे भागतक तीर्थंकर + निर्माण + प्रशस्त वि० + पंचेन्द्रिय जाति + तेजस शरीर + कार्मण शरीर + आहारक २ + समचतुरस्र संस्थान + देवगति + देवगत्यानु० + वैक्रियिक २ + वर्णादि ४ + अगुरुलघु + उपघात + परघात + उच्छ्वास + त्रस + बादर + पर्याप्त + प्रत्येक + स्थिर + शुभ + सुभग + सुस्वर + आदेय=३० का बंध होता है, फिर ७ वें भागतक हास्य, रति, भय, जुगुप्सा ४ का प्रबन्ध होता है । अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें ५८—३६ तक बाइस प्रकृतियोंका ही बंध है। एक जीवकी अपेक्षासे ज्ञाना० ५ + दर्श० ४ + वेदनीय १ + मोह० ५, ४, ३, २ या १ + नाम १ + गोत्र १ + अन्त० ५=२२, २१, २०, १९ १८ का ही बंध होता है। शेष १२० मेंसे ९८ का संवर है।

अनिवृत्तिकरण सवर भावमें २२ कर्म प्रकृतियोंका आस्रव होता था, बन्ध सन्दर जब कोई महात्मा साधु उपशम या क्षपकश्रेणीवाला दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानपर आता है तब ५ प्रकृतियोंका–चार संज्वलन कषाय + पुरुष वेदका संवर रहता है। केवल १७ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है। एक जीवकी अपेक्षा विचार करें तो ज्ञा० ५ + दर्शना० ४ + वेदनीय १ + नाम १ + गोत्र १ + अंत०,५=१७ का ही आस्रव यहां होता है। यहां मूल ६ कर्मोंका ही आस्रव है। आयु व मोहकर्मका बिलकुल संवर है। बहुत हलके लोभ कषायके कारण १७ कर्मका बंध होता है। ज्ञानी जानता है कि कषायका अंशमात्र भी मल है, सो हानिकारक है। आत्माके शुद्ध तत्त्वका ज्ञान तथा उसीमें तीव्र रुचि सहित वर्तन अर्थात् शुद्धात्मानुभव ही कषायोंके दमनका एक अमोघ मंत्र है। यह बारबार भावना भाता है कि मेरा आत्मा एक अकेला है। उसकी सत्ता निराली है, अन्य अनंत आत्माओंकी सत्ता निराली है, सर्व पुद्गलके परमाणुओंकी सत्ता निराली है। इसी तरह ४ अमूर्तीक उदासीन द्रव्योंकी अर्थात् धर्म, अधर्म, काल, आकाशकी सत्ता निराली है। मैं एकाकी पूर्ण कांक्षा रहित हूं। मैंने अपनी स्वरूप सम्पदा आपमें ही पाली है। मुझे सर्व जगतकी वस्तुओंका, उनकी त्रिकालगोचर गुणपर्यायका ज्ञान है, उनहीका दर्शन है, मैं स्वतंत्र अनुभवनयोग्य आनन्दामृतका निरंतर स्वाद लेता हूं, मेरेमें अनन्त वीर्य है, मैं कभी थकनेको नहीं वेदता हूं मुझे अपने स्वरूपके रमणमें पूर्ण तृप्ति है। इसलिये मेरा प्रेम किसी परसे नहीं है। मेरे स्वरूप रमणमें कोई बाधक नहीं है। इससे मेरा

द्वेष किसीके साथ नहीं है। मैं कर्मोंसे भी निराला हू, कर्मकृत विकारी भावोंसे भी निराला हू, शरीरसे भी निराला हू, मै एकाकी जैसा हू वैसे ही सर्व आत्माए है, इस भावनाके बलसे मैं आपमें ही ठहरकर समताभावको ध्याता हू, समरसमें मगन होता हू परमानदका विलास करता हू।

१२१-उपशात मोह मवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके निरोधक भावोंका विचार कर रहा है। दशवे गुणस्थानमें १७ प्रकृतियोंका आश्रव था। ग्यारहवें उपशान मोह गुणस्थानमें मोहके उदयका मल बिल्कुल नहीं रहा। इसलिये ज्ञा० ५ + दर्श० ४ + अतराय ५ + यश १ + उच्च गोत्र १ इन १६ प्रकृतियोंका सवर है। केवल एक सातावदनीयका ही आश्रव रह गया है। यह आश्रव ईर्यापथ कहलाता है। कर्म आते हैं, दूसरे समयमें चले जाते हैं, स्थिति नहीं पाते क्योंकि कषायके मल विना स्थिति नहीं पडती है।

यह उपशमक साधु कषायोंको दबाए हुए है। अतर्मुहूर्तके पीछे कषायका उदय आनेसे यह दशवेंमें गिर जाता है। तब फिर १७ का आश्रव होने लगता है। यदि कदाचित् मरण होजाय तो विग्रह गतिमें चौथा गुणस्थान पाकर देवगतिमें चला जाता है तौभी यह सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है, उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानमें गिर जाय तो भी यह कभी न कभी निर्वाणका भोक्ता होजायगा। इस ज्ञानीको गाढ

अनिवृत्तिकरण नवें भावमें २२ कर्म प्रकृतियोंका आस्रव होता था वहांसे चढकर जब कोई महात्मा साधु उपशम या क्षपकश्रेणीवाला दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानपर आता है तब ५ प्रकृतियोंका—चार सज्वलन कषाय + पुरुष वेदका संवर रहता है। केवल १७ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है। एक जीवकी अपेक्षा विचार करें तो ज्ञा० ५ + दर्शना० ४ + वेदनीय १ + नाम १ + गोत्र १ + अन्त०,५=१७का ही आस्रव या होता है। यहां मूल ६ कर्मोंका ही आस्रव है। आयु व मोहकर्मका बिलकुल संवर है। बहुत हल्के लोभ कषायके कारण १७ कर्मका बन्ध होता है। ज्ञानी जानता है कि कषायका अशमात्र भी मल है, सो हटानलायक है। आत्माके शुद्ध तत्त्वका ज्ञान तथा उसीमें तीव्र रुचि सहित वर्तन अर्थात् शुद्धात्मानुभव ही कषायोंके दमनका एक अमोघ मंत्र है। यह बारबार भावना भाता है कि मेरा आत्मा एक अकेला है। उसकी सत्ता निराली है, अन्य अनंत आत्माओंकी सत्ता निराली है, सर्व पुद्गलके परमाणुओंकी सत्ता निराली है। इसी तरह ४ अमूर्तीक उदासीन व थिर द्रव्योंकी अर्थात् धर्म, अधर्म, काल, आकाशकी सत्ता निराली है। मैं एकाकी पूर्ण काक्षा रहित हू। मैंने अपनी स्वरूप संपदा आपमें ही पाली है। मुझे सर्व जगतकी वस्तुओंका, उनकी त्रिकालगोचर गुणपर्यायका ज्ञान है, उनहीका दर्शन है, मैं स्वतन्त्र अनुभवनयोग्य आनन्दामृतका निरंतर स्वाद लेता हू मरेमें अनन्त वीर्य है, मैं कभी थकनेको नहीं बदता हू मुझे अपने स्वरूपके रमणमें पूर्ण तृप्ति है। इसलिये मेरा प्रेम किसी परसे नहीं है। मेरे स्वरूप रमणमें कोई बाधक नहीं है। इससे मा

द्वेष किसीके साथ नहीं है। मैं कर्मोंसे भी निराला हू, कर्मकृत विकारी भावोंसे भी निराला हू शरीरसे भी निराला हू, मैं एकाकी जैसा हू वैसे ही सर्व आत्माए हैं, इस भावनाके बलसे मैं आपमें ही ठहरकर समताभावको ध्याता हू, समरसमें मगन होता हू परमानदका विलास करता हू।

१२१–उपशात मोह सवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके निरोधक भावोंका विचार कर रहा है। दशवें गुणस्थानमें १७ प्रकृतियोंका आश्रव था। ग्यारहवें उपशात मोह गुणस्थानमें मोहके उदयका मल बिलकुल नहीं रहा। इसलिये ज्ञा० ५ + दर्श० ४ + अतराय ५ + यश १ + उच्च गोत्र १ इन १६ प्रकृतियोंका सवर है। केवल एक सातावेदनीयका ही आश्रव रह गया है। यह आश्रव ईर्यापथ कहलाता है। कर्म आते हैं, दूसरे समयमें चले जाते हैं, स्थिति नहीं पाते क्योंकि कषायके मल विना स्थिति नहीं पड़ती है।

यह उपशमक साधु कषायोंको दबाए हुए है। अतर्मुहूर्तके पीछे कषायका उदय आनेसे यह दशवेंमें गिर जाता है। तब फिर १७ का आश्रव होने लगता है। यदि कदाचित् मरण होजाय तो विग्रह गतिमें चौथा गुणस्थान पाकर देवगतिमें चला जाता है तौभी यह सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है, इसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानमें गिर जाय तौ भी यह कभी न कभी निर्वाणका भोक्ता होजायगा। इस ज्ञानीको गाढ़

निश्चय है कि मैं आत्मद्रव्य हूं मेरे अनन्त गुण व उनकी अतिम पर्याय सब मेरे ही पास है । मैं परम ज्ञान, परम दर्शन, परम चारित्र, परमानंदका धनी पूर्ण स्वतन्त्र हूं । मेरा सम्बन्ध किसी भी पर भावसे वा पदार्थसे नहीं है । कर्म पुद्गलोंके सुमर्मे पड़ा हूं तौ भी उसी-तरह निराला हूं जैसे कुन्दन स्वर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी शुद्ध व निर्लिप्त है या हीरेकी कणी बालूके बीच पड़ी हुई भी हीरा ही बनी रहती है, बालू नहीं होजाती है। मेरेमें एक अगुरुलघु गुण है जिसके प्रतापसे मैं कभी अपनी सत्ताको न तो कम करता हूं न उसमें कुछ वृद्धि करता हूं । जितने गुण हैं उनको अखण्ड व शुद्ध अपनेमें पूर्ण रखता हूं । मेरेमें न कर्मबंध है न मुझे बंधके काटनेकी चिन्ता है । मैं सदा निर्बंध, निष्कलंक, निरञ्जन, अव्याबाध, अविनाशी, अमूर्तीक, सत् पदार्थ ज्ञानानन्दमय हूं । ईश्वर या परमात्मा मैं ही हूं। इस तरह ज्ञानी आत्माके अपने द्रव्य स्वभावको जानता हुआ परम तृप्त रहता है। न कोई परसे बिगड़नेका भय है न किसी पदकी चाह है। आपसे ही आपमें अपने ही द्वारा आपके ही लिये आपको आप ही धारण करता है । निर्विकल्प भावमें मग्न है, यही स्वतन्त्र भाव है व स्वतन्त्रताका उपाय है ।

१२२—क्षीणमोह संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके निरोधके लिये उन भावोंका विचार करता है जिनसे कर्मोका संवर होता है। जो साधु क्षायिक सम्यग्दृष्टी होता हुआ व वज्रऋषभनाराच संहननका धारी होता हुआ क्षपकश्रेणी

पर आरूढ होता है वह दशवें गुणस्थानमें आता है। यहा योगोंका हलन चलन है। उससे केवल एक सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव ११ वें गुणस्थानके समान होता है। ११९ प्रकृतियोंका आस्रव नहीं होता है। वह वीतरागी शुद्ध भावोंमें परम एकाग्र हो जाता है। दूसरे शुक्लध्यानको ध्याता है। वह कभी पतन नहीं करता है। यह शीघ्र ही केवलज्ञानी होनेवाला है। यही उत्कृष्ट अन्तरात्मा या महात्मा है। मोहकर्मरूपी राजाका क्षय कर चुका है। धन्य है आत्मज्ञानकी महिमा जिसके प्रतापसे एक अज्ञानी सज्ञानी हो जाता है। मिथ्यादृष्टी सम्यग्दृष्टी व असयमी सयमी होजाता है। स्वतंत्रताको अपने आत्मामें ही पाता है। वह साक्षात्कार कर लेता है कि मै कर्म रहित, रागादि रहित, परम ज्ञान स्वरूप परमात्मा हू। द्रव्य दृष्टिसे वह देखता है। अब उसे अपना आत्मा भी शुद्ध व परकी आत्मासे भी शुद्ध दीखता है। कोई हितकारी व अहितकारी नहीं भासता है, कोई इष्ट कोई अनिष्ट नहीं देखता है। जहा कहीं भी वह देखता है उसे एक ज्ञान स्वरूपी आत्माका ही दर्शन होता है। वह विश्वव्यापी ज्ञान ज्ञानमय सागरमें मग्न होजाता है। ससारका सब आताप शमन होजाता है।

वह ज्ञानी एक शुद्ध भावकी पाषाणमय दृढ गुफामें तिष्ठ जाता है। वहींपर आप बिल्कुल नग्न निर्ग्रंथ होजाता है। आठ कर्मोंका आच्छेदन करे, तैजस शरीरके सयोगको व औदारिक शरीरके बन्धनको, रागद्वेषादि भाव कर्मोंको बिल्कुल फेंक देता है। शुद्ध स्फटिक मणिके समान आत्मीक प्रदेशोंको कर लेता है तब अपने निर्मल आत्मदर्पणमें सर्व विश्वकी वस्तुओंको वीतराग भावसे जैसे व हैं

निश्चय है कि मैं आत्मद्रव्य हूं मेरे अनन्त गुण व उनकी अनंत पर्यायें सब मेरे ही पास हैं । मैं परम ज्ञान, परम दर्शन, परम चारित्र, परमानन्दका धनी पूर्ण स्वतन्त्र हूं । मेरा सयोग किसी भी पर भावसे या पदार्थसे नहीं है । कर्म पुद्गलोंके मुखमें पड़ा हूं तो भी उनसे तरह निराला हूं जैसे कुन्दन स्वर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी शुद्ध व निर्लेप है या हीरेकी कणी बालूके ढेरमें पड़ी हुई भी हीरा ही बनी रहती है बालू नहीं होजाती है। मेरेमें एक अगुरुलघु गुण है जिसके प्रतापसे मैं कभी अपनी सत्ताको न तो कम करता हूं न उसमें कुछ वृद्धि करता हूं । जितने गुण हैं उनको अखण्ड व शुद्ध अपनेमें पूर्ण रखता हूं । मेरेमें न कर्मबन्ध है न मुझे बन्धके काटनेकी चिन्ता है । मैं सदा निर्बंध, नि कलंक, नि रंजन, अव्याबाध, अविनाशी, अमूर्तीक, सत् पदार्थ ज्ञानानन्दमय हूं । ईश्वर या परमात्मा मैं ही हूं। इस तरह ज्ञानी आत्माके अपने द्रव्य स्वभावको जानता हुआ परम तृप्त रहता है । न कोई पास बिगड़नेका भय है न किसी परकी चाह है । आपसे ही आपमें अपने ही द्वारा आपके ही लिये आपको आप ही धारण करता है । निर्विकल्प भावमें मग्न है, यही स्वतन्त्र भाव है व स्वतन्त्रताका उपाय है ।

१२२–क्षीणमोह संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके निरोधके लिये इन भावोंका विचार करता है जिनसे कर्मोंका संवर होता है। जो साधु क्षायिक सम्यग्दृष्टी होता हुआ व वज्रवृषभनाराच संहननका धारी होता हुआ क्षपकश्रेणी

नहीं चाहता है । पुण्यके उदय बिना इष्ट पदार्थोंका समागम नहीं रहता है तथा सर्व चेतन व अचेतन स्थूल पर्याय क्षणभगुर हैं । बिजलीके चमकारके समान हैं । उनका वियोग हो जानेपर अज्ञानी जीव शोक करता है व पुन उनका समागम होनेक लिये तृष्णातुर बन जाता है । जैसे२ पदार्थ मिलते हैं और भी अधिक तृष्णाकी दाहको बढा लेते हैं ।

एक दिन अज्ञानीको निराश होकर स्वय मर जाना पडता है। रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बध करता है ।

जगतमें यौवन जरासे रोगसे क्षय होता है। धन अनेक कारणोंसे जाता रहता है । कुटुम्ब अपने२ आयु कर्मके आधीन है, वियोग होजाता है। सर्व सयोग देखते२ स्वप्नके समान हो जाता है। ऐसा विचार कर ज्ञानी आत्मा सर्व ही स्थूल व सूक्ष्म पर्यायोंको नाशवत मानकर उनसे मोह त्याग देता है। द्रव्य दृष्टिको सामने रखकर देखता है तब सर्व ही छ द्रव्य परम शुद्ध स्वभावमें दिखते हैं। धर्म अधर्म आकाश काल तो सदा ही शुद्ध रहते हैं। पुद्गलोंकी स्कध पर्यायको अनित्य जानकर परमाणुरूपसे देखकर समभाव लाता है। सब आत्मा-ओंको परम शुद्ध देखकर रागद्वेष मिटा देता है। जैसा मैं ज्ञानानदमय परम वीतराग हू वैसे ही सर्व आत्माए हैं। ऐसा देखकर समताके सागरमें मगन होजाता है, परम सवरभावको पा लेता है। इसी भावमें मगन होकर आनदका अद्भुत स्वाद लेकर परम सतोषी रहता है।

वैसा उनको देखता है। किसी पदार्थमें प्रीति व अप्रीति नहीं करता है। इस तरह वीतराग भावका उपासक नूतन कर्मोंको रोकता है व पुरातनको उदासीनभावसे क्षय करता है। स्वतन्त्रतामय भावकी उत्कटता ही स्वतन्त्रताका प्रकाश करनेवाली है। जो आत्मज्ञानी हैं वे आत्मानन्द भोगते हुए सदा सुखी हैं।

१२३–अनित्य भावना मनन भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके सम्बन्धका पूरा पूरा विचार कर रहा है। कर्मकी संगति आत्माकी स्वतन्त्रतामें बाधक है। वह विचारता है कि बारह भावनाएं परिणामोंको कोमल करनेवाली हैं। आत्माके उपवनमें रमण करानेकी प्रेरणा करनेवाली हैं। अतएव उनका विचार भी करना उचित है। यह लोक जीव अजीव छ द्रव्योंका समुदाय है। ये सब द्रव्य परिणमनशील हैं। समय २ सूक्ष्म पर्याय सब द्रव्योंमें होती है, पर्याय पलट जाती है। समय २ पुरानी पर्यायका नाश व नई पर्यायका उत्पाद होता है। पर्याय इसलिये अनित्य है। मोही प्राणीकी दृष्टि सूक्ष्म पर्यायपर नहीं जाती है। वह तो जीव तथा पुद्गलकी मिश्रित स्थूल पर्यायोंको व अकेले पुद्गलकी स्थूल पर्यायोंको अपनी पांचों इन्द्रियोंसे विषयभोगके हेतुसे देखता है तब सुन्दर स्त्री, पुत्र, पुत्री, उपकारी मित्र, सुन्दर मकान, आभूषण, वस्त्र, माला, सुगंध, गीत, आदि व खेल तमाशा रागरंग अच्छे लगते हैं। उनको लेकर विषयभोग करता हुआ उनको थिर रखना चाहता है व अनिष्ट चेतन अचेतन पदार्थोंको देखकर द्वेषभाव पैदा करके उनका सम्बन्ध

नहीं चाहता है । पुण्यके उदय विना इष्ट पदार्थोंका समागम नहीं रहता है तथा सर्व चेतन व अचेतन स्थूल पर्याए क्षणभगुर हैं । बिजलीके चमत्कारके समान हैं । उनका वियोग हो जानेपर अज्ञानी जीव शोक करता है व पुन उनका समागम होनेके लिये तृष्णातुर बन जाता है । जैसे२ पदार्थ मिलते हैं और भी अधिक तृष्णाकी दाहको बढ़ा लेते हैं ।

एक दिन अज्ञानीको निराश होकर स्वय मर जाना पड़ता है। रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बध करता है ।

जगतमें यौवन जरासे रोगसे क्षय होता है। धन अनेक कारणोंसे जाता रहता है । कुटुम्ब अपने२ आयु कर्मके आधीन है, वियोग होजाता है। सर्व सयोग देखते२ स्वप्नके समान हो जाता है । ऐसा विचार कर ज्ञानी आत्मा सर्व ही स्थूल व सूक्ष्म पर्यायोंको नाशवन्त मानकर उनसे मोह त्याग देता है। द्रव्य दृष्टिको सामने रखकर देखता है तब सर्व ही छ द्रव्य परम शुद्ध स्वभावमें दिखते हैं। धर्म अधर्म आकाश काल तो सदा ही शुद्ध रहते हैं । पुद्गलोंकी स्कध पर्यायको अनित्य जानकर परमाणुरूपसे देखकर समभाव लाता है। सब आत्माओंको परम शुद्ध देखकर रागद्वेष मिटा देता है। जैसा मैं ज्ञानानन्दमय परम वीतराग हू वैसे ही सर्व आत्माए हैं। ऐसा देखकर समताके सागरमें मग्न होजाता है, परम समभावको पा लेता है। इसी भावमें मगन होकर आनन्दका अद्भुत स्वाद लेकर परम सतोषी रहता है।

१२४-अशरण भावना सवर भाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोको आत्माका शत्रु समझकर उनके आगमनके विरोधका उपाय विचार रहा है ।

अशरण भावनामें विचारता है कि ससारी जीवको जब आयु कर्मके समाप्त होनेपर शरीर छोडना पडता है तब कोई मरणसे बचा नहीं सकता। माता, पिता, भाई, बहन, सेना, वैद्य, शास्त्री देखते ही रहते हैं, कोई रक्षित नहीं कर सक्ता । मनोज्ञ स्त्री पुत्र सपदा होते हुए भी सबको छोडकर जाना पडता है। इसी तरह जब तीव्र पापका उदय होता है व विपत्तिया या रोगादि क्लेश घेर लेते हैं तौभी उस जीवको कोई दुःख सहनसे बचा नहीं सक्ता। इसलिये ससार-भ्रमणमें यह जीव अशरण है । यदि कोई शरण है तो श्री अरहंत, सिद्ध साधु हैं, जिनकी भक्तिसे पाप कटते हैं व पुण्यका लाभ होता है। अथवा अपना आत्मा ही अपना शरण है। जो कोई अपने आत्माकी शरणमें रहता है, सर्व पर शरणको त्याग कर एक अपने आत्मामें ही विश्राम करता है, वह कर्मोके उदयमें भी या बाहरी असाताकारी निमित्त होनेपर भी आत्मीक सुख भोगता है, पाप कर्मको छुडाता है ससारका नाश करता है। आत्माकी ही शरण लेनेसे यह जीव सर्वकर्मसे रहित शुद्ध होजाता है। आत्मशरण ही असली शरण है।

आत्मा ही परम तत्व है, परम पदार्थ है, परम द्रव्य है, परम अस्तिकाय है परम आनन्दधाम है, परम चारित्रवान है, सम्यक्त निधान है, परम वीर्यवान है, परम ज्ञानवान है, परम दर्शनवान है, परम ज्ञान चेतनाका निधान है। परम भगवान है, परम समयसार है,

परम रमताराम है, सहज स्वभाववान है, परम पारणामिक भाववान है, परम शांतिका स्थान है, परम समताका सागर है, गुणोंका रत्नाकर है, अज्ञान तत्वनाशक दिवाकर है, परमामृतवर्षक चन्द्र प्रभाकर है। सर्व मन, वचन, कायके विकल्पोंसे दूर है। ऐसे स्वानुभवगम्य आत्मामें जो रमण करता है वही सर्व अशरणकारक कारणोंको मेटकर आपसे ही अपना शरणभूत होकर नित्य सूर्य स्वयं प्रकाशता है। यही भावना अशरण भावना है व संवरतत्व है जिससे समसुख होता है।

१२५–संसार भावना संवर भाव।

यह ज्ञानी जीव कर्मोके निरोधके उपायोंका विचार कर रहा है। तीसरी संसार भावना है। जहां जीव कर्मोंके उदयके आधीन हो चारों गतियोंमें भ्रमण करे, सो संसार है। हरएक गतिमें इन्द्रिय-भोगकी लालसासे भोग करनेका उद्यम करे। कहीं भोग पाकर कहीं न पाकर अतृप्त भावमें ही मरण करके दूसरी गतिमें चला जावे, कहीं पर भी तृप्ति न पावे। देवगतिके व नारायण चक्रवर्तीके भोगोंसे भी जब तृप्ति नहीं तब संसारके भीतर कहीं भी तृप्ति नहीं है। इसीलिये संसारको कल्के समान असार कहते हैं। अज्ञानी मोहीको कहीं भी सत्य सुख नहीं मिलता है। मोहके नशेमें चूर होकर इमने देहसे प्रीति करी तब देह बारबार प्राप्त हुई।

अनादिकालके चक्रमें इसने अनंतबार पांच परिवर्तन किये हैं। कर्मपुद्गलका कोई परमाणु शेष नहीं जो इसने बारबार ग्रहण करके त्यागा न हो, यह द्रव्य परिवर्तन है। लोकाकाशका कोई प्रदेश व की नहीं

है, जहां इसने जन्म न लिया हो, यह क्षेत्र परिवर्तन है । उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालके बीस कोड़ाकोड़ी सागरका कोई समय नहीं बचा जहां बारबार जन्म मरण न किया हो, यह काल परिवर्तन है । नर्क तिर्यंच मनुष्य व ग्रैवेयिक तक देवगतिमें, इस तरह चार गतिमें कोई भव शेष नहीं जिसका बारबार धारण न किया हो, यह भव परिवर्तन है ।

मिथ्यादृष्टिके समविन आठों प्रकारके कर्मोंके बंधके कारण योग व कषाय भावोंमें कोई स्थान शेष नहीं रहा जो इसने धारण न किया हो, यह भाव परिवर्तन है । संसारमें कहीं भी शांति नहीं परन्तु जो आत्मज्ञानी हैं वे संसारकी किसी भी दशामें रहें सदा ही सुखी रहते हैं।

आत्मज्ञानीको परवस्तुके आधीन नहीं किंतु स्वाधीन आत्मिक सुख मिलता है। वह संसारके सुखको खारा पानी पीना समझता है। ज्ञानी संसारके कारण राग द्वेष मोहभावोंसे प्रेम छोड़कर एक अपने ही आत्मासे परम प्रेम करते हैं । वे आत्माको ही परमात्मा, परमेश्वर, चिदानन्द, सुखसागर, परम निश्चल, परम वीतराग, निर्विकारी, सर्वांग शुद्ध, अमूर्तीक, परम तत्व जानके उसीमें विश्राम करके आनन्दामृतका पान करते हैं । वे मुक्तिके प्रेमी होकर निरंतर निज आत्माकी शुद्ध भावना करते हैं । परम सन्तोषसे व समभावसे रहते हैं। संसारसे उदासीन रहकर भी परम पुरुषार्थी बन रहते हैं। वे ही संवर ज्ञान रहकर कर्मोंके भयानक आक्रमणसे बचते हैं ।

१२६–एकत्व भावना सवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोकी परतन्त्रता मिटानेके लिये उन संवर भावोंको विचार करता है जिनसे कर्मोका आना रुकता है।

एकत्व भावनाका विचार करता है कि यह जीव कर्मोके बंधमें पड़ा हुआ अकेला ही भ्रमण करता है, अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पाप कर्मका फल दुःख व पुण्य कर्मका फल सुख भोगता है। कोई इसके पापको न्टा नहीं सकता है। यदि कुटुम्बके मोहमें मत मोही जीव अनेक पाप कर्म करके धन सामग्री लाता है तो इस पाप कर्मका फल इस ही अकेलेको भोगना पड़ेगा, कुटुम्ब सहायक नहीं होसक्ता। मरतेके साथ कोई मरता नहीं। समारमें विपत्तियां एक अकेलेको ही झेलना पड़ती हैं। अपनको अकेला अपने भावोंसे बननेवाले पाप पुण्यका अधिकारी समझकर परके मोहमें पड़कर पाप करनेसे बचाना चाहिये व किसी भी परसे मोहभाव न रखना चाहिये। सबकी सत्ता निराली है। अपनी भलाई बुराईका आप ही आधार है। कुटुम्ब परिवार मित्रादि शरीरके है आत्माके नहीं। व्यवहारसे भी यह आत्मा अकेला है, निश्चयनयसे भी अकेला है। अपने आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव अन्य आत्माओंके सर्व, पुद्गलोंके, धर्मद्रव्यके, अधर्मद्रव्यके आकाश द्रव्यके असंख्यात कालाणु द्रव्योंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे न्यारा है। अपने आत्माका द्रव्य अखण्ड अभेद अनन्त गुण पर्यायोंका पिण्ड है, कभी बिग्ड नहीं सक्ता है।

अपने आत्माका असंख्यात प्रदेशरूपी क्षेत्र निराला है। यद्यपि एक एक प्रदेशके अनन्त पुद्गलोंका संयोग है तौभी उनके क्षेत्रसे इस

आत्माका क्षेत्र भिन्न है। अपने आत्माके भीतर रहनेवाले गुणोंक समय २ परिणाम अपनामें ही है। यही अपना स्वकाल है। अप आत्माके भाव अनक हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व अगुरुलघुत्व, ये तो सामान्य गुण हैं व शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, अनन्त वीर्य अनत आनद, शुद्ध सम्यक्त, वीतराग चारित्र आदि विशेष गु हैं। आत्माके सर्व गुण द्रव्य इस एक आत्मामें हैं, परमें नहीं हैं प आत्माके गुणरूप अपने आत्मामें नहीं है। सिद्ध परमात्माके समा अपना आत्मा है तौभी सिद्धकी सत्ता निराली है। अपने आत्माक सत्ता निराली है। इस तरह अपना एकत्व विचार करके ज्ञानी अप ही भीतर विश्राम करता है, परम सतोषित रहता है, शातभाव मगन रहता है, परमानन्दका स्वाद पाता है। अपनी स्वतन्त्रताका अनुभ करना ही एकत्व भाव है, यही परम शरण है, यही ज्ञानीका कर्म है

१२७–अन्यत्व भावना संवर भाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके आक्रमणसे बचनेके लिये उनके संवरके उपायोंको विचार कर रहा है।

अन्यत्व भावना भी संवरका उपाय है। इसका विचार व्यवहार व निश्चय दोनों नयोंसे करना उचित है। व्यवहारनयसे हमारे व्यक्तित्वसे हमारा परिवार कुटुंब निराला है। स्त्री पुत्रादि सब जुदे हैं। मित्र, शत्रु, सेवक, धन, धान्य, मकान, वस्त्रादि सब भिन्न हैं। चेतन व अचेतन पदार्थोंका संयोग होकर वियोग हो जाता है। अन्य कोई भी अपना नहीं है, जिसे अपना करके माना जावे। पुण्यके उदयपर

मनोज्ञ संयोग रहता है, पापके उदयपर बिगड जाता है। सब ही जनोंका संयोग स्वार्थके आधीन है। स्वार्थ सधता न होनेपर जिनको अपना जानते थे वे सब पर हो जाते हैं। ज्ञानी जीवको परपदार्थोंसे मोह न करना चाहिये। निरपेक्ष प्रेमभाव रखके शक्तिके अनुसार उनकी सेवा करनी योग्य है। उनको अपना उपकारी बनानेके लिये नहीं। जब कोई अपना नहीं है तब प्रीति करना आगामी दुःखका कारण है। अपनेको अकेला साक्षात् अपने हितका विचार अपनको ही करना योग्य है।

निश्चयनयसे विचारे तो मेरा आत्मा अपनी सत्ता जुदी रखता है। इसमें अन्य सर्व आत्माएँ हैं, सर्व पुद्गल हैं, धर्मादि चार द्रव्य हैं, आठों कर्म पुद्गल हैं, उनका फल भी पुद्गलमय है, रागादि विकार भी कर्मके उदयसे होते हैं, आत्माके निज स्वभावसे भिन्न हैं।

मेरा नाता किसी भी परद्रव्यसे रंचमात्र नहीं है। मैं अन्य हूं अन्य सर्व मुझसे अन्य हैं। मुझे तब अपने ही स्वमें रहना चाहिये। स्वसमयमें ही आचरण करना चाहिये। अपने ही ज्ञानानंद रूप अटूट धनमें सन्तोषित रहना चाहिये। परकी तृष्णा हटाना चाहिये। परको पर जान सर्व मोहका त्याग करना चाहिये। अपने आनंद स्वभावका निश्चय रखके परम वैराग्यमय होकर अपने स्वभावमें रमण करना चाहिये। राग, द्वेष मोहको सर्वथा त्याग देना चाहिये। वीतराग विज्ञानमय स्वभावको अपना जानकर उसीका पान चेतना एक होकर स्वादु होना चाहिये। परसे उपयोग हटाकर अपने आनन्द स्वभावमें लीन होकर अद्वैत भावका धनी होना चाहिये। अपना एकत्व विचार

कर सबका अपनसे अन्यत्व विचार कर सम्यग्दृष्टि होना चाहिये । अन्यत्व भावनाके प्रभावसे भेदविज्ञानकी कला पैदा करनी चाहिये । यही कला स्वानुभव करानेवाली है । ज्ञानी जीव इस भावनाके बलसे आपनमें परका अभाव जानकर आपमें सतोषित रहकर परमानन्दका भोग करते हैं।

१२८–अशुचि भावना सार भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके संवर भावोंका विचार कर रहा है । वीतराग भावकी धारणा अशुचि भावना परम उपयोगी है । अज्ञानी शरीरको आत्मारूप मानकर शरीर व उसके भीतर प्राप्त एक व आंक इन्द्रियोंके लोभमें मोही होकर शरीरके संयोगोंमें शांति करता है व शरीरको हानिकारक बातोंसे द्वेष करता है । शरीरके भीतर विराजित आत्माको बिल्कुल भुलाए रहता है । शरीरको चिर मानकर शरीरकी क्रियामें ही जीवनको खो देता है । शरीर परमाणुओंके स्कन्धसे बना है । आहार, पानी, वायुके द्वारा पुष्टि पाता है । आयु कर्मके आधीन है। कर्मभूमिके मानवोंकी अकाल मृत्यु भी होजाती है । बालक व वृद्ध दशा बहुत ही कष्टप्रद है। आत्मा पराधीन है। युवावयमें यह अज्ञानी विषयाध होजाता है । यह शरीर महान अपवित्र है ।

पिताका वीर्य व माताके रुधिरसे इसकी उत्पत्ति है । भीतर मल, मूत्र, पीब, रुधिर, अस्थि, मांसादिसे व अनगिनती कृमियोंसे पूर्ण है । नौ द्वारोंसे व करोडों रोम छिद्रोंसे मल ही निकलता है । पवित्र जल, वस्त्र, पुष्पकी माला, चन्दनादि सब ही पवित्र पदार्थ शरीरके संयोगसे अपवित्र होजाते हैं । नर्कमय यह शरीर है । ऊपरकी त्वचाके

हटा लेने पर यह परम ग्लानियुक्त विदित होता है। स्वयं अपनेको भी घृणा आवे।

यह शरीर महान अपवित्र है। इसका संयोग पवित्र आत्मासे रखना किसी भी तरह प्रशंसनीय नहीं है। इस शरीरके द्वारा ही आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर लेता है जो फिर शरीरका संयोग कभी नहीं हो। इसलिये इस शरीरको सेवकके समान रखकर इसके द्वारा अपने ही आत्माका अनुभव करना चाहिये। यह आत्मा निश्चयसे परम पवित्र परमात्मा है, ज्ञाता दृष्टा है, अविनाशी है। सर्व ही रागादि भावोंसे रहित है। शुद्धोऽहं, सिद्धोऽहं, निरञ्जनोऽहं, ऐसी भावना करते रहनेसे जब थिरता होती है तब स्वानुभव जागता है। यही शरीरसे छूटनेका उपाय है। स्वानुभव परमानंदमय है, परम शांतिदाता है, परम धर्म है।

१२९–आस्रव भावना सरभाव।

ज्ञानी आत्माके कर्मोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिये कर्मोंके निरोधके उपायोंको विचारता है।

बारह भावनाएं परम उपकार करनेवाली हैं। आस्रव भावनामें कर्मास्रवके कारण भावोंका विचार है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये चार प्रसिद्ध आस्रव भाव हैं। आत्मा व अनात्माका यथार्थ श्रद्धान न होना व सांसारिक सुखको उपादेय मानना, आत्मीक सुखकी रुचि न प्राप्त करना, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंमें फंसे रहना व रातदिन विषयभोगकी रुचि रखनी व इसी रुचिके आधीन होकर धर्मका साधन करना। सुदेव, सुगुरु व सुधर्मको न

पश्चात करके कुदेव, कुदेव, सुगुरु, कुगुरु सुधर्म, कुधर्मका सेवन न करना सब मिथ्यात्व भाव है। जबतक शुद्धात्मानुभवकी गाढ़ रुचि न हो व साक्षात् स्वानुभव न हो वहांतक मिथ्यात्व भावका मैल नहीं छूटता है। कतिपय मुनि जैन शास्त्रानुसार आचारको ठीक २ पालते हुए भी आत्मानुभवके बिना मिथ्यात्व मलसे नहीं छूटकर मोक्षमार्गी नहीं हो सकते हैं। जगतमें स्वपर दुखदायी पांच पाप हैं। हिंसा, असत्य, चोरी कुशील व परिग्रहकी मूर्छा, इनसे विरक्त न होना अविरति भाव है। चार कषाय–क्रोध, मान माया, लोभ आत्माके महान शत्रु हैं। इनसे आये हुए कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग बंध पड़ता है। मन, वचन, कायके वर्तते हुए आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है, उस समय योगशक्ति कर्मोंको खींचती है व इसीसे प्रकृति व प्रदेश बंध होता है। आस्रव व बंधका कार्य एक ही है। बारह भावनाओंमें आस्रव भावना ही है, बंध भावना नहीं है।

ये चारों ही आस्रव भाव औपाधिक भाव हैं। कर्मोंके उदयसे होते हैं। आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। ये ही संसारके बीज हैं। इनसे उदासीन होना, ज्ञानी निरास्रव व निर्बंध एक आत्मा ही आत्माकी ही शरणमें आता है, गुणगुणी विकल्पोंके द्वारा निर्विकल्प होजाता है। भावना ही आत्मानुभव पुत्रकी जननी है। आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, परम वीतराग, परमानंद, परम वीर्यवान है। सर्व रागादिसे रहित है, परम निरंजन निर्विकार है, अमूर्त व अखण्ड है अपने शरीर व्यापक परम अविनाशी देव है। जो इस देवकी ही आराधना करता है वह स्वानुभवका लाभ करके परम आनन्दमय होजाता है।

१३०–सवर भावना सवर भाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके आस्रवके निरोधकारक भावोंका विचार कर रहा है।

सवर भावमें विचारता है कि यह आस्रव भावोंका विरोधी है। जब यह जीव अविरत सम्यग्दृष्टी होता है तब अनंतानुबंधी चार कषाय और दर्शन मोहके कारण जिन कर्मोंका बंध होता था उनका सवर होजाता है। पांचवें देशविरत गुणस्थानमें अप्रत्याख्यान चार कषायके कारण जिन कर्मोंका आना होता था वे कर्म नहीं आते हैं। छठे सातवें प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानोंमें प्रत्याख्यान चार कषायोंके आनेवाले कर्म रुक जाते हैं। नौवें गुणस्थानमें हास्यादि छ नोकषायोंके द्वारा आनेवाले कर्म नहीं आते हैं। केवल चार संज्वलन कषाय व तीन वेद सम्बन्धी कर्म आते हैं। जितना जितना इनका उदय हटता जाता है, सवर होता जाता है। दसवेंमें सूक्ष्म लोभ सम्बन्धी आस्रव होता है। ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें कषायोंका मेल नहीं रहता है। केवल योगोंका परिणमन है। इससे केवल सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। चौदहवेंमें पूर्ण सवर होजाता है।

मोह व योग ही कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इनका निरोध एक शुद्धात्माकी भावनासे होता है। सम्यग्दृष्टीके भीतर चार योग अपने आत्माका साक्षात्कार होजाता है। उसे ज्ञानके द्वारा गाढ निश्चय है कि मेरा आत्मा सर्व परपदार्थोंसे भिन्न है, इसकी सत्ता निराली है, पुद्गलका कोइ परमाणु मेरेमें नहीं है, न मेरेमें कार्मण शरीर हैं न तैजस शरीर हैं न आहारक न औदारिक न वैक्रियिक शरीर हैं, न

पश्चान करके सुदेव, कुदेव, सुगुरु, कुगुरु सुधर्म, कुधर्मका सवन न करना नर्त मिथ्यात्व भाव है। ज तक शुद्धात्मानुभवकी गढ रुचि न हो व साक्षात् आत्मानुभव न हो वहांतक मिथ्यात्व भावका मैल नहीं छूटता है। कतिपय मुनि जो शास्त्रानुसार आचारको ठीक २ पालते हुए भी आत्मानुभवके विना मिथ्यात्व मलसे नहीं छूटकर मोक्षमार्गी नहीं हो सकते हैं। जगतमें स्वपर दुखदायी पांच पाप हैं। हिंसा, असत्य, चोरी कुशील व परिग्रहकी मूर्च्छा, इनसे विरक्त न होना अविरतिभाव है। चार कषाय–क्रोध, मान माया, लोभ आत्माके महान शत्रु हैं। इनसे आये हुए कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग बंध पड़ता है। मन, वचन, कायकं वर्तते हुए आत्माके प्रदेशोंका कंपन होता है, उस समय योगशक्ति कर्मोंको खींचती है व इसीसे प्रकृति व प्रदेश बंध होता है। आस्रव व बंधका कार्य एक ही है। बारह भावनाओंमें आस्रव भावना ही है, बंध भावना नहीं है।

ये चारों ही आस्रव भाव औपाधिक भाव हैं। कर्मोंके उदयसे होते हैं। आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। ये ही संसारके बीज हैं। इनसे उदासीन होग, ज्ञानी निराश्रव व निर्बंध एक आत्म ही या आत्मकी ही शरणमें आता है, गुणगुणी विकल्पोंके द्वारा निर्विकल्प होजाता है। भावना ही आत्मानुभव पुत्रकी जननी है। आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, परम वीतराग, परमानंदी, परम वीर्यवान है। सर्व रागादिसे रहित है, परम निरंजन निर्विकार है, अभेद व अखण्ड है, अपने शरीर व्यापक परम अविनाशी देव है। जो इस देवकी ही आराधना करता है वह स्वानुभवका लाभ करके परम आनन्दमय होजाता है।

१३०—संवर भावना संवर भाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोंके आस्रवके निरोधकारक भावोंका विचार कर रहा है।

संवर भावमें विचारता है कि यह आस्रव प्राणोंका विरोधी है। जब यह जीव अविरत सम्यग्दृष्टी होता है तब अनंतानुबंधी चार कषाय और दर्शन मोहके कारण जिन कर्मोंका बंध होता था उनका संवर होजाता है। पांचवें देशविरत गुणस्थानमें अप्रत्याख्यान चार कषायके कारण जिन कर्मोंका आना होता था वे कर्म नहीं आते हैं। छठे सातवें प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानोंमें प्रत्याख्यान चार कषायोंके आनेवाले कर्म रुक जाते हैं। नौवें गुणस्थानमें हास्यादि छ नोकषायोंके द्वारा आनेवाले कर्म नहीं आते हैं। केवल चार संज्वलन कषाय व तीन वेद संबंधी कर्म आते हैं। जितना जितना इनका उदय हटता जाता है, संवर होता जाता है। दसवेंमें सूक्ष्म लोभ संबंधी आस्रव होता है। ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें कषायोंका मेल नहीं रहता है। केवल योगोंका परिणमन है। इससे केवल सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। चौदहवेंमें पूर्ण संवर होजाता है।

मोह व योग ही कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इनका निरोध एक शुद्धात्माकी भावनासे होता है। सम्यग्दृष्टीके भीतर चार योग अपने आत्माका साक्षात्कार होजाता है। उसे ज्ञानके द्वारा गाढ निश्चय है कि मेरा आत्मा सर्व परपदार्थोंसे भिन्न है, इसकी सत्ता निराली है, पुद्गलका कोई परमाणु मेरेमें नहीं है, न मेरेमें कार्मण शरीर हैं न तैजस शरीर हैं न आहारक न औदारिक न वैक्रियिक शरीर हैं न

मेरेमें कर्मके विकार रागादिभाव हैं, न मेरेमें कोई अशुभ भाव है न कोई शुभ भाव है, न कोई गुणस्थान है न मार्गणास्थान है।

मैं एक ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परम वीतरागी परमानन्दी एक चित धातुकी मूर्तिममान अखण्ड द्रव्य हूं। इसी भावनाकी दृढताके प्रभावसे वह आत्मानुभवको प्राप्त कर लेता है। यही सच्चा संवरभाव है। यही आनन्दप्रद अमृतका पान है। उसीके प्रतापसे मोहकी सेनाका संहार किया जाता है। आत्मीक खड्गको चलानेका निरंतर अभ्यास करता है वीर सिपाहीके समान कर्मशत्रुओंको दूरसे रोकता रहता है। वीर भावमें मगन होकर परमानंद भोगता है।

१२१–निर्जरा भावना संवर भाव।

ज्ञानी आत्माके ऊपर कर्मोंका आक्रमण मेटनेके लिये संवर भावोंका विचार कर रहा है।

निर्जरा भावना बडी उपयोगी है। ज्ञानी विचारता है कि यद्यपि पूर्वमें बांधे हुए कर्म अपने समयपर पक करके गिर जाते हैं, उसी समय रागद्वेषादि भावोंके निमित्तसे और नए कर्म बंध जाते हैं। जैसे तालावमें एक तरफसे पानी निकलता है, दूसरी तरफसे नवीन पानी आता है, तब वह तालाव भरा ही मिलता है। यदि तलावको खाली करना हो तो नये पानीका आना रोकना पडेगा व पुराने पानीके निकालनेके लिये एक छिद्र और करना पड़ेगा, जिससे पानी जल्दी निकल जावे।

इसी तरह आत्माको कर्मोंसे मुक्त करनेके लिये सविपाक-

निर्जरासे काम नहीं चलेगा। अविपाक निर्जराकी जरूरत है। बहुतसे कर्मोंको पकनेके पहले झड़ा देना चाहिये। इसका उपाय तप है। वीतराग भावोंकी वृद्धिसे कर्मोंका रस सूख जाता है व कर्म छूट जाते हैं। आत्मध्यानकी आगमें ऐसी शक्ति है कि एक अन्तर्मुहूर्तमें सर्व घातीय कर्म क्षय होजाते हैं व आत्मा परमात्मा अरहन्त जिन होजाता है। आत्मध्यानके लिये अपने आत्माकी वारवार भावना करनी योग्य है। व्यवहारनयसे यह अपना आत्मा कर्ममूढ़ताओंमें मिला अशुद्ध दिखता है। परन्तु जैसे मलीन जलको जलके स्वभावकी दृष्टिसे देखा जावे तो जल निर्मल ही दिखता है। इसी तरह अपना आत्मा निश्चयनयसे या शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे परम शुद्ध दिखता है। यही साक्षात् देव है, परम ज्ञानी है, सर्वदर्शी है, परम वीतराग है, परमानन्दमय है, परम श्रद्धावान है, अनन्त वीर्यवान है, अमूर्तीक है, स्वयं सिद्ध है, असंख्यात प्रदेशी है, अखण्ड है, अनंत गुण पर्यायोंका निधान है, यही कर्मविजयी जिनेन्द्र है, यही ब्रह्मज्ञानी है, यही ज्ञानापेक्षा विष्णु है, यही मंगलरूप शिव है, यही निर्विकार है, यही परम कृतकृत्य है। सर्व तृष्णा व अविद्यासे परे है। जो इस दृष्टिसे अपने आत्माकी भावना एकतान हो करता है वही अकस्मात् आत्मध्यानका लाभ कर लेता है। यही निर्जरा तत्व है। इस तत्वके मननसे कर्मोंका सवर होता है। ज्ञानी आत्माके गंभीर सुखमई सागरमें मगन होकर परम अमृतका पान कर तृप्त रहता है।

१३२–लोक भावना तत्त्व भाव।

ज्ञानी कर्मोंके आस्रवके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। लोक भावनामें विचार करता है कि लोक उस आकाशको कहते हैं जहां हरएक स्थान पर जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व कालाणु पाए जावें। छः द्रव्योंके समुदायको लोक कहते हैं। सर्व ही द्रव्य सत् हैं, सदासे हैं व सदा ही रहेंगे। इसलिये यह लोक सत् है। सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं। स्वभाव या विभाव पर्यायोंको रखते हैं। हरएक सूक्ष्म पर्याय एक समयमात्र रहती है, फिर दूसरी हो जाती है इस कारण छहों द्रव्य अनित्य भी हैं वैसे ही यह लोक भी अनित्य है। इस नित्य अनित्यमय लोकका कोई एक कर्ता नहीं है। यह छः द्रव्य अकृत्रिम हैं तब लोक भी अकृत्रिम हैं। ऊर्ध्व, मध्य अधो ऐसे तीन भेद हैं। अधोलोकमें नर्क हैं, मध्यमें मनुष्य तिर्यञ्च हैं। ऊर्ध्वमें स्वर्गादि व अन्तमें सिद्धक्षेत्र है। सिद्धक्षेत्रमें अनन्त सिद्ध भगवान अपने स्वभावमें मगन नित्य परमानन्द भोगी विराजमान हैं। लोकके भीतर जितनी आत्माएं हैं वे भी सब स्वभावसे सिद्धके समान शुद्ध हैं परन्तु उनकी पर्याय या दशा कर्म पुद्गलोंके संयोग वश राग द्वेष मोहसे मलीन व आकुलित हो रही है। तथापि यदि किसी अशुद्ध आत्माको शुद्धता प्राप्त करनी हो तो उसे अपने केवल एक मूल स्वभावका ही मनन करना चाहिये जिससे संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य आजावे व अपने ही शुद्ध स्वभावके लाभका गाढ़ उत्साह प्राप्त हो जावे।

अतएव शुद्ध निश्चयनयको सामने रखकर अपनेको एक अखंड,

अमूर्तीक, चैतन्यमई, अविनाशी पदार्थ मानकर यह मनन करना चाहिये कि मैं सदा ही निर्मल हू, मेरा कोई सम्बध आठ कर्मोसे, शरीरादि नोकर्मोसे व रागादि भाव कर्मोसे नहीं है। मैं परम वीत रागी हू, परमानद हू, अनत वीर्यवान हू, ज्ञान चेतनका स्वाद लेनेवाला हू, परम कृतकृत्य हू, निरजन निर्विकार हू। इस तरह मनन करते हुए ज्ञानी अभ्यासके बलसे जब कभी स्वरूपमे स्थिति प्राप्त कर लेता है तब स्वानुभव पालेता है। यही निश्चय मोक्षका मार्ग है, यही स्वत न्त्रताका उपाय है-सवर भाव है।

१२३–बोधिदुर्लभ भावना सवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके आगमनके द्वारको रोकना चाहता है, इसलिये सवरके कारणोंका विचार करता है।

बारह भावनाओंमें बोधिदुर्लभ भावना बहुत ही उपकार करनेवाली है। आत्मानुभवकी शक्तिको या आत्मज्ञानको या सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, रत्नत्रयकी एकताको बोधि कहते हैं। इसका लाभ होना बहुत दुर्लभ है। यह परमानन्दमई अमृत पिलानेवाली धारा है। आत्माको पवित्र करनेका मसाला है। सम्यग्दर्शनके लाभ होते ही इसका लाभ होता है। एकेन्द्रियसे असैनी पचेन्द्रिय पर्यंतके जीव इस बोधिको नहीं पासकते हैं। क्योंकि उनके भीतर ज्ञानकी प्रगटता मनके सहायक बिना ऐसी नहीं होती है जिससे वे अपने आत्माको जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है उसको पहचान सकें। व यह समझ सकें कि यह आत्मा अज्ञानसे अपनेको पाप व पुण्यजनित

भाव वा अवस्थाका धारी मान रहा है। असलमें यह आत्मा द्रव्य स्वयंसिद्ध सत् पदार्थ है, पूर्ण ज्ञानका भंडार है पूर्ण शांतिका समुद्र है, पूर्ण आनंदका सागर है। द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, तथापि पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है। असंख्यात प्रदेशी होकर भी अमूर्तीक है। यही स्वभावसे परमात्मा, परमेश्वर, परमतत्व व समयसार है तथा यदि व्यवहार दृष्टिसे देखें तो यही कर्मफल होनेसे अशुद्ध दिखता है व शुद्धिका उपाय बोधिका लाभ है, आत्मज्ञान है व आत्मानुभव है।

भव्यजीवको निकट समय होनेपर इस बोधिका लाभ होता है। यही नौका एक ऐसी अभेद व अचूक है कि जो इस बोधि नौका पर आरूढ हो जाता है वह बिना कर्म मलके अवश्यके सीधा शिव द्वीपमें पहुंच जाता है। एक दफे बड़े भाग्यसे व बड़े पुरुषार्थसे यदि बोधिका लाभ होजावे तो उसे महान लाभ समझना चाहिये। अनादि कालसे जो वस्तु न मिली थी उसका लाभ महान दुष्कर जानकर उस लाभको स्थिर रखना चाहिये। भूलसे या प्रमादसे इसको कहीं गमा न बैठना चाहिये, परम आदरसे रखना चाहिये व इसपर आरूढ होकर स्वानुभवके मंगल गीत गाने चाहिये। मिथ्यादर्शन परम अशुद्ध है उसके आक्रमणसे इसे बचाना चाहिये। अमृतपानमें निरन्तर मगन करानेवाली बोधिकी दुर्लभताका विचार वीतरागताको बढाता है जिसमें सुख होता है। इस भावनाको भानेवाला बोधिके गाढ प्रेमसे सहजानन्दका लाभ करता है।

१३४-धर्मभावना संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके आनेके द्वारोंको बंद करनेके लिये उपायोंका विचार कर रहा है ।

बारहवीं भावना धर्मके स्वरूपका चिन्तवन है । धर्म आत्माका स्वभाव है या आत्माके विकाशका जो उपाय है वही धर्म है ।

शुद्धात्मानुभव धर्म है, इसीसे कर्मका मल कटता है और आत्मा शुद्ध होता है। इसीको वीतराग विज्ञानभाव या निर्विकल्पसमाधि या स्वसंवेदन ज्ञान या निश्चयरत्नत्रय या कारण समयसार या स्वसमय कहते हैं। जब कोई भेदविज्ञानी अपने आत्माको आत्मारूप यथार्थ परम शुद्ध सर्व परके संयोगसे रहित एकाकी व पूर्ण कलशकी तरह अपने ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण, परम निश्चल श्रद्धान करता है व ऐसा ही जानता है व इसी ज्ञान श्रद्धानमें चर्यारूप होता है तब स्वानुभव धर्म प्रगट होता है ।

यदि यह कषायकी कलुषतासे शून्य होता है तो यह कर्ममलको काटता ही है। दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक कषायका उदय उपयोगमें रहता है वहांतक कर्मोका बंध भी होता है। धर्मका जितना अंश जिस ज्ञानीमें प्रगट होता है वह बंधकारक न होकर बंधनाशक है।

स्वानुभव धर्मके लाभके समय कर्म भी दूर होते हैं व परम अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद भी आता है इसीलिये इस धर्मको अमृत व धर्मसाधनको अमृतपान कहते हैं। यह धर्म अपने ही आत्माके भीतर प्रकाश करता है। न यह शास्त्रमें, न मंदिरमें, न तीर्थमें, न वाणीमें, न मनमें, न मूर्तिमें, न किसी शरीराश्रित तपादिमें प्रगट होता है ।

भाव वा अवस्थाका धारी मान रहा है। असलमें यह आत्मा द्रव्य स्वयंसिद्ध सत् पदार्थ है, पूर्ण ज्ञानका भंडार है, पूर्ण शांतिका समुद्र है, पूर्ण आनंदका सागर है। द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, तथापि पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है। असंख्यात प्रदेशी होकर भी अमूर्तीक है। यही स्वभावसे परमात्मा, परमेश्वर, परमतत्व व समयसार है तथा यदि व्यवहार दृष्टिसे देखें तो यही कर्मफल होनेसे अशुद्ध दिखता है। व शुद्धिका उपाय बोधिका लाभ है, आत्मज्ञान है व आत्मानुभव है।

भव्यजीवको निकट संसार होनेपर इस बोधिका लाभ होता है। यही नौका एक ऐसी अभेद व अचूक है कि जो इस बोधि नौका पर आरूढ हो जाता है वह बिना कर्म मलके असत्वके सीधा शिव द्वीपमें पहुंच जाता है। एक दफे बड़े भाग्यसे व बड़े पुरुषार्थसे यदि बोधिका लाभ होजावे तो उसे महान लाभ समझना चाहिये। अनादि कालसे जो वस्तु न मिली थी उसका लाभ महान दुष्कर जानकर इस लाभको स्थिर रखना चाहिये। भूलसे या प्रमादसे इसको कहीं गमा न बैठना चाहिये, परम आदरसे रखना चाहिये व इसपर आरूढ होकर स्वानुभवके मार्ग गीन गान चाहिये। मिथ्यादर्शन परम अशुद्ध है उसके आक्रमणसे इस बचाना चाहिये। अमृतमार्गमें निरन्तर गमन करानेवाली बोधिकी दुर्लभताका विचार वीतरागताको बढ़ाता है जिसमें सुख होता है। इस भावनाको भानेवाला बोधिके लाभ प्रेमसे सहजानंदका लाभ करता है।

१३४–धर्मभावना संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके आनेके द्वारोंको बंद करनेके लिये उपायोंका विचार कर रहा है।

बारहवीं भावना धर्मके स्वरूपका चिन्तवन है। धर्म आत्माका स्वभाव है या आत्माके विकाशका जो उपाय है वही धर्म है।

शुद्धात्मानुभव धर्म है, इसीसे कर्मका मल कटता है और आत्मा शुद्ध होता है। इसीको वीतराग विज्ञानभाव या निर्विकल्पसमाधि या स्वसंवेदन ज्ञान या निश्चयरत्नत्रय या कारण समयसार या स्वसमय कहते हैं। जब कोई भेदविज्ञानी अपने आत्माको आत्मारूप यथार्थ परम शुद्ध सर्व परके संयोगसे रहित एकाकी व पूर्ण कलशकी तरह अपने ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण, परम निश्चल श्रद्धान करता है व ऐसा ही जानता है व इसी ज्ञान श्रद्धानमें चर्चा-[illegible] है तब स्वानुभव धर्म प्रगट होता है।

यदि यह कषायकी कलुषतासे शून्य होता है तो यह कर्ममलको काटता ही है। दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान [illegible] कषायका उदय उपयोगमें रहता है वहांतक कर्मोंका बंध भी होता है। धर्मका जितना अंश जिस ज्ञानीमें प्रगट होता है वह बंधकारक न होकर बंधनाशक है।

स्वानुभव धर्मके लाभके समय कर्म भी क्षय होते हैं व परम अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद भी आता है इसीलिये इस धर्मको अमृत व धर्मासाधनाको अमृतपान कहते हैं। यह धर्म अपने ही आत्माके भीतर प्रकाश करता है। न यह शास्त्रमें, न मंदिरमें, न तीर्थमें, न वाणीमें, न मनमें, न मूर्तिमें [illegible] तपादिमें प्रगट [illegible]

यह धर्म तो आत्माके द्वारा आत्मामें ही प्रकाश होता है। मनका विचार, वाणीका प्रकाश, कायका वर्तन व इन तीनोंके आश्रित मुनि व श्रावकका चारित्र देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप व दान आदि बाहरी निमित्त होते हैं। ज्ञानी इन कारणोंके मध्यमें स्वानुभवका लोभी होकर स्वानुभवको पाकर परम सुखी हो जाता है। स्वानुभव धर्म परम अनुपम जहाज है, इसीपर आरूढ होकर मोक्षके पथिक भव सागरसे पार होजाते हैं।

स्वानुभव धर्मकी जय हो। यही स्वतन्त्रताका उपाय है। यही ध्यानकी आग है, जो विकारोंके कारण कर्मोंको क्षणमात्रमें जला डालती है। इस धर्मका धारी ही धर्मात्मा है।

१३५–उत्तम क्षमा–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके लिये परम उत्सुक है। स्वतन्त्रता आत्माका निज धर्म है। अनादिकालसे पुद्गलका संयोग है इसलिये कर्मोंके आक्रमणसे स्वतन्त्रता दब रही है।

कर्मरूपी शत्रुओंपर विजय करना उचित है। इनके आनेको रोकनेके लिये संवर भावोंकी जरूरत है। उन संवर भावोंमें उत्तम क्षमाकी प्रधानता है। क्रोध इसका वैरी है। जब क्रोध आक्रमण करता है तब इस संवर भावका पराजय होजाता है–कर्मोंका आना प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी वीर मोक्षसाधक बड़ी सावधानीसे उत्तम क्षमाकी ढालसे क्रोधके वेगको रोक देता है। दूसरोंके द्वारा दुर्वचन कहे जानेपर, मारपीट होनेपर, लौकिक या धार्मिक पदार्थके नष्टभ्रष्ट

किये जानेपर क्रोध बड़ी तीव्रतासे उछलता है। उत्तम क्षमाके साथ एक भावसे आलिंगन करनेवाला चेतन राम ऐसा स्वानुभवके स्वादमें मगन होता है कि उसके दृढ़ शुद्धोपयोग पर क्रोधके बम्बगोलोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे उत्तम क्षमाके वज्रमें स्वयं छिन्नभिन्न हो टूट गिर पड़ते हैं। जो कोई स्वानुभवके किलेसे बाहर होता है वह भावके शान्त प्रयोगोंसे क्रोध शत्रुको जीतता है।

मैं आत्मा अमूर्तीक चेतनामय परम वीतराग आनन्दमय हूं, मेरी सम्पत्ति भी अमूर्तीक चेतनामय है। न तो आत्मापर जड़ स्वरूप कुशब्दोंका स्पर्श हो सक्ता है न किसी हाथ पग या शस्त्रका स्पर्श हो सकता है, न कोई जड़ स्वरूप सपत्ति आत्माकी है, दूसरा तो केवल जड़को ही नष्टभ्रष्ट कर सकता है। मेरी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्पत्तिका कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। निर्मोही सम्यग्दृष्टी इस तरह क्रोधको विजय कर उत्तमक्षमाके साथ बड़ा ही प्रेम रखता है। इसीके प्रतापसे परम शांत निज आत्मीक आनन्द-सरोवरमें मगन रहकर परम सन्तोषका लाभ करता है।

१३६-उत्तम मार्दव मय भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके लिये स्वतन्त्रताके बाधक कर्मोंके क्षयका व उनके आगमनके निरोधका उपाय विचार कर रहा है। उत्तम मार्दव भी एक बढ़िया संवर भाव है। परम कोमलता आत्माका स्वभाव है-आत्मामें मान कषायकी रंचमात्र कठोरता नहीं है। जब मान कषायका उदय होता है तब अज्ञानी

आत्मा अपने स्वभावसे भिन्न पर वस्तुओंकी निकटतामें मावश होकर कभी शरीरकी जातिका, कभी शरीरके कुलका, कभी शरीरके रूपका, कभी शरीरके बलका, कभी शरीरको उपकारी लक्ष्मीका, कभी शरीरको लाभकारी अधिकारका, कभी शरीरकी पांच इन्द्रिय और मनकी सहायतासे प्राप्त अनेक प्रकारकी विद्याओंका व कलाओंका, कभी शरीरको सुखानेवाले अनेक प्रकारके तपोंका घमण्ड करके अपनेको ऊंचा व दूसरोंको नीचा देखता है। इस अंधकारसे मलीन होकर नानाप्रकार कर्मोंका संचय करता है।

ज्ञानी आत्मा शरीरको ही अपने आत्मासे जुदा जानता है तब शरीरके संयोगसे प्राप्त सर्व विभूतियोंको भी पर जानता है। इन शरीरादिका संयोग वियोगके सन्मुख है, नाशवन्त है, ज्ञानी इनके सम्बन्धका कोई अहंकार नहीं करता है, ज्ञानी अपनी अविनाशी आत्मामें व उसकी अविनाशी विभूतियोंमें ही परम सन्तोषको रखता है। उसकी अहंबुद्धि अपनी ही न छूटनेवाली न मिटनेवाली सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज सुख, सहज वीर्य, सहज शांति, सहज सम्यक्त आदि परमोत्तम गुण रत्नोंकी सम्पदाओंमें होती है। इनके सिवाय आठ कर्मोंके उदयादिसे प्राप्त नाशवन्त विभूतियोंमें ज्ञानी परम उदासीन रहता है। सत्कारके किये जानेपर वैसे ही समभाव रखता है। जब ज्ञानी उत्तम मार्दवके भावमें एकतान हो, स्वानुभव रसका पान करता है तब सत्कार व तिरस्कारका कोई विकल्प ही नहीं होता है। परम समता भावमें आरूढ़ रहता है। कदाचित् स्वानुभवके बाहर हुआ तो शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावनासे मानके कारणोंका विजय करता

है। आत्मामें पाकृत मानापमान प्रवेश ही नहीं करते हैं। मैं एकाकी, परब्रह्म, परम पुरुष परमात्मा हूं, इस भावमें तन्मय होकर मानका अभाव करता हुआ परम तृप्तिको पाता है।

१३७-उत्तम आर्जव, सरल भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वातन्त्र्यकी प्राप्तिके लिये परतन्त्रताकारक कर्म-पुद्गलोंके आस्रवके निरोधका उपाय विचार रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम आर्जव भी परम सरल भाव है। उत्तम या उत्कृष्ट या श्रेष्ठ ऋजुता या सरलता या सहज स्वाभाविकता हरएक आत्माका अपना ही गुण है। इसमें कोई प्रकारकी विकारता या कुटिलता या वक्रता नहीं है। यह एक साम्यभाव है, जहां राग द्वेष मोहकी या अज्ञानकी या वीर्यहीनताकी कोई विकृति नहीं है, परम अखंड ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्दका आत्मा एक परम गंभीर रत्नाकर है, जहां आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें या निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतामें ठहरता है। परमें प्रवृत्तिका अभाव करता है। स्वानुभवमय हो जाता है। परम निराकुलतासे आनन्दामृतका पान करता है। वहां उत्तम आर्जव धर्म झलकता है। मायाचार पिशाचिनीका आक्रमण कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता। जो अज्ञानी हैं, संसारासक्त हैं, धन कण परिग्रहमें मोही हैं, पांचों इन्द्रियोंके सुखके लोभी हैं, वे परपदार्थोंका संयोग मिलानेके लिये मनमें मायाचारको बिठाकर हिंसात्मक भावोंमें परिणमन करते हैं। परको ठगनेके लिये विषभरे मिष्ट वचन बोलते हैं। कायसे वंचना करके व्यवहार करते

हैं। परको अपना विश्वास दिलाकर प्रेम दिखाकर ठग लेते हैं। पीडाकारी वर्तनसे व कुभावोंसे अशुभ कर्मोंका आस्रव करते हैं संसारमें कर्माधीन होकर स्वाधीनता खोकर घोर कष्ट पाते हैं। ऐसे आर्जव धर्मको मायाकी मलीनतासे अशुचि कर देते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव मायाके दोषसे अपनेको बचाते हैं जब वे सर्व परसे विमुख होकर अपने शुद्धात्माके स्वभावमें रम करते हैं, निर्विकल्प समाधिका लाभ करते हैं तब उदय प्राप्त मा कषाय यों ही उस ज्ञानीकी शांत छविको देखते ही भाग जाती निर्झीर्ण हो गिर पडती है। जब ज्ञानी स्वानुभवसे बाहर होता तब यदि माया कषायका उद्वेग होता है तो यह ज्ञानी शुद्धात्माकी भावनारूपी खडगसे उसके वेगसे अपनेको बचाता है। उस ज्ञानीकी यह भावना होती है कि जिस सुखके लिये सर्व संसारी प्राणी तृषातुर हैं वह सुख तो मेरे ही आत्माका स्वभाव है। मुझे विना किसी पर द्रव्यकी मददके स्वयं प्राप्त होता है। मैं उस सत्य सुखको पाकर परम कृतार्थ व सन्तोषी हू। फिर मैं पर वस्तुकी चाह करके क्यों मायाचार करके हिंसक बनू। अज्ञानी इन्द्रिय-सुखको ही सुख मान करके मूलसे भूले हुए मायाचारी होकर कर्मोंकी परतन्त्रतामें बंधते हैं। ज्ञानी स्वसुखमें संतोषी रहकर उत्तम आर्जव धर्मका स्वाद लेते हैं, संवर भावसे मायाके द्वारा होनेवाले कर्मास्रवोंसे बचते हुए व शांत रसका पान करते हुए स्वतन्त्रताके मार्गपर बढ़ते जाते हैं।

१३८–उत्तम सत्य–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताके विरोधी पुद्गलमई कर्मोंको जानकर उनके आगमनको रोकनेके लिये, उनके संवरके कारण भावोंका मनन कर रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम सत्य आत्माका स्वभाव परम संवर भाव है, उत्तम सत्यरूपी सूर्यके सामने किसी भी असत्यमय अन्धकारके आनेकी संभावना नहीं है। जैसा जो पदार्थ है, जैसा उस पदार्थका मूल स्वभाव है, वही उसका उत्तम सत्य धर्म है। आत्मा एक अभेद अखण्ड अमूर्तीक पदार्थ है, स्वानुभवगम्य है। मनके तर्कोंसे, वचनके जल्पोंसे, कायके संकेतोंसे परे है, नय प्रमाण निक्षेपोंके विचारसे बाहर है। एक ज्ञायक परम वीतराग आनंदमय पदार्थ है। जो आत्माके यथार्थ अनुभवसे बाहर हैं, आत्मज्ञान रहित हैं, वे मन, वचन, काय द्वारा शास्त्रोंकी या अनुभवी गुरुकी सहायतासे आत्माके सत्य स्वभावको पहचाननेका उद्यम करते हैं तब गुण, गुणी, या धर्म धर्मी भेद करके पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे भिन्न, स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप व गुण पर्याय सत् स्वरूप आत्माको समझते हैं कि यह नित्य अनित्य व एक अनेकरूप है। परिणमनशील होनेसे अनित्य व गुण व स्वभावको सदा स्थिर रखनेकी अपेक्षा नित्य है, अखण्ड अभेद होनेसे एक है, अनेक गुणोंको व्यापकरूप रखनेसे अनेक है। निश्चयनयसे यह परम एकत्वमें लीन व परम शुद्ध है। जो कोई ज्ञानी अपने आत्माके सत्य स्वभावको जानकर उसमें मगन होता है वहां अज्ञान व माया कषायके उदयका कोई असत्य विकार प्रगट नहीं होता है।

अज्ञानी जीव आत्माके उत्तम सत्य धर्मको न जानकर विनाशीक व असत्य इंद्रियसुखकी तृष्णासे मोहित होकर धनादि पर वस्तुओंकी कामना करते हैं, उनके लाभके लिये असत्य मायाचार पूर्ण विचार करते हैं, असत्य मायावी वचन बोलते हैं। असत्य मायापूर्ण क्रियाएं करते हैं, अपने सत्य धर्मको व पर प्राणियोंको कष्ट देकर उनके भाव व द्रव्य प्राणोंकी हिंसा करके कर्मोंका सचय करके भवमें भ्रमण करते हैं। ज्ञानी अपने सत्य स्वभावमें संतोषी रहते हैं। किसी भी परभावकी पुण्य या पापकी या किसी भी परपदार्थकी, इन्द्र चक्रवर्तीकी विभूतिकी वा खंड ज्ञानकी व नाशवंत सुखकी कामना नहीं करते हैं। जब वे ज्ञानी अपने उत्तम सत्य धर्ममें आरूढ होकर परम एकत्वमें लीन हो आत्मानंदका स्वाद लेते हैं तब कोई असत्य मन वचन कायके विकल्प ही नहीं उठते हैं, कर्मोंके आक्रमणसे बचे रहते हैं। जब कभी ज्ञानी जीव आत्माके उपवनसे बाहर होते हैं तब पूर्वबद्ध कषायोंके उदयसे असत्य कल्पनाओंका आक्रमण होने लगता है तब वे उत्तम सत्य धर्मकी भावनासे उसे निरोध करते हैं। मैं एकाकी, असंग, परम शुद्ध व निरंजन परमात्मतत्त्व हूं, परम निस्पृह हूं मुझे कोई पाससे कोई प्रयोजन नहीं, यही भावना परम सन्तोषप्रद व सुखदाई है।

१२९–उत्तम शौच संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताकी प्राप्तिके लिये अपने स्वभावके विराधक कर्मोंका संबंध मेटना चाहता है, उनके आगमनके द्वारोंको बन्द करना चाहता है।

दश लक्षण धर्ममें उत्तम शौच परम स्वभाव है। आत्मा परम शुचि है। इसमें किसी प्रकार लोभकी मलीनता नहीं है। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारोंसे परम पवित्र है। यह आत्मा अपने अनेक पवित्र गुणोंका व स्वभावोंका समूह रूप अभेद व अखड व अमिट अविनाशी द्रव्य है। इसके अमूर्तीक असख्यात प्रदेश विकार परम पवित्र हैं। इस तरहका इसका क्षेत्र पवित्र है। इसके शुद्ध गुणोंका समय समय परिणमन भी शुद्ध है। इस तरह इसका काल पवित्र है। इसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्यक्त चारित्र आदि सर्व ही भाव पवित्र हैं। अपवित्रता परद्रव्यके प्रवेशसे व सपर्कसे आती है। आत्मा सत् पदार्थ है। इसमें अपने आत्मचतुष्टयकी सत्ता है। इसके भीतर अन्य अनन्त आत्माओंकी अनत परमाणु व नाना प्रकार कार्मण, तैजस, आहारक व भाषा व मनोवर्गणादि स्कंधोंकी, धर्मास्तिकायकी, अधर्मास्तिकायकी, आकाश द्रव्यकी व असख्यात कालाणुओंकी सत्ता नहीं है। इस सत्ताका द्रव्य क्षेत्र काल भाव एक सत्ताधारी आत्मामें नहीं है।

इसलिये निश्चयसे या वस्तु—स्वभावसे हरएक आत्मा परम पवित्र है। रागद्वेष मोहादि अशुद्ध भावोंका तो कहीं पता नहीं है। हरएक आत्मा परम तृप्त है, अपने अतीन्द्रिय आनन्दमें मगन है, परम सन्तोषी है, परम कृतकृत्य है। इस तरह उत्तम शौच धर्म आत्माका स्वभाव है। जहा इस शौच धर्मका साम्राज्य होता है वहा कोई कर्मका आश्रव नहीं हो सक्ता। अज्ञानी जीव अपने अटूट व अनन्त ज्ञानानन्दके भंडारको भूलकर सांसारिक सुख व मानके भूखे होकर

महान लोभ कषायके वशीभूत हो जाते हैं। अपनी उपयोगकी भूमि काको मलीन कर डालते हैं तब विधर्मकी सम्पदाकी कामना करते हैं। लोभसे मलीन होकर न्याय अन्यायके विचारको, अहिंसा व दयाके भावको भूल जाते हैं। जगतके प्राणियोंको घोर कष्ट देते हैं। कर्मोंकी पराधीनतामें बंध जाते हैं। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव वस्तुस्वभावको पहचानते हैं। निर्मोही व वैराग्यवान होते हुए पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयमें लाचार होकर मन, वचन, कायसे वर्तन करते हैं तब कुछ कर्म आता है परन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे वह संसारमें दीर्घकाल रहनेवाला नहीं होता है।

ज्ञानी जीव जब अपने उत्तम शौच धर्मको सम्हाल करके अपने स्वभावमें तन्मय होकर परम सन्तोषसे अपना शुद्ध आत्मिक आनन्दका स्वाद लेता है तब लोभ कषायका आक्रमण व्यर्थ जाता है। कर्मोंका बहुत कुछ संवर करता है। जब कभी यह ज्ञानी अपने आत्मिक उपवाससे बाहर होता है तब लोभ कषायके वेगोंको रोकनेके लिये पवित्र भावना भाता है। मैं एकाकी, निर्भय, अमूर्तीक, परम वीतराग व परम ज्ञानी परमानन्दमय, सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे रहित परम पवित्र परमात्मास्वरूप परम संतोषी व परम धर्मी हूं। यही भावना संवरकी श्रेणी है।

१४०—उत्तम संयम—संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके लाभके लिये परतन्त्रताकारक कर्मोंसे अपनी रक्षा चाहता है। इसलिये उनके आगमनके द्वारोंको बन्द करनेके लिये संवरतत्त्वकी भावना करता है।

उत्तम संयम भी एक अपूर्व संवर भाव है। आत्मा स्वभावसे उत्तम संयमरूप ही है, यहां असंयमका कोई कारण नहीं है। आत्मा अमूर्तिक है, इंद्रियोंसे अतीत है। अतीन्द्रिय स्वाभाविक आत्मामें इंद्रियोंके विषयोंकी रागरूप कामनाएँ संभव नहीं हैं।

वह तो अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनंदमें परम तृप्त है। असत्य व विभाव रूप इन्द्रिय सुखकी न तो कामना है न उसका कोई प्रयत्न है। आत्माके द्वारा प्राणोंका घात भी संभव नहीं है। पृथ्वी आदि छ कायके प्राणियोंके घातका विचार रागी मन करता है। घातका वचन वाणीसे होता है, घातकी क्रिया शरीरसे होती है अथवा घातका कारण कषायके उदयसे प्राप्त अविरत भाव है।

आत्मामें न तो पुद्गलके कारण रचे हुए मन, वचन कायके योग हैं न उनका हलन चलन है न मोहनीय कर्मका ही संयोग है। केवल शुद्ध आत्माद्वारा न तो अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध प्राणोंका घात है न अन्य पृथ्वी आदि जंतुओंके प्राणोंका घात है, इस लिये आत्मा असंयमसे दूर परम संयम भावका धारी है।

आत्मा एक ऐसा अखंड व गुप्त दुर्ग है जिसमें किसी भी परभाव या द्रव्यकी शक्ति नहीं है जो उसमें प्रवेश करके कोई बाधा कर सके। आत्मा परम अव्याबाध है। उत्तम संयमके प्रभावसे कोई भी असंयम कृत आस्रव संभव नहीं है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टी इस निश्चय व सत्य तत्वकी श्रद्धा रखते हैं वे इंद्रिय व प्राण असंयमसे दूर होकर व मन वचन कायकी क्रियाको बुद्धि पूर्वक निरोध करके मैं—

विज्ञान पूर्वक शुद्ध आत्म अनुभवमें रमण करते हुए सवर भावको दृढ़ रखते हैं ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टी आत्मसंयमकी महिमाको न जानते हुए पांचों इंद्रियोंके सुखको अभिलाषासे प्रेरित हो इंद्रियोंके भोगमें व भोगने योग्य पदार्थोंके मगड़ेमें रात दिन लगे रहते हैं। तब मन वचन काय योगोंसे अपने व दूसरे प्राणियोंके प्राणोंका घात करते हैं, असंयमके कारण घोर पापकर्मोंका आस्रव करते हैं व स्वतन्त्रताका घात करके परतन्त्रताकी बेड़ीमें जकड़ते जाते हैं । -

ज्ञानी जीव स्वानुभवकी कला से उत्तम संयम भावमें दृढ़तासे स्थिर होकर असंयम कारक कषायके आक्रमणोंसे दूर रहते हुए निर्विकार भावसे स्वाभाविक आनन्द अमृत रसका पान करते हैं व स्वतन्त्रताके मार्गपर बढ़ते चले जाते हैं । जब कभी वे ज्ञानी स्वानुभवके परम दृढ़ किलेसे बाहर होकर विहार करते हैं तब अवसर पाकर इंद्रिय असंयम व प्राण असंयम दोनों उसके ऊपर बड़े वेगसे चढ़ाई करते हैं तब यह ज्ञानी निश्चयनयकी भावना रूपी खड्गसे अपनी रक्षा करता है।

भावना यह है कि मैं एक अमूर्तीक अविनाशी निरंजन वीतराग आनन्दमय परम पदार्थ हूं । मुझे किसी भी पदार्थसे रंच मात्र राग नहीं है । मैं अतींद्रिय आनन्दमें मगन हूं । मेरा स्वभाव परम शुद्ध है। यही भावना असंयमकी कीचसे रक्षा करनेवाली परम सखी है। व यही भावना स्वतन्त्रताका लाभ करनेमें परम सहायक है व सदा सन्तोषकारक है ।

१४१–उत्तम तप, संवर भाव।

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रताके लाभके लिये उसके बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके लिये उपायका विचार कर रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम तप महान, प्रभावशाली व प्रतापशाली धर्म है। उसके तेजके सामने किसी शत्रुके पास आनेकी हिम्मत नहीं होती। आत्माका तेज परम सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य है। इस तेजके प्रतापसे यह आत्मा अपने स्वभावमें ही तपा करता है या प्रज्वलित रहता है। इच्छाओंके निरोधको तप कहते हैं। यहा आत्मामे ऐसी अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दमें तृप्ति है या सन्तोष है कि इसके किसी पराधीन इन्द्रिय विषयसुखकी या किसी मानादि पोषण करनेकी कामना खडी नहीं हो सकती है, न वहा मोहकर्मका सयोग है, जिसके कारण इच्छाका रोग उत्पन्न होता है। यह उत्तम तप स्वभावमें तपते रहना है–परम संवरभाव है। किसी भी कर्मके परमाणु मात्रके आगमनका अवकाश नहीं है। यह महान तप है।

जो साधुजन कर्म रजके निरोधके लिये व संचित कर्म रजके दूर करनेके लिये मन वचन कायका निरोध करके एकातमें आसन जमाकर स्वात्मानुभव रूपी धर्मध्यान व शुक्लध्यान करते हैं उसी तपका फल यह परम उत्तम तप है जो आत्माका निज धर्म है। इस उत्तम तप धर्मको जो नहीं जानते हैं व जिन अज्ञानी जीवोंको स्वानुभव रूपी तपका पता नहीं है ऐसे द्रव्यलिंगी जैन साधु मोक्षकी कामना रखते हुए व मोक्षमें अनन्त सुख पानेकी लालसा रखते हुए जैन सिद्धातके-अनुसार तपको–उपवासादि ध्यान पर्यंत बारह प्रकारके तपको

करते हैं परन्तु अतीन्द्रिय सुखका ज्ञान व स्वाद न पानेसे मिथ्या तरह ही साधक होते हैं।

जो कोई अज्ञानी बहिरात्मा विषय सुखकी चाह रखकर इन्द्र, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव पद या अन्य विषयभोग-मरन परलोक हेतु नानाप्रकार शरीरके शोषण रूप तप करते हैं, वे कर्मोंका संचय करके भव भ्रमणमें ही रहते हैं। वे कर्मोंकी पराधीनतासे अधिक जकड़ जाते हैं। कभी भी स्वतंत्रताका लाभ नहीं कर सकते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मरसके स्वादी हैं वे सर्व प्रकारकी इच्छाओंको बंद करके एक स्वतंत्रता देवीकी ही उपासनामें मगन रहते हैं व इसीकी अंतरंग भावनासे प्रेरित हो मन वचन कायकी गुप्ति रूपी किला बनाकर उसीमें प्रवेश करके अपने शुद्धात्माके भीतर परम समभावसे एकतान होजाते हैं। उनके भीतर कर्मोंका प्रवेश होना बंद होता जाता है। ये संवरके मार्गपर आरूढ़ हैं। जब कभी वे आत्मसमाधिके किलेके बाहर होकर विहार करते हैं तब कर्मोंको प्रवेश होनेके अवसर मिलता है। उस समय वे ज्ञानी आत्माके स्वभावकी भावना भा करके उनसे बचनेका उद्यम करते हैं।

मैं एकाकी परम शुद्ध निरंजन निर्विकार हूं, परम ज्ञानी हूं। अपने सहजानंदमें मगन हूं। सर्व जगतके विनाशीक पदार्थोंकी या भावोंकी चाहनासे शून्य हूं। परम कृतकृत्य हूं। परम स्वतन्त्र हूं। सुख सत्ता चैतन्य इन चार प्राणोंको धारता हुआ सदा जीनेवाला हूं। यही भावना संवरकी उत्तम श्रेणी है व समसुख व शांतिकी प्रदाता है।

१४२–उत्तम त्याग, संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके प्रकाशक लिये बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। दश लक्षण धर्ममें उत्तम त्याग एक अपूर्व संवर भाव है। यह आत्माका स्वभाव ही है। आत्मा अपने अखंड व ध्रुव स्वभावमें रहा हुआ अपने ही शुद्ध गुणोंको और शुद्ध पर्यायोंको रखता हुआ अपने ही ज्ञानानंदके भोगमें परम तृप्त है। जो कुछ अपनी सत्तासे भिन्न है उस सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका आत्मासे पृथक्पना है। हरएक आत्मा दूसरे आत्मासे, सर्व पुद्गलके परमाणु व स्कंधोंसे, धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे तथा काल द्रव्यके असंख्यात कालाणुओंसे जुदा है–उत्तम त्याग रूप ही है यदि त्यागका अर्थ दान किये जावे तौभी यह आत्मा परम दानी है। यह आप ही दातार है आप ही पात्र है। यह अपनी स्वानुभूतिकी रसोईसे आनन्दामृतका आहार बड़ी शुद्धतासे आपको दान करता है। संसार–रोग कभी न आवे इसके लिये यही परम औषधि दान है। ज्ञान द्वारा ज्ञानके वेदनका दान आपको देनेसे यही ज्ञानदान है। यही सर्व भव भयका निवारक परम अभय दान है। इसतरह चारों दानोंको देता हुआ यह उत्तम त्यागधर्मसे विभूषित है। ऐसे धर्मके सामने कोई कर्म–शत्रु प्रवेश नहीं कर सक्ता है–परम संवरका राज्य है।

वीतराग सम्यग्दृष्टी जब इस प्रकारसे उत्तम त्याग–धर्ममें स्थित होता है तब निर्विकल्प समाधिमें या स्वानुभवमें रमण करके आपसे ही आपको अतीन्द्रिय आनन्दका दान देता है क्योंकि आश्रयसे

बहुत अशमें बचा रहता है। सराग सम्यग्दृष्टी जीव प्राणी मात्र पर करुणा भावको धारण करके व मनीपर विशेष प्रेमालु होकर आहार, औषधि, ज्ञान व प्राणी रक्षा रूप अभयदान देता हुआ किसी फलकी कामना न रखता हुआ संसार भ्रमणकारी कर्मोंके आस्रवसे बचा रहता है। मिथ्यादृष्टी जीव बहुत भी पात्रदान व करुणा दान करे, प्राणी मात्रकी रक्षा करे, ईर्यासमिति पाले, बिना कुछ स्वार्थके ज्ञान दान करे, औषधि वितरण करे, आहार दान करे तथापि शुद्धात्मीक रसको न पानेसे व अन्तरङ्गमें किसी विषयकी चाह रखनेसे—मान कषायके या लोभ कषायके या माया कषायके विकारसे मलीन होता हुआ संवर भावको न पाकर आस्रवको ही बढाता हुआ परतंत्रताकी रस्सीसे बंधता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिके समान इसके भावमें न यथार्थ ज्ञान है, न भेदविज्ञान है, न सच्चा वैराग्य है। यह अज्ञानी अनन्तानुबंधी कषायके रोगसे पीड़ित है। दानी होकर भी दानी नहीं है। उत्तम त्यागके भावसे भी शून्य है। तत्वज्ञानी सम्यक्त्वी जीव व्यवहार-त्याग धर्मको गौण करके व बंधका कारण जानके निश्चय त्याग धर्ममें मगन होते हैं। सर्व चिंताओंको दूर करके स्वानुभव रसका पान अपने आत्माको कराते हैं। ज्ञानानन्दका दान करते हुए कर्मोंके आक्रमणसे बचते हैं। जब कभी आत्मा समाधिमय धामसे बाहर होते हैं तब कर्मोंके आस्रवसे बचनेके लिये शुद्धात्माकी भावना भाते हैं। मैं एकाकी, परम निर्भय, परम ज्ञानी, परम वीतरागी, अनंत वीर्यका धनी, परमानन्दी हूं, आपसे आपको स्वानुभव रसका दान करता हूं। आप ही दातार हूं आप ही पात्र हूं। यही भावना संवरकी श्रेणी व स्वतन्त्रता लाभकी परम औषधि है।

१४२-उत्तम आकिंचन-संवर भाव।

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रताका चाहनेवाला है। बाधक कर्म हैं, उनके आगमनके रोकनेका विचार कर रहा है। संवरका मुख्य उपाय दशलक्षण धर्ममें उत्तम आकिंचन धर्म भी है। यह आत्माका स्वभाव है। निःपरिग्रह भाव आत्मामें पूर्ण कलशकी तरह भरा है। आत्मामें अपने शुद्ध गुणोंका अवकाश है। वहां स्थान ही नहीं है जो पर वस्तुका राज अपना घर कर सके। एक ज्ञान स्वभावमें सर्व विश्व व्यापक है। इन्द्रिय व मनसे जिन पदार्थोंको अल्पज्ञानी क्रमसे ग्रहण करते हैं उन सबको तथा इन्द्रिय अगोचर सर्व पदार्थोंको आत्माका स्वाभाविक ज्ञान एक ही साथ विना क्रमके उनकी भूत भावी वर्तमान पर्यायोंके साथ स्पष्ट व यथार्थ जानता है। किसी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दके ज्ञानकी कमी नहीं है। इसलिये ऐसे पूर्ण ज्ञानमें और कुछ जाननेकी इच्छारूप परिग्रह हो नहीं सक्ता। आत्मामें सुख-स्वभाव भी पूर्ण है, जिससे हर क्षण आत्मानन्दरूपी अमृतका भोग है। उस भोगसे ऐसी तृप्ति है व प्रमाद है कि फिर उससे किसी क्षणिक इन्द्रिय सुखकी लालसा रंच मात्र भी उदय नहीं हो सक्ती। वीर्यके अनंत प्रकार गुणके कारण अपनी स्वाभाविक पुष्टता सदा रहती है जिससे निर्बलताजनित आकुलता बिलकुल हो नहीं सकती। पूर्ण अपरिग्रह भाव या आकिंचन्य धर्म शोभ रहा है। इस धर्मके सामने किसी कर्मशत्रुके आगमनका साहस नहीं हो सक्ता।

आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टी साधुगण इसी तत्वके विकासके लिये अंतरंग बहिरंग ग्रन्थको त्याग कर निर्ग्रन्थ हो जाते हैं। धन, धान्य,

वस्त्र, अलंकार सब त्याग कर प्राकृतिक नग्न रूपमें होकर विचरते हैं। अंतरंगमें सर्व विश्वके पदार्थोंसे राग द्वेष मोह त्याग देते हैं। एकाकी विविक्त होकर मन वचन कायको रोककर केवल एक अपने ही आत्म द्रव्यको व उनकी गुण सम्पदाको अपनी मानकर उसके ही अवलोकनमें मगन हो जाते हैं। निर्विकल्प समाधिमें रत हो, अद्वैतभावको प्राप्त हो जाते हैं, परमानन्दका भोग करते हैं। इस संवर भावसे कर्मोंके आस्रवका निरोध करते हैं।

अज्ञानी आत्मज्ञान रहित साधु बाहरी परिग्रहको त्यागते हुए भी या पूर्ण त्याग न करते हुए भी अन्तरङ्गमें ममताका मैल या मिथ्यात्व भावको न त्यागनेके कारण आकिंचन्य धर्मको गंध भी न पाकर कर्मास्रवसे बच नहीं सक्ते। संसार भ्रमणकारी कर्मका बंध करते हुए चारों ही गतिमें रुकते हैं। जब तक किसी भी कषायके उदयसे राग है वहां निष्परिग्रह भाव नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी निश्चिन्त होकर एकांत सेवन करते हैं। सर्वसे निस्पृह होकर एक अपने ही शुद्ध आत्माके उपवनमें रमण करते हैं। जब कभी आत्मानंदके शांत सरोवरमें मज्जन करके विकल्पोंके मैलसे रहित हो जाते हैं व उसीका अमृतपान कर निराकुल व संतोषी होकर पूर्ण इच्छा रहित हो जाते हैं तब उत्तम व आदर्शरूप आकिंचन्य धर्मका साधन पाकर कर्मोंके आस्रवसे बचे रहते हैं, संवरकी सीढ़ीपर चढ़ते जाते हैं। जब कभी ज्ञानी जीव आत्माके उपवनके बाहर होते हैं तब भी लक्ष्य बिंदु या अपनी दृष्टि आत्मापर रखते हुए आत्माके स्वरूपकी भावना भाते हैं। मैं एकाकी, परम ज्ञानी, परमानन्दी, परम निरञ्जन निर्विकार

है, ज्ञानका भंडार है, परम निस्पृह है, अपने ही स्वाभाविक धनमें संतुष्ट है, पर पदार्थकी चाहसे शून्य है, परम वीतरागी है। यही भावना संवरकी दूसरी श्रेणी है। यह भ्रमणकारी कर्मोंको दूर रखनेवाली है।

१४४–उत्तम ब्रह्मचर्य–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके लाभके लिये कर्मोंके आगमनके कारणोंका विचार कर रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम ब्रह्मचर्य सर्व शिरोमणि परम संवर भाव है। यह गुण आत्माका निज स्वभाव है। आत्मा सदा ही अपने निज ब्रह्मस्वभावमें विहार या परिणमन करता रहता है। ज्ञान चेतनामय होकर ज्ञान हीमें मगन होकर ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद लिया करता है। यह कभी भी कर्म-चेतना व कर्मफलचेतनारूप अज्ञान चेतनाकी तरफ नहीं जाता। क्योंकि इन दोनोंके साधनोंका ही अभाव है। न कर्म करनेवाले मन, वचन, काय हैं न पुण्य पापमय कर्मोंका जाल है। यह आत्मा अपनी सदा साथ रहनेवाली नामभेद होनेपर भी स्वरूपमें एकता रखनेवाली स्वानुभूति तियाके भोगमें इतनी रुचिपूर्वक संलग्न है कि इसे कभी भी जगतकी तियाओंके संग मैथुन करनेका विकार होना संभव नहीं है। यह शील शिरोमणि है, वेदोंके उदयसे रहित है, क्योंकि यह कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियिक व आहारक पांचों ही पुद्गलमयी शरीरोंसे रहित है। यह सदा असंग है, अकेला है। एकान्त भावको सेवन करनेवाला है। परम निर्विकार, परम वीतराग, परम वीत मोह

है। इसीके ब्रह्मस्वभावमें कर्मोंके प्रवेशकी कोई सम्भावना नहीं है। न योग है, न कषाय है, न कोई गुणस्थान है, मात्र आदर्श उत्तम ब्रह्मचर्य रूप सदा भावका धारी है।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी साधुगण इसी आदर्शकी भक्ति करते हुए मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदन, नौकोटी अब्रह्म या मैथुन भावसे अलग होकर व शुद्धोपयोगकी भूमिकामें चढ़कर उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मका सदा करते हुए मैथुन कृत अ सर्वोंके दोषसे अलग रहते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा संसारासक्त प्राणी स्पर्श इन्द्रियके भोगको ही सुखका कारण मानकर वेदके तीव्र उदयके कारण काम भावसे पीड़ित होकर कुशील भावसे रागकर व नीति अनीतिको त्यागकर अब्रह्मका सेवन करके तथा ब्रह्मभाव जो आत्मसमाधि है उसे कभी भी न पाते हुए कर्मोंके बंधसे बंधकर उनके विपाकसे भव भ्रमण किया करते हैं। अपने ही घरमें विराजित स्वात्मानुभूति रूपी परम पतिव्रता स्त्रीकी तरफ रंचमात्र भी लक्ष्य न देते हुए उस पति विरहिणी वियोगिनी बनाये रहते हैं। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ अणुव्रती, महाव्रती होनेकी कामना रखते हुये जिस तरह अपनी स्वात्मानुभूति स्त्रीमें सन्तोष रखते हैं वैसे ही शरीर सम्बंधी स्वस्त्रीसे संतोष रखते हुए अंतरंग परभाव रमणरूप व्यभिचार व बहिरंग परस्त्री रमणरूप व्यभिचारसे बचे रहते हैं। अतएव भव भ्रमणकारी कर्मोंके आस्रवसे कभी बाधित नहीं होते हैं।

ज्ञानी जीव निश्चय रत्नत्रयधर्मकी शरणमें जाकर मन वचन कायकी गुप्तिका किला बनाकर व उसीमें परम निश्चिन्त व निर्भय होकर निवास करते हैं। स्वात्मानुभूति अपनी परम पवित्र शीलस्वभावी

स्त्रीके भोगोंमें परम एकतासे ऐसे मग्न हो जाते हैं कि भोक्ताभोग्य द्वैतभावसे परे होकर एक ही अद्वैत ब्रह्मभावमें रम जाते हैं। सवरकी उच्च श्रेणीपर आरूढ हो जाते हैं। जब कभी इस गुप्तिमय किलेसे बाहर विहार करते हैं तब आत्मीक भावनाकी खडगसे आस्रवके कारण परभवमें रमणताको निवारते हैं। मैं एकाकी चिद्रूप हू, परम शीलवान हू, ब्रह्मरूप हू, परमशात व निर्विकार हू। परम ज्ञान व परमानदका सागर हू, देहरहित सिद्धके समान हू, यही भावना सवरकी द्वितीय श्रेणी है।

१४५-क्षुधा परीषह-सवर भाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंको स्वतत्रतामें बाधक समझकर उनके आगमनके निरोधक उपायोंका विचार कर रहा है। बाईस परीषहोंका जय सवरभाव महा उपकारी है। जो सहनशील वीर योद्धा होता है वही युद्धक्षेत्रमें साहसपूर्वक शत्रुओंका सामना करके विजय लाभ कर सकता है। मोक्षमार्गपर आरूढ यतिगण शुद्धोपयोगकी व वैराग्यकी भावनासे कर्मोदयसे उपस्थित परीषहोंको शातिपूर्वक जीतते हैं जिससे रत्नत्रय मार्गसे नहीं डिगते। ऐसे वीर साधु कर्मोंका सवर करते हुए निर्जरा भी करते हैं। निश्चयसे विचार जावे तो आत्मा स्वभावसे ही क्षुधा परीषहका विजयी है। इसके पास अनन्त बल है, निरतर अतींद्रिय आनदका भोग है जिससे परम तृप्ति व सन्तोष है। क्षुधाकी बाधा चलती कमीसे अन्तराय कर्म व असातावेदनीय व मोहके उदयसे होती है। आत्मा अशरीर है, कर्मबध रहित है, कर्मोदयकी कोई सभावना नहीं है।

पुद्गलमय शरीर साथ रहनेपर उसके पोषणके लिये पुद्गलकी जरूरत पड़ती है । इसीलिये संसारी शरीरधारी प्राणी पांच प्रकार आहार करते हैं–लेपाहार, ऊजाहार, कवलाहार, नोकर्माहार, कर्माहार। आत्माके अमूर्तीक शुद्ध प्रदेशोंमें पुद्गल प्रवेश ही नहीं कर सकते हैं। आत्मा क्षुधाकी बाधाको कभी उत्पन्न ही नहीं कर सकता है। वह तो सदा ही अनादिसे अनन्त कालतक परम निस्पृही, परम वीतराग, परम निर्विकार, परम समभावका कवच ओढे रहता है। कर्मोंके आक्रमणका कोई द्वार ही नहीं है।

निश्चयसे आत्माको ऐसा समझकर निर्ग्रन्थ यतिगण मोक्षमार्गपर चलते हुए जब कभी शरीरमें बाहरी कारण उपवासादि आहारका अलाभादि व अन्तरङ्ग कारण तीव्र असातावेदनीय मोहकर्मके उदयसे क्षुधाकी बाधासे पीडित होते हैं तब तुर्त ही शरीरको अपनेसे जुदा जानकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें मनको दबा देते हैं। निर्बाध आत्मानुभव जागृत करके अतीन्द्रिय आनन्दका शांत रस पान करने लगते हैं। स्वसंवेदनके प्रभावसे क्षुधा वेदनाके विकल्पसे दूर होजाते हैं। सिद्ध भगवानके समान आत्मरस मगन होकर क्षुधा परीषहके विजयी होजाते हैं। स्वरूप रमणता अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रह सकते हैं। तब फिर क्षुधाकी बाधाका विकल्प हो उठता है उस समय साहसी वीर साधुगण कर्मोदयका विचार करके विपाकविचय धर्मध्यानकी भावना करते हैं व शरीरको सड़न गलनस्वभाव जानकर मैं आत्मा हूं, शरीर नहीं, मैं स्वभावसे परम बली, परम तृप्त व अनंत ज्ञानदर्शन व आनन्दसे पूर्ण हूं, शरीर तपका सहकारी है, ऐसा जानकर इस

तनको भिक्षावृत्तिसे प्राप्त शुद्ध आहारसे ही पोषण करूगा। ऐसा समय आनेतक क्षुधाकी बाधाको समभावसे सहन करूगा। संसारमें अनन्तवार पराधीनपनेसे आहारका लाभ नहीं हुआ। उस कालकी वेदनाके सामने यह वेदना कुछ भी नहीं है। इसप्रकार क्षुधाके परीषहको जीतकर कर्मोंका आस्रव रोकते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा तपसी क्षुधाकी बाधासे पीड़ित हो स्वच्छन्द होकर कन्द मूल फल व अभक्ष्य भोजन दिनरातके विचार विना ग्रहण करते हैं, व मोक्षमार्गसे बाहर चलकर तीव्र कर्मोंका बंध करके संसार वनमें भ्रमण करते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी सर्व ही प्रकारके कर्मोंके उदयको समभावसे ज्ञातादृष्टा होकर वेदन करते हुए व मुख्यतासे अपने निश्चय तत्वका मनन करते हुए कि मैं सर्वकर्म व नोकर्मसे रहित चैतन्यमई अमूर्तीक परमात्मा हूं, क्षुधाकी पीड़ाको सहते हुए भी कर्मकी निर्जरा करते हैं। संसारवर्द्धक आस्रवसे बचे रहकर ज्ञानकी भूमिकामें सदा खड़े रहकर वीर सिपाहीके समान मोक्षका मार्ग तय करते हैं व सुखी रहते हैं।

१४६–पिपासा परीषह–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। बाईस परीषहोंमें पिपासा परीषह भी एक संवर भाव है। ज्ञानी तत्वदृष्टिसे या निश्चयनयसे विचारता है तो ऐसा झलकता है कि मैं तो अमूर्तीक ज्ञाता हूं, परम शुद्ध हूं। मेरेमें न तृषाका न पानीकी प्यासका कोई सन्ताप संभव है। मेरेमें

क्षयोपशम ज्ञानजनित भाव इन्द्रिय नहीं, न क्रमसे जाननेका विचार है, न मोहनीय कर्म है, न द्रव्य इंद्रिय हैं। अतएव इन्द्रिय विषयसुखकी तृष्णा नहीं हो सक्ती, न औदारिक न वैक्रियिक शरीर है, जिससे भोजनपानकी आवश्यक्ता हो, न कभी पानीकी प्यासकी बाधा हो। मैं तो सदा ही अतीन्द्रिय आनंद अमृतका सुखद व तृप्तिकारक पान करता रहता हू। मेरे भीतर स्वभाव ही से पिपासा परीषह सहने भाव है। कोई आर्तभाव संभव नहीं है, न कर्म पुद्गलोंका प्रवेश ही संभव है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जैन मुनि मोक्षमार्ग पर चलते हुए निर्जन स्थानोंमें आत्मनन व रूप तप करते हैं। दिवसमें एकबार ही भिक्षा वृत्तिसे भोजनपान करते हैं। अंतरायोंको बचाकर शास्त्रोक्त शुद्ध भिक्षा हाथरूपी पात्रसे करते हैं। कभी रूखा आहार लेनेसे व पानी कम पीनेसे व भोजन लेते हुए ठीक पानी न पीकर अंतराय हो जानेसे व गर्म मौसममें पवनकी उष्णतासे व उपवासके कारण व अन्तरङ्गमें असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे प्यासकी बाधा होजाती है, उसी समय ज्ञानी मुनि शरीरसे भिन्न अपने आत्माके स्वरूपका मनन करते करते भावश्रुतज्ञानसे स्वसंवेदन या स्वात्मानुभवमें उपयोग को ऐसा एकाग्र कर देते हैं कि जिससे आत्मीक आनंदरसका स्वाद आने लगता है, शरीरकी पिपासासे लक्ष्य दूर चला जाता है। एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मीक मदमें ऐसी उन्मत्त दशा रहती है। फिर प्यासका विचार हो उठता है तब जिनागमका विचार करते हैं कि यह प्यास तो बहुत कम है। मैंने तो इस संसार वनमें भ्रमण करते हुए पापी जीवन नरकगतिमें व पशुगतिमें व दीनहीन मनुष्यगतिमें

असह्य प्यासकी वेदना सही है। कई कई दिवस तक पानीकी बूंद तक नहीं मिली है, प्याससे तडफडता रहा हू फिर यही बाधा शरीरमें है। मैं तो ज्ञाता हू, मेरेमें कोई बाधा नहीं है, मोहसे कष्ट प्रतीत होता है। मुझे इस पुद्गलिक बंदीगृहके समान शरीरसे मोह न करना चाहिये-मोह भावको जीतना चाहिये।

आत्माके स्वभावके मननसे ही उपवनमें क्रीडा करनी चाहिये। इस तरह तत्वज्ञानके रससे प्यासकी बाधाको शमन करते हुए आर्तध्यानसे बचकर धर्मध्यानकी शीतल छायामें विश्राम करते हुए पिपासा परीषह जय करके संवर भावको पाते हुए अशुभ कर्मोंके बंधसे बचते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा तपसी प्यासकी बाधा होनेपर किसी शास्त्रोक्त नियमको न पालते हुए व गतदिनका विचार न रखते हुए, शुद्ध अशुद्ध पानीका विवेक न करते हुए नदी सरोवर कूप आदिसे जल पीकर तृष्णाको बुझा लेते हैं व जबतक प्यास सताती है, आर्तध्यानसे पीडित रहते हैं। अज्ञान, मिथ्यात्व व अविरत मान व लोभ कषाय व योगकी चचलतासे तीव्र कर्मका आस्रव करते हैं, कर्मके उदयसे भवमें भ्रमण करते हैं, वे पिपासा परीषह सवरभावको कभी नहीं पाते।

सम्यग्दृष्टी जीव कैसी भी अवस्थामें हो शरीरसे व शरीरमें परिणमनसे अपने आत्माको सर्वथा भिन्न व पृथक् देखता है। कहा जडत्व, कहा मैं ज्ञानी आत्मा, कहा मूर्तीक सडन गलनस्वभावी शरीर, कहां मैं अमूर्तीक अविनाशी आत्मा, कहा यह अपवित्र शरीर, कहा मैं ज्ञानी आत्मा, कहा मैं परमपवित्र आत्मा। दुःखकारी शरीरमें व सदा ही सुखी आत्मा इस तरह आत्माके मननसे वे शरीरकी बाधासे उदास रह सतोषपाय [illegible] हैं व संवरकी भूमिमें गमन करते

१४७-शीत परीषह-सरर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके लाभ हेतु बाधक कर्म-शत्रुओंके प्रवेशके द्वारोंको बन्द करनेका विचार कर रहा है। तीसरी परीषह शीत है। वीर मोक्षमार्गी साधुजन कर्मोंका क्षय करनेके लिये निर्ग्रंथ पदको सर्व परिग्रह रहित नग्न प्राकृतिक रूप तब ही धारण करते हैं जब अपने ही शरीरको शीत ऋतुके सहनयोग्य आर्तभाव रहित सानन्दरूप हो तैयार पाते हैं। वे वीर तत्वज्ञानी जबतक शरीरको शीत बाधा सहनयोग्य नहीं पाते हैं तबतक वस्त्र परिधान करके श्रावकके परिग्रह प्रमाण व्रतको धारकर यथायोग्य ध्यान स्वाध्याय करते हैं। परन्तु उतने चारित्रसे प्रत्याख्यान कषायका बल सर्वथा निरोध नहीं कर सकते, जिस कषायके त्याग बिना निर्ग्रंथ यतिका वीर बाना धारण नहीं किया जा सक्ता।

जब शरीरको शीत स्पर्श सहनेयोग्य पाते हैं तब उत्तम जिनलिंग स्वयं स्वीकार करके पक्षीके समान यत्रतत्र विहार करके नदी तट व मैदानमें ध्यानका आसन लगाकर आत्माके शीतल उपवनमें रमण करते हैं। ऐसा होनेपर भी यदि हिम पड़नेसे बात अति ठण्डी हो जाती है, शरीरको बाधाकारी प्रतीत होती है, तब वे वीर साधु शरीरके ममत्वसे रहित होकर मैं आत्मा अमूर्तीक हूं, इस भावमें प्रवेश करके विचारते हैं कि निश्चयसे मेरा आत्मा असंग है—

कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रियिक, औदारिक पांचों प्रकारके पौद्गलिक शरीरोंसे रहित है तथा परम गुप्त आत्मानुभवकी गुफामें तिष्ठकर स्वानुभवकी उष्णतासे इतना गर्म है कि वहां प्रमादजनित

शिथिलता व कोई शीत स्पर्शकी बाधा संभव नहीं है, अनन्त वीर्यसे परम पुष्ट है, ज्ञान दर्शनके निर्मल नेत्रोंसे सर्व विश्वका ज्ञाताद्रष्टा है, परम ईश्वर स्वरूप परम वीतरागी है, ऐसा मनन करके यह साधु मन, वचन, कायकी गुप्तिको सम्हाल कर निज आत्माकी परम गंभीर व शुद्ध स्पर्श रहित गुफामें प्रवेश करके आपसे ही आपको आपमें मगन करके एकतान हो, निर्विकल्प समाधि भावको प्राप्त करके अन्त-र्मुहूर्तके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें आरूढ हो, साक्षात् भावलिंगी हो जाते हैं, तब शीत स्पर्शके विचारसे भी रहित होजाते हैं, परमानन्द अमृतका पान करते हैं।

पश्चात् जब फिर प्रमत्त गुणस्थानमें आते हैं तब शीत स्पर्शकी बाधाको वेदते हुए ज्ञानके प्रभावसे अति ध्यान न करके धर्मध्यान करते हैं। शरीरकी ममता ही दुःख वेदनमें कारण है, शरीरसे वैराग्य भावना भाते हैं व दीर्घ संसारमें पराधीनपने शीतकी बाधा सहन करना, विचारते हैं कि उस महान असहनीय शीतके सामने यह शीत बहुत अल्प है, मुझे वीर सिपाहीके समान कर्मके उदयको समतासे सहन करना चाहिये। इस भावनासे शीत परीषहका विजय करते हैं।

मिथ्यादृष्टी अज्ञानी तपस्वी घोर शीत पड़नेपर स्वयं अग्नि जलाकर तापते हैं, अनेक प्रकार वस्त्रोंको ओढते हैं, शीत परिषहसे हारे जाकर मोहशत्रुके नचाये भववनमें नाचते हैं, वे कभी भी परम शीतल मोक्ष महलके भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। क्योंकि वे यथार्थ मोक्षमार्गसे विरुद्ध चलते हैं।

सम्यग्दृष्टी जीव गृहस्थ हों व साधु हर अवस्थामें शुद्ध निश्चय-

त्यकी दृष्टिसे अपनेको परमात्माके समान अशरीर व क्षीणादि स्पर्शों बाधासे रहित परम वीतराग परमानंदमय देखकर सन्तोषी व सुखी रहते हैं, शरीर द्वारा वेदनाको कर्मजनित व पाहूत जानकर उनसे उदास भाव रखते हुए संसारमें पीठ देते हुए व ज्ञानी सम्यक्ती मोक्षकी तरफ मुख किये हुए बढ़ते जाते हैं।

१४८–उष्ण परीषह–सहन भाव ।

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रताके बाधक कर्मोंके आस्रवके निरोधका विचार कर रहा है। निर्ग्रंथ जैन मुनि प्राकृतिक भेषमें यथाजातरूप धारी हो कर्मोंको भस्म करनेके लिये आत्मध्यानकी अग्नि जलाते हैं व कठिन २ प्रदेशोंमें तपस्या करके संवर व निर्जराका उपाय करते हैं। कभी उष्ण ऋतुमें गर्म पवनके चलनेसे उष्ण परिषहका प्रकाश होजाता है तब धीरवीर मुनि शांतभावसे उस परीषहका विजय करते हैं। वे निश्चयनयसे जानते हैं कि मैं तो एक केवल असंग आत्मा हूं, अमूर्तीक हूं, ज्ञाता दृष्टा हूं, मुझ अशरीरको उष्ण स्पर्श बाधक नहीं हो सक्ता है। पुद्गलके गुण पुद्गलको बाधक हो सकते हैं। मैं किसी भी कर्म व नोकर्मवर्गणासे रहित हूं। मैं विश्वके जीव अजीव पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञाता हूं, परन्तु उनके द्वारा किसी भी प्रकारकी वेदनाका अनुभव नहीं करता हूं। जब अशुद्ध आत्मा किसी औदारिक आदि स्थूल शरीरमें व्यापक होता है और मोहके उदयसे राग द्वेषसे वर्तन करता है तब स्पर्शजनित दुःख या सुखका अनुभव होता है। जैसे आंख दूरसे आगको जलती हुई देखती है परन्तु आगके स्पर्शकी वेदना

देहित है वैसे मेरा आत्मा सर्व प्रकारके पुद्गलके शीत व उष्ण परिणमनको जानता है परन्तु उनकी वेदनाको अनुभव नहीं करता है। मेरा आत्मा स्वभावसे ही उष्ण परीषहविजयी है, परम सवरभावका धारी है।

इस तरह निज तत्वका सत्य स्वरूप विचार करके वह जिनभक्त साधु अपने उपयोगको मन, वचन, कायकी क्रियासे व सर्व परपदार्थोंसे हटाता है। और केवल एक अपने ही शुद्ध आत्माके स्वरूपमें उसे जोड़ देता है। आपमें ही आपको अपने ही लिये आपमेंसे आप ही स्वयं उपयुक्त होजाता है। षट्कारकके विकल्पसे परे होकर निर्विकल्प भावमें रम जाता है। अद्वैत स्वानुभवका प्रकाश कर देता है। अन्त मुहूर्तके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाता है। वीतराग भावसे सवरकी ध्वजा फहराता है। फिर जब प्रमादभाव आजाता है तब अनित्य अशरण, ससार व अशुचि व अनित्य भावनाओंको भाकर शरीरको पृथक् लखकर व शरीरके परिणमनसे आत्माका परिणमन भिन्न जानकर व अनन्त भूतकालीन भ्रमणमें पराधीनपने अनन्तवार तीव्र उष्ण बाधाका होना विचार कर व वर्तमान बाधाको अति तुच्छ जानकर वह ज्ञानी जीव सविकल्प दशामें समभावसे उष्ण परीषहका विजय करता है, सत्ताकी भूमिमें शयन करता है, मोक्षमार्गसे पतन नहीं करता है।

जो कोई ससारमोही मिथ्यादृष्टी तपस्वी तप करते हैं, आत्मीक रसके स्वादको कभी नहीं पाते हैं, वे तीव्र उष्ण बाधाके होनेपर सहन करके शीतल सरोवर व नदीके जलमें स्नान करते हैं। वृक्षकी छायामें विश्राम करते हैं व पखेका उपयोग करते हैं। आकुलित होकर जिस तिस प्रकारसे शीतोपचार करते हैं, वे मोक्षमार्गसे विमुख होकर ससारके

श्रमणसे काफी दूर नहीं होते हैं, उनको परम सुंदर आध्यात्मिक आ- नन्दकी शीतल पवनका कभी स्पर्श नहीं होता है। व आत्मध्यान ठंढकको नहीं पा सके हैं। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध निश्चयके प्रमाण अपने आत्माको शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा, वीतराग, परमानन्दमई, निराकुल निर्विकार जानते हैं। कर्मजनित सर्व प्रपंचसे अपनेको भिन्न समझते हैं। जब उनको शारीरिक बाधाका वेदन तीव्र असातावेदनीयके उदयसे होता है, तब कर्मविपाकसे कर्मवर्गणाओंकी निर्जरा होना विचार कर परम लाभ जानते हैं। तत्त्वज्ञानके प्रभावसे वे धीरवीर मोहके तीव्र वेगसे बचकर यत्नपूर्वक अपने ही आत्मामें स्थिर होते हैं व शीत आत्मीक रसके पानमें उष्ण परीषहादि बाधाओंको निवारण कर सुखी रहते हैं।

१४०–दंशमशक परीषह–मगर मात्र।

ज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताके लाभ हेतु बाधक कर्मशत्रुओंके प्रवेशके द्वारोंको बंद करनेका विचार कर रहा है। जैसे बलवान शत्रुका सामना वही योद्धा कर सकता है, जो बड़ा साहसी हो व शत्रुके द्वारा किये गये आपत्तिमूलक प्रयोगोंको धैर्यसे सहन कर सकता हो, युद्धक्षेत्रसे जरा भी पग पीछा न रक्खे व शत्रुको भगानेमें प्रवीण हो, वैसे ही कर्मशत्रुओंका संहार व पराजय वही परम धीरवीर निर्ग्रंथ जैन साधु कर सकता है जो नग्न शरीर रहने पर भी सानन्द आत्मध्यान कर सके, शुद्ध भावोंके बाण चलाकर कर्मदलको भगा सके। तथा कर्मोंके द्वारा उपस्थित की गई परिणामोंको विह्वल करनेवाली बाईस परीषहोंको सहन कर सके। उनके द्वारा आकुलित

हो, मोक्षमार्गमें कुछ भी पैर पीछा न रक्खे। नग्न शरीर पर बाधक मशक, कीट, पिपीलिका पतंग, मक्षिका आदि क्षुद्र जन्तु अपनी आहार संज्ञाके कारण आते हैं, उनके भावोंमें साधुसे कुछ भी द्वेषभाव नहीं होता है। वे लाचार हो अपना खाद्य ढूंढते हुए शरीर पर गमन करते हैं।

उस समय साधुगण तत्वविचारके बलसे उस परीषहका विजय करते हैं। प्रथम तो निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं आत्मा अमूर्तीक हूं। शरीर वस्त्रके समान बिलकुल भिन्न है। वस्त्रके काटे जानेसे जैसे शरीर नहीं कटता है वैसे शरीरके काटे जानेसे आत्माका कुछ बिगाड नहीं होता है। कोठेके भीतर आग जलनेसे वस्त्रादि जलेंगे परन्तु कोठेका आकाश नहीं जल सकता, क्योंकि आकाश अमूर्तीक है। जो अमूर्तीक होता है व अच्छेद्य व अभेद्य व अविनाशी व अमर होता है। मैं परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, परमानन्दमय हूं। सदा ही अचल होकर निराकुल विराजता हूं, सर्व पुद्गलकृत आक्रमणोंसे रहित हूं, स्वभावसे ही खेद रहित हूं, पीडाके भावोंसे दूर हूं। मेरे आत्माके शुद्ध प्रदेशोंमें दंशमशक परीषहका सहज ही विजय है। इस तरह विचार कर तुर्त अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ जाते हैं व निर्विकल्प आत्मसमाधिको जगाकर ज्ञानामृतका पान करके परम सुखी हो जाते हैं। शरीर पर पतंगादि बैठकर बाधा देते हैं, परन्तु उपयोगके सन्मुख विना भावेन्द्रियसे उसका ज्ञान ही नहीं होता है। उपयोग अल्पज्ञानी व एक साथ सब इन्द्रियोंसे व मनसे काम नहीं कर सकता है।

जैन साधुके पास पांच इन्द्रियें व मन तथा आत्मा है। इन सातोंमेंसे एक समय एक पर उपयोग जाता है तब अन्यके विषयोंका ग्रहण नहीं होता है। यदि कोई किसी दृश्यके देखनेमें उपयुक्त हो तो कानोंमें शब्दोंकी टक्करें लगने पर भी नाकमें सुगंधित वायुके झोंके आने पर भी शब्द व गंधका ज्ञान नहीं होता है। जब समय साधुका उपयोग जब आत्मामें एकतान होगया तब आप छहोंके विषयोंसे बेखबर होगया। निर्ग्रन्थ साधुपद वही धारता है, जो आत्मानुभवके नशेमें चूर हो, अन्तमुहूर्तके पीछे ही बारबार ही आत्माकी तरफ उपयोगको जोड़ सके। क्योंकि जिन दो गुणस्थानोंमें साधु तिष्ठते हैं उनमेंसे हरएकका काल अन्तर्मुहूर्त है।

अप्रमत्त गुणस्थानमें परीषहका अनुभव नहीं होता है। जब प्रमत्तमें आते हैं तब वेदनाका भान होता है। उस समय बारह भावनाओंके विचारसे वह दीर्घ संसारमें पराधीनपने पर जन्तुओंके द्वारा वध बंधन सहनेकी बाधाको स्मरण करनेसे व उस वर्तमान बाधाको अति अल्प समझनेसे वे साधु साम्यभाव विजय करके सबसमाधिकी ध्वजा फहरा देते हैं। कायर मिथ्यादृष्टि तपस्वी दंशमशकादि जन्तुओंकी बाधा नहीं सह सकते। वस्त्र परिधान करते हैं या परीक्षा प्रयोग करते हैं, व कभी भी जन्तुका सामना नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टी जिनेन्द्र मार्गके प्रेमी कर्मजनित दशाओंको ज्ञाता दृष्टा हो देखते हैं। आत्माके मननसे तृप्त रहकर कभी स्वमार्गसे विचलित नहीं होते। ज्ञान चेतनाकी रुचिमें अटल रहकर आत्मरसका पान करते हैं, व सदा सुखी रहते हैं।

१५०—नाग्न्य परीषह—मनर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंके निरोधका विचार कर रहा है। बाइस परीषहोंमें नाग्न्य परीषह भी है। जैनके निर्ग्रंथ साधु भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनों नग्न धारण करते हैं। अन्तर बाहर नग्न हुए विना कर्मशत्रुओंके साथ युद्ध करने योग्य वीर योद्धा नहीं हो सकता। जो उभय रूपसे नग्न नहीं हो सकते वे साधक होकर श्रावकके चारित्रको पालकर उस भवमें या पर भवमें वीर सिपाही बननेकी सच्ची भावना भाते हैं। रागादि उपाधिसे रहित वीतराग विज्ञानमय शुद्धोपयोग तो अन्तरंग भावलिंग है। जन्मके बालकके समान प्रकृति रूपमें नग्न दिगम्बर रहना बाहरी चिह्न द्रव्यलिंग है। बाहरी तुष दूर किये विना अन्तरकी लाली तन्दुलसे हटाई नहीं जा सकती।

इसी तरह बाहरी वस्त्रादि परिधानादि परिग्रह हटे विना अंतरंग मूर्छा या ममत्व भाव हटाया नहीं जा सकता। ऐसे वीर योद्धा त्यागी साधु लज्जाभावको जीतकर अपनेको बालकके समान व जगतको स्त्री पुरुषके भेद रहित एकसमान देखते हैं। यदि कदाचित किसी स्त्री आदिके निमित्तसे कुछ अन्तरंग विकार उपज आता है तो उस समय बड़ी वीरतासे उस नाग्न्य परीषहको जीतते हैं। निश्चयनयसे विचारते हैं कि मेरा आत्मा सदा ही नग्न है। मैं अकेला एक स्वतंत्र आत्मा हूं, मेरे पास किसी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व पर भावका सम्बन्ध नहीं है। मैं सर्व ही अन्य आत्माओंसे व पुद्गलके स्कंध व परमाणुओंसे व धर्म, अधर्म, आकाश व सर्व कालाणु द्रव्योंसे

बिल्कुल ही भिन्न अपनी सत्ता रखता हूं। मेरेमें कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्मका कोई रचमात्र सम्बंध नहीं है। मैं अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सम्यक्चारित्र आदि गुणोंसे भी ऐसा तन्मय हूं कि वे मेरे कई प्रदेशोंमें पूर्ण तथा व्यापक हैं। उनके साथ मेरा अभेद है, व्यवहारनयसे ही भेद करके विचारा जाता है।

सर्व परिग्रह रहित मुझ अमल आत्माके सहज ही नाग्न्य परीषह जय समभाव है। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त भावमें चढ़कर अपने स्वरूपके ध्यानमें लवलीन होजाते हैं। सर्व विकल्प रहित होकर आत्मानन्दरूपी अमृतरसका पान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब तीव्र कषायके उदयसे प्रमत्त गुणस्थान होजाता है तब वैराग्य भावको भाते हैं। विचारते हैं कि बालकको जैसे स्त्री पुरुषका विकल्प या विकार नहीं होता है, सहज ही सर्वत्र विहार करता है व निर्विकार रहता है, वैसे ही मुझे अब्रह्म भाव विजयी परम निर्विकार रहना चाहिये समदृष्टिसे व भेदविज्ञानसे जगतके नाटकको देखना चाहिये। शरीर परमाणुओंका पुंज है व म रवित्रन । स्त्री पुरुष दोनोंके भीतर आत्मा ए । इस विकारके मदको बचाकर पवित्र

पता है। सम्यग्दृष्टी जीव तत्वज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सदा ही एकाकी नग्न व पूर्ण ज्ञानी व परम वीतरागी, परमानन्दी, अमूर्तीक, अविनाशी मानकर इसीका मनन करते रहते हैं। स्त्री पुरुषके भेदोंको कर्मकृत विनाशीक जानकर उनसे वैराग्यमात्र रखते हैं व कर्मके उदयमें चिन्ता रहकर व निर्भय होकर शांतभावसे आत्मानन्दको लेते रहते हैं।

१५१–अरति परीषह–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंके निरोधका विचार कर रहा है। निर्वाणका मार्ग दुष्कर है, साहसी धीर वीर जैन निर्ग्रन्थ मुनि ही इस मार्गपर चलकर कर्मशत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे धीरवीर साधु ममताके त्यागी एकताके आराधक होते हैं। ये महात्मा मनोज्ञ अमनोज्ञ पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें, शत्रु मित्रमें, लाभ हानिमें, जीवन मरणमें, सुख दुःखमें समान भाव रखते हैं। इसीलिये ये श्रमण कहलाते हैं। ऐसे शिव मार्गके वीर सिपाही निर्जन स्थलोंमें विराजमान होकर परम आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं। कदाचित् द्रव्य, क्षेत्र, कालकी प्रतिकूलता होनेपर व गृहस्थ सम्बन्धी रतियोग्य भोगोंकी स्मृति आनेपर तथा चारित्र मोहके उदयसे उनके भावोंमें अरति भाव होजाता है।

इस परीषहके विजयके लिये प्रथम सो ये निश्चयनयसे विचार करते हैं कि मैं एक निराला आत्म द्रव्य हूं, अमूर्तीक हूं, पूर्ण दर्शन ज्ञान सुख वीर्य आदि गुणोंसे भरा हुआ हूं। न मेरा पौद्गलिक शरीर है, न [illegible] इन्द्रियां हैं, न भाव इन्द्रिय ज्ञान है, न [illegible] मैं आत्मारामी [illegible]

मूर्तिमान भाव न गाफ प्रसन्न रतिक्रिया करता हूं, अरति भाव उत्पन्न होनेका कोई कारण ही नहीं है। सहज ही मुझे अरति परीषहका अभाव है। ऐसा विचारकर वे साधु मन, वचन, कायके विकल्पोंको त्यागकर तथा उपयोगको सर्व ज्ञेय विषयोंसे हटाकर एक अपने आत्मारूपी देवमें तन्मय कर देते हैं।

निर्विकल्प समाधिमें मग्न होकर आत्मानन्दरूपी अमृतका पान करते हैं। जबतक इस अप्रमत्त भावमें आरूढ रहते हैं अरति परीषहका विकल्प भी नहीं रहता। अन्तर्मुहूर्त पीछे जो प्रमत्त गुणस्थानमें आजाते हैं तब वैराग्य भावनाके बलसे और इस विचारसे कि मैंने भूतकालमें पराधीनपने बहुत बार अरतिभावको सहन किया है, उसके मुकाबिलेमें इस समयका अरतिभाव बहुत तुच्छ है तथा मैंने मोक्षमार्गके भोक्ताका बाना स्वीकार किया है। मुझे तो कर्मोदयमें समभाव रखना चाहिये। इसतरह अरति परीषहका विजय करते हैं। और शांत रसका पान करते हैं। जो तपस्वी मिथ्यादृष्टि हैं वे अरतिके कारक द्रव्य, क्षेत्र, काल भावके होनेपर आकुलित होकर उसके ही प्रतिकारके अनेक प्रकार उपाय करते हैं, वे पंचेन्द्रियके विषयोंके विजयी न होनेसे तथा शुद्धात्मीक रसका पता यथार्थ न पानेसे संसार मार्गमें ही रहते हुए कभी भी मोक्षमार्गपर नहीं चल सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी शुद्ध निश्चयनयके बलसे भेदविज्ञानकी अपूर्व शक्तिको रखते हुए अपने आत्माको और परमात्माओंको एक समान शुद्ध देखते हुए समताभावका सुन्दर रसपान करते हैं। ऐसे ज्ञानी होकर साधु, कर्मोंके उदयसे होनेवाले मनोज्ञ या अमनोज्ञ

संयोगोंमें समभाव रखकर व कर्मकी निर्जरा होती हुई जानकर ज्ञाता दृष्टा रहते हैं और पुन पुन आत्मानदका लाभ करते हैं ।

२५२–स्त्री परीषह–सवरभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके विरोधका विचार कर रहा है । सवर तत्वके अधिकारी वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि हो सकते हैं जो सर्व आरम्भ परिग्रहसे रहित होकर पञ्चइन्द्रियोंको कूर्मवत् सकोच करनेवाले हों, जिन्होंने तृष्णाकी दाहको आत्मीक आनन्दके शातरसके पानसे शात कर दिया हो, जो अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आत्मीक आनन्दके लाभसे बाहर नहीं रहते हों, जिन्होंने समभावसे सर्व प्राणीमात्रको एक समान देख लिया हो । स्त्री पुरुषका विकल्प जिनके मनसे निकल गया हो, ऐसे धीरवीर ऋषि मोक्षद्वीपके सच्चे पथिक होते है, रत्नत्रय मार्गपर चलते हुये कर्मोदयसे प्राप्त बाईस परीषहोंका शातिसे विजय करते हैं, कभी उन्मत्त प्रमदाओंके मनोहर गानेके श्रवणसे, उनके रूप लावण्यके अवलोकनसे, उनके हावभाव विलास विभ्रमके कटाक्षोंसे, पूर्व गृह सबधी कामरतके स्मरण हो जानेसे अथवा किन्ही चचल स्त्रियोंके द्वारा अनेक प्रकार नृत्य, कौतूहल, वाग्विलास आदिसे मन डिगानेकी चेष्टा किये जानेपर अन्तरङ्ग चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे स्त्री सम्बधी विकारभाव चित्तमें आ जानेपर स्त्री परीषहको वे मुनिगण इस तरह विजय करते हैं–प्रथम तो निश्चय-नयसे विचारते हैं कि मैं पौद्गलिक द्रव्य नहीं, मैं केवल शुद्ध आत्म द्रव्य हू, मैं परम [illegible]दर्शन, सुख वीर्यका धनी हू । मैं [illegible]

शुभ [illegible] [illegible]भसे रमण करनेवाला हू, मुझ

परीषह सभर ही नहीं है। मैं सपूर्ण जगतकी आत्माओंको अपने समान शुद्ध स्त्री पुरुषक भेदसे रहित देखनेवाला हूं। ऐसा विचार करके प्रमत्त गुणस्थानसे अप्रमत्तमें चढ जाते है और अन्तर्मुहूर्तके लिये परम ब्रह्मचर्यमें स्थिर होकर वीतरागभावका अनुभव करते हैं, पश्चात् प्रमत्त गुणस्थानमें आ जाते हैं तब वैराग्यभावनासे स्त्री परीषहका विजय करते हैं। वे विचारते हैं कि उत्तम धर्मध्यानके लिये मैंने निर्ग्रंथ द्रव्यलिंग धारण किया है, ब्रह्मचर्य महाव्रतका नियम लिया है, मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनारूप नौ कोटिसे अब्रह्मभावका त्याग किया है। मैं सयमी हू, जगतके विषयोंका ज्ञातादृष्टा मात्र हू, रागद्वेष करनेका मेरा धर्म नहीं है, तथा जो मानव स्त्रीके मोहमें ग्रसित होजाते हैं वे संसार सागरमें डूब जाते हैं, ऐसा विचार वे काममावके विकारको चित्तकी भूमिसे धो डालते हैं और वीर सिपाहीके समान मोक्षमार्गमें गमन करते रहते हैं। जो मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा आत्मीक रसके स्वादसे विहीन तपस्या करते हैं, वे स्त्रियोंके मोहजालसे फसकर भ्रष्ट होजाते हैं, और अब्रह्म भावसे कभी भी ब्रह्मचर्यके आदर्शको नहीं पा सक्ते। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी ज्ञान वैराग्यसे भूषित होते हैं, वे परम रसिक भावसे स्वात्मानुभूति तियामें रमण करते हैं। ऐसे वीरपुरुष कर्मोदयमें समभाव रखते हुये शुद्धात्मीक श्रद्धाके बलसे शांत रसका पान करते हैं।

१५३-चर्या परीषह-सहन भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहे हैं। मोक्षके अधिकारी वे ही धीरवीर निर्ग्रंथ मुनि होसकते हैं

जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी निश्चय रत्नत्रयमें आत्मधर्मरूप भाव मुनिलिंगको धारण करते हैं। और सर्व आकांक्षाओंसे रहित होकर आत्मीक आनन्दमें तृप्त रहते हैं, परमाणु मात्र भी परपदकी चाह नहीं करते। वे मुनि निश्चय चारित्रके सहकारी (निमित्त) कारण व्यवहार चारित्रको भी आचार शास्त्रके अनुसार पालते हैं। इसलिये वे वर्षाकालके ४ मास सिवाय साधारण नियमके अनुसार नगरके बाहर ५ दिवस और ग्रामके बाहर एक दिनसे अधिक विश्राम नहीं करते हैं। निर्ममत्व भावके लिये तथा धर्मप्रचारके लिये और माधुरी वृत्तिको अवलम्बन करते हुये गृहस्थको भाररूप न होने देनेके लिये सदा विहार करते हैं। वे नंगे पैर पादत्राण विना कंकरीली ऊंचे नीचे पाषाणवाली गरम रेती, ठंडी रेती आदिके विकट मार्गोंमें दिवसके समय प्रकाशके होते हुये चार हाथ भूमि आगे निरख कर धीरे २ ईर्यासमिति पालते हैं। वे विश्व प्राणियोंके दयालु किसी भी स्थावर या त्रस प्राणीको बाधा पहुंचाना नहीं चाहते। इसीलिये प्रासुक रोंदी हुई भूमिपर ही चलते हैं। पूर्व अवस्थामें ग्रहण किये हुये नानाप्रकार वाहनोंका स्मरण नहीं करते हैं।

विकट मार्गपर चलते हुये कर्मके उदयसे चलनेकी बाधा उपस्थित होनेपर चर्यापरीषहकी इस प्रकार विजय करते हैं—प्रथम तो वह निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक परम शुद्धात्मा हूं, ज्ञानदर्शन सुखवीर्यादि सम्पदाका स्वामी हूं, मैं सदा अपने ही स्वरूपके भीतर ही चलता हूं व रमण करता हूं, मुझे शरीर सम्बन्धी चर्याकी बाधा सम्भव ही नहीं है। ऐसा विचारकर वे अप्रमत्तगुणस्थानमें चढ़ जाते हैं, और

रहा आगे बन्ने जाते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसी आदि अनेक प्रकार कष्टप्रद तपस्या करते हुये मनमें खेद प्राप्त करते हैं। वे ध्यानके आसनके कष्टको न सह सकनेके कारण आसन बदल लेते हैं, व आर्तध्यानमें रत होजाते हैं व कभी मोक्षमार्गका साधन नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निरन्तर अपना स्वामित्व अपनी ज्ञाना नन्दादि विभूतिमें रखते हुये सदा ही आपको अकर्ता और अभोक्ता मानते हैं, कर्मोदयसे प्राप्त बाधाओंमें कर्मकी निर्जरा समझ लाभ मानते हुये परम सन्तोष रखते हैं तथा जब न हो तब अपने भीतर भरे हुये आत्मसागरमें आत्मानुभव रूपी जल लेकर पान करते हैं और परम शांतिका विस्तार करते हैं।

१५५–शय्या परीषह–मवरसार।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। स्वतन्त्रता लाभ उसी वीर महात्माको हो सकता है जो आत्म स्वातंत्र्यका पुजारी हो, जो केवल अपने शुद्धात्माका श्रद्धान ज्ञान चरित्र रखते हुए स्वानुभवमें लीन हो। साम्यभाव व स्वसमयको ही परमधर्म जानता हो। जिसके भीतर निर्विकल्प समाधिभावका साम्राज्य हो। जो श्री महावीरस्वामी २४ वें तीर्थंकरके समान भाव लिंग और द्रव्यलिंगसे विभूषित हो। जैसे भावलिंग शुद्धात्मरमणरूप असंगभाव है, वैसे ही द्रव्यलिंग सर्वपरिग्रह रहित परमनिर्ग्रंथ है। यथाजातरूपधारी दिगम्बर मुनि ही उस महाचारित्रको धारण कर सकते हैं जो अंतरंग चारित्रके लिये आवश्यक निमित्त

कारण है। ऐसे ही वीर महात्मा बाईस परीषहोंको विजय करते है।

जैन साधुगण स्वाध्याय, ध्यान व मार्गमें विहारके खेदको निवारण करनेके लिये एक अन्तर्मुहूर्त मात्र कंकरीली खुरखुरी गर्म या ठंडी कैसी ही भूमिपर एक पलवाड़े काष्ठके समान शयन करते हैं। अन्तरंगमें भावना आत्मरस भावकी रखते हैं। इस तरह शयन करते हुये कदाचित् कोई उपसर्ग या कष्ट आपड़े अथवा गृहस्थके जीवनमें नाना प्रकार कोमल आसनोंपर सुखसे शय्या करनेकी बात स्मृतिमें आ जावे तब असातावेदनीय कर्मके उदयसे शय्या परीषहका उदय होजाता है। उस समय ज्ञानी साधु इस तरह विचार करते हैं—प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते है कि मैं अमूर्तीक अविनाशी चेतनमई पदार्थ हूं, सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका पूर्णपने स्वामी हूं। मैं सदा ही समताकी शय्यापर शयन करता हुआ आत्मानंदका निरन्तर भोग करता हूं। मेरा सम्पर्क किसी भी पर पदार्थसे नहीं है, जिससे मुझे शय्या परीषह सम्भव हो। ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें आरूढ़ होजाते हैं, और स्वानुभूतिमें तन्मय हो शांत रसपान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभावमें आते हैं, तब विचारते है—इस अनादिकालीन भवभ्रमणमें मैंने पराधीनपने अनेकवार कष्टप्रद शयन किये है, उन कष्टोंके सामने वर्तमान कष्टका विकल्प अति तुच्छ है, तथा मैंने मोहशत्रुके विजय करनेका दृढ़ संकल्प किया है। मुझे उचित है कि समभावकी ढालसे कर्मोदयकी खड्गोंका निरोध करूं। किसी भी तरहके तीव्र कर्मोदयमें किंचित् भी आकुलित नहीं होऊं। मेरे सामायिक ... रक्षा आत्मवीर्यके दृढ़ प्रयोगसे ही होसक्ती है।

हटा करते जाते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी आदि अनेक प्रकार कष्टप्रद तपस्या करते हुए मनमें खेद प्राप्त करते हैं। वे ध्यानके आसनके कष्टको न सह सकनेके कारण आसन बदल लेते हैं, व आर्तध्यानमें रत होजाते हैं, वे कभी मोक्षमार्गका साधन नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निरन्तर अपना स्वामित्व अपनी ज्ञानानन्दादि विभूतिमें रखते हुये सदा ही अपनेको अकर्ता और अभोक्ता मानते हैं, कर्मोदयसे प्राप्त बाधाओंमें कर्मकी निर्जरा समझ लाभ मानते हुये परम सन्तोष रखते हैं तथा जब रहे तब अपने भीतर भरे हुये आनन्दसागरमें आत्मानुभव रूपी जल लेकर पान करते हैं और परम शांतिका विस्तार करते हैं।

१५५–शय्या परीषह–सवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। स्वतन्त्रता लाभ उसी वीर महात्माको हो सकता है जो आत्मस्वातन्त्र्यका पुजारी हो, जो केवल अपने शुद्धात्माका श्रद्धान ज्ञान चारित्र रखते हुये स्वानुभवमें लीन हो। साम्यभाव व स्वसमयको ही परमधर्म जानता हो। जिसके भीतर निर्विकल्प समाधिभावका साम्राज्य हो। जो श्री महावीरस्वामी २४ वें तीर्थंकरके समान भाव लिंग और द्रव्यलिंगसे विभूषित हो। जैसे भावलिंग शुद्धात्मरमणरूप एक असंगभाव है, वैसे ही द्रव्यलिंग सर्वपरिग्रह रहित परमनिर्ग्रंथ असंगभाव है। यथाजातरूपधारी दिगम्बर मुनि ही उस चारित्रको आचरण कर सकते हैं जो अतरंग चारित्रके लिये आवश्यक निमित्त

कारण है। ऐसे ही वीर महात्मा बाईस परीषहोंको विजय करते है।

जैन साधुगण स्वाध्याय, ध्यान व मार्गमें विहारके खेदको निवारण करनेके लिये एक अन्तर्मुहूर्त मात्र कंकरीली खुरखुरी गर्म या ठंडी कैसी ही भूमिपर एक पसवाड़े काष्ठके समान शयन करते है। अन्तरंगमें भावना आत्मरस भावकी रखते है। इस तरह शयन करते हुये कदाचित् कोई उपसर्ग या कष्ट आपडे अथवा गृहस्थके जीवनमें नाना प्रकार कोमल आसनोंपर सुखसे शय्या करनेकी बात स्मृतिमें आ जाय तब असातावेदनीय कर्मके उदयसे शय्या परीषहका उदय होजाता है। उस समय ज्ञानी साधु इस तरह विचार करते हैं— प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक अविनाशी चैतन्यमई पदार्थ हू, सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका पूर्णपने स्वामी हू। मैं सदा ही समताकी शय्यापर शयन करता हुआ आत्मानंदका निरंतर भोग करता हू। मेरा सम्पर्क किसी भी पर पदार्थसे नहीं है, जिससे मुझे शय्या परीषह सम्भव हो। ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें आरूढ होजाते हैं, और स्वानुभूतिमें तन्मय हो शांत रसपान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब अप्रमत्तभावमें आते हैं, तब विचारते हैं– इस अनादिकालीन भवभ्रमणमें मैंने पराधीनपने अनेकबार कष्टप्रद शयन किये है, उन कष्टोंके सामने वर्तमान कष्टका विकल्प अति तुच्छ है, तथा मैंने मोहशत्रुके विजय करनेका दृढ संकल्प किया है। मुझे उचित है कि समभावकी ढालसे कर्मोदयकी खड्गोंका निरोध करू। किसी भी तरहके तीव्र कर्मोदयमें किंचित् भी आकुलित नहीं होऊ। मेरे सामायिक [illegible] रक्षा आत्मवीर्यके दृढ प्रयोगसे ही होसकती है।

इत्यादि विचार कर शय्या परीषहका विजय करते हुये समभावकी भूमिकामें जमे रहते हैं।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तपस्वीगण इस परीषहको सहनेमें असमर्थ होकर नानाप्रकार कोमल आसनोंपर शयन करते हैं, जब कि जैन साधु भूमिपर एक अन्तर्मुहूर्तम अधिक निद्रा नहीं लेते तब ये तपस्वी घटों निद्राके प्रमाणमें समयको विताते हैं। ऐसे प्रमादीजन मोक्षमार्गपर चलनेके लिये असमर्थ हैं। वे कभी कर्मकी परतन्त्रतासे छूट नहीं सकते। उनको आत्म-स्वातन्त्र्यका कभी लाभ नहीं होसकता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव ज्ञान चेतनाके श्रद्धावान होकर निरन्तर ज्ञानरसका पान करते हैं। शुभ अशुभ कर्मोंके उदयमें समभाव रखते हुए आकुलित नहीं होते। अपनेको जीवन्मुक्त अनुभव करते हुये स्वातन्त्र्यके मार्गपर बढते जाते हैं और आत्मानंदका लाभ करते रहते हैं।

१५६-आक्रोश परीषह-सहनभाव।

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि मैं अनादि अविद्यासे ग्रसित था, पुद्गल कर्मकृत भावोंमें, रचनाओंमें, आसक्त था। पाच इन्द्रियोंके विषयोंमें मग्न था, चार कषायोंके वशीभूत था, अपने स्वरूपसे बेखबर था, श्रीगुरुके प्रसादसे मुझे तत्वज्ञानका लाभ हुआ, कर्मोंकी परतन्त्रतासे उदासी हुई, आत्म स्वातन्त्र्यका प्रेम उत्पन्न हुआ। अब मुझे कर्मशत्रुओंको जीतकर स्वातन्त्र्य लाभ करना चाहिये ऐसा विचारकर कर्मशत्रुओंसे आगमनके द्वारोंके निरोधका मनन कर रहा है। यह जानता है कि स्वतन्त्रताका लाभ उस हीको हो सक्ता है, जो स्वतन्त्र-

ताका एक मात्र उपासक हो, जो परतंत्रतासे पूर्ण उदासीन हो, जो स्वतंत्र्यमें शुद्धोपयोग रूप भावलिंगका धारी हो, जो भावलिंगके निमित्त मूल यथाजात रूप निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंगका धारी हो, जो जीवन मरण— लाभ हानि, कंचन काच, शत्रु मित्र, सुख दुःख, नगर श्मशानमें समभावका धारी हो। ऐसे वीर निर्ग्रन्थ साधु नाना स्थानोंमें विहार करके आत्म साधन करते हुये धर्मकी प्रभावना करते हैं। कदाचित् उनके महनीय रूपको न पहचानकर दुष्ट बुद्धिधारी मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार उपहास करते हैं और निन्दनीय वचन बोलते हैं। कभी गृहस्थ अवस्थामें होनेवाले उनके विरोधी इस समय उनको देखकर क्रोधित हो तिरस्कारके असहनीय कटुक वाक्य प्रहार करते हैं, जिनके सुनने मात्रसे क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो सकती है ऐसे मर्मभेदी शब्दोंको सुनते हुये कदाचित् निर्ग्रन्थ मुनिके भावमें चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे मुझे दुर्वचन कहे 'ऐसा दुर्विकल्प उठ आता है। अर्थात् आक्रोश परीषहका उदय होजाता है।"

उसी समय वे धीरवीर ज्ञान भावनाकी ढालसे उसका विजय करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयमें विचारते हैं कि मैं अमूर्तिक चैतन्य धातुमय मूर्तिधारी परम शुद्ध एक आत्म द्रव्य हूँ, मैं सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, आदि गुणोंका धारी अभेद पदार्थ हूँ, मैं सदा ही अविनाशी अजर अमर हूँ, पुद्गलका मेरे साथ कोई सम्बंध नहीं है, न मेरे पास कान इन्द्रिय हैं, पौद्गलिक शब्दोंको ग्रहण करानेके लिये कर्ण इन्द्रियका अभाव है, न मनमें राग-द्वेषकी कालिमा है अतएव आक्रोशपरीषहकी संभावना ही

है ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें चढ़ जाते हैं, और अन्तर्मुहूर्त लिये स्वरूप-संवेदी हो परमानंदमें मगन होजाते हैं, मनके विकल्पोंसे छूट जाते हैं। पश्चात् प्रमत्त गुणस्थानमें आनेपर आक्रोश सम्बन्धी विकल्प फिर उठ आता है उसको ज्ञान वैराग्यकी भावनासे जीतते हैं। वे विचारते हैं कि शब्दोंके सुननेसे विकारी होना नाना पुरुषकी कमजोरी है मुझ वीरको कभी कायर नहीं होना चाहिये।

मैंने अनादि संसार भ्रमणमें पराधीनता पूर्वक अनेक पशु और मनुष्योंके दीन हीन शरीरोंमें रहते हुए महा घोर दुर्वचन सहे हैं, उनके सामने ये वचनावली अत्यन्त तुच्छ है, इसतरह विचार कर समभावकी भूमिकामें खड़े रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी दूसरोंके द्वारा कहे गये दुर्वचनोंको सुनकर कुपित होजाते हैं, क्रोधांध हो श्राप देते हैं उनका अहित विचारते हैं। ऐसे कायर मनुष्य स्वतन्त्रताका काम नहीं कर सकते। वे तो कर्मकी जंजीरोंमें बंधे हुये चारों गतियोंमें भ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव आत्मीक स्वभावके परम रसिक होते हैं, अन्य सर्व सांसारिक प्रपंचोंसे पूर्ण उदासीन होते हैं। वे कर्मोदयसे प्राप्त दुख सुखमें समभाव रखते हैं और अपने आत्मीक उपवनमें रमण करते हुवे सुख शांतिका भोग करते हैं।

१५७-वधपरीषह-सहनभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वातंत्र्य लाभके लिये कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंके निरोधका विचार कर रहा है। मोक्षलाभ परम दुष्कर पुरुषार्थ है। इसको वही निर्ग्रंथ वीर महात्मा साधन कर सकते हैं जो अहिंसा

धर्मके पूर्ण पालनेवाले हों, रागादि भाव हिंसासे पूर्णरहित हों, स्थावर और त्रसकी द्रव्य हिंसासे भी पूर्ण रिक्त हों, उत्तम क्षमा जिन वीरोंका आभूषण हो, जो कष्ट दिये जानेपर, शस्त्रादिसे प्रहार किये जानेपर व वध किये जानेपर भी कभी परिणामोंमें द्वेषभाव या खेदभाव नहीं लाते हैं, वे अतरंग भावकी पूर्ण रक्षा करते हैं, क्रोध कषायकी अग्निसे अपनी तपस्यामें किंचित् भी आंच लगने नहीं देते। ऐसे वीर साधु भिन्न२ स्थानोंमें विहार करते हुए कभी कहीं दुष्ट मनुष्योंके द्वारा या भिल्लादिकोंके द्वारा पीडित किये जाते हैं अथवा पूर्व अवस्थाके शत्रुओंके द्वारा प्रहारित वा प्राणघात तकका कष्ट सहन करते हैं। असातावेदनीयके तीव्र उदयसे वधपरीषहका तीव्र उदय हो जाता है, उसी समय वे सावधान होकर बड़े धैर्यसे विजय करते हैं।

प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक अविनाशी आत्मा हूं ज्ञान दर्शन सम्यक्त चारित्र सुख, वीर्यादि गुणोंका सागर हूं मेरे स्वभावमें किसी पुद्गलका प्रभाव नहीं पड़ सकता, मेरे सुख सत्ता चैतन्य बोध इन ४ भावप्राणोंका कोई वध नहीं कर सकता इसलिये कोई आत्मामें वधपरीषहकी सम्भावना नहीं है। ऐसा विचार कर तुरत अप्रमत्तभावमें चढ़ जाते हैं और उपयोगको शुद्ध आत्मीक परिणतिमें लीन करके मन वचन कायको तरफसे रोक लेते हैं। परम समता भावसे स्वानुभवसे उत्पन्न आनन्द-अमृतका पान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभावमें आ जाते हैं, अन्यत्व भावना भाते हैं, अपने आत्माको आकाशवत् अछेद्य विचारते हैं तथा ये मनन करते हैं कि मेरी अ[illegible] अनादिकालीन संसारमें भ्रमण करते

हुए एकेंद्री आदि अनक शरीरोंको धारते हुए दुष्ट पशुओंक द्वारा बड़ी निर्दयतापूर्वक प्राणघातक असह्य कष्ट सहन किये है। तथा वध नाशवत शरीरका है, मेरे आत्माका नहीं। इत्यादि भावनाओंके द्वारा वधपरीषहका विजय करते है और शान्तभावसे ध्यानमें लीन हो उन्नति प्राप्त करते हैं। समाधिमरण करके परतन्त्रताकी बेड़ियोंको काटनेका प्रयत्न करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसीजन दूसरोंके द्वारा ताडित व प्राणोंका घात होते हुए महान् कुपित होजाते हैं। क्रोधभावसे क्षमा गुणका नाश कर देते है। अतएव ये स्वतन्त्रताकी प्राप्ति कभी नहीं कर पाते। समभावके बिना स्वातन्त्र्य लाभ दुष्कर है। समभावकी अग्नि कर्म-शत्रुओंको क्षणमात्रमें भस्म कर देती है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मतत्वके गाढ़ प्रेमी होते हैं। जगतके प्रपंचको नाटकके समान देखते हैं। वे कर्मोदयमें समभाव रखते हुए ज्ञान चेतना द्वारा स्वसंवेदन करते हुए परमानन्द प्राप्त करते हैं और मोक्षमार्ग पर बढ़ते चले जाते हैं।

१५८—याचना परीषह-सवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके लिये कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारा निरोधका विचार कर रहा है। मोक्षका लाभ उन्हीं महात्माओंको होता है जो तीर्थंकरोंके समान भाव-द्रव्यलिंगके धारी हैं, बारह प्रकारका तप करते हैं निरन्तर आत्माकी भावना भाते हैं, जो दिनमें एक दफा भिक्षावृत्तिसे भक्तिपूर्वक गृहस्थ द्वारा दिये हुए आहारको ग्रहण करते हैं, ऐसे साधुओंको भिक्षाका अलाभ होनेपर वा कई २

दिन अन्तराय पड जानसे शरीर कृश होजाता है । कर्मोदयसे याचना करनेका भाव परिणाम हो जाता है । अर्थात् याचना परीषहका उदय हो जाता है, तब वे ज्ञानी इस परिणामको रोककर कभी भी आहार आदिकी याचना नहीं करते हैं । वे सिंहवृत्तिके धारी होते हैं । दीनता करना कायरता समझते हैं । प्राण जानेपर भी याचना नहीं करते, वे ज्ञानी इस परीषहको इस तरह जीतते हैं—

प्रथम तो व निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं एक शुद्ध आत्मा हूं, मेरा पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं, मैं पूर्ण दर्शन ज्ञान सुख वीर्यका धनी हूं, मैं अमूर्तिक अविनाशी हूं, मेरा चेतनमई देह आत्म वीर्यसे सदा पुष्ट रहता है । मैं आत्मानुभव करता हुआ नित्य आनन्द अमृतका पान करता हूं । मुझे कभी निर्बलता नहीं होती है, न कभी रोग होता है । मैं अपनेसे ही अपनेको ज्ञानामृत प्रदान करता हूं । मुझे किसीसे याचनाकी जरूरत नहीं है । ऐसा विचार कर अप्रमत्त गुणस्थानमें वे साधु चढ जाते हैं । और आत्मध्यानमें ऐसे लवलीन होजाते हैं कि उनका उपयोग अपने आत्माके सिवाय किसी भी परवस्तु पर नहीं जाता है । वहां वे परम तृप्तिको अनुभव करते हैं, अन्तर्मुहूर्त पीछे वे प्रमत्तभावमें आजाते हैं तब वे वैराग्य भावना भाते हैं । शरीरको धर्मका सहकारी जानकर रखना चाहते हैं, शरीरके लिये धर्मका नाश नहीं चाहते ।

मुनि धर्मकी यह रीति है कि भक्तिपूर्वक गृहस्थके द्वारा दिया हुआ आहार ही ग्रहण करें । मैंने संसार-भ्रमणमें अनेक जन्म दीन-हीन पशु मानवके धारण किये हैं । दीनता करके आनंदकी याचना

दी है तो भी असाताके उदयसे लाभ नहीं कर सका हूं। उस समयकी वेदनासे वर्तमान वेदना अत्यंत तुच्छ है। मुझे वीर योद्धाके समान कर्मशत्रुका प्रहार सहन करना चाहिये। इस तरह विचार कर याचना परिषहका विजय करते हैं। भूल करके भी किसीसे याचनाका संकेत नहीं करते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी तपस्वी क्षुधाकी वेदना सहनेमें असमर्थ होकर दूसरोंसे याचना करते है, दीन वचन बोलते हैं, भिक्षा न मिलने पर क्रोध करते हैं, व कभी भी मोक्षमार्गके पथिक नहीं होसक्ते।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव निश्चय सम्यक्त्वके प्रभावसे अपनेको सदा जीवन्मुक्त समझते हैं। आत्माके शुद्ध परिणमनको अपना कार्य जानते हैं। व निज स्वभावके ही कर्ता भोक्ता बन रहते हैं। मन वचन कायकी क्रियाको चारित्र मोहके उदयवश करते हैं, शुभ अशुभ कर्मके उदयमें समताभाव रखते हैं। और जब चाहते तब अपने ही भीतर परमात्मा-देवका दर्शन कर परम शांतिलाभ करते हैं।

१५९–अलाभ परीषह सवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताकी प्राप्तिके हेतु कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंको रोकनेका विचार कर रहा है। आत्मस्वातंत्र्य उसीको प्राप्त होसकता है जो आत्मस्वातंत्र्यका पुजारी हो, जो तीर्थंकरोंकी भांति निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगका आराधक हो और उसकी प्राप्तिके लिये यथाजात रूप निर्ग्रंथलिङ्गका धारी हो। ऐसे जैन साधु दिन रातमें एक दफे दिनमें भिक्षा वृत्तिसे गृहस्थ द्वारा दिये हुये आहारका उपयोग करते हैं। कभी याचना नहीं करते। वे पवनके समान असंग

रहते हुये भोजनके समय गृहस्थ श्रावकोंके घरोंके निकट जाते हैं। यदि कोई प्रतिष्ठा पूर्वक पडगाहता है तो आहार ग्रहण करते हैं। ऐसे जैन साधु अनेक देशोंमें विहार करते हैं। कभी २ भोजनका लाभ नहीं होता है। यह साधु वृत्तिपरिसंख्यान तप पालते हैं। कोई खास नियम धारण कर भिक्षार्थ जाते हैं। कभी कई २ दिन तक नियमकी पूर्ति नहीं होती है, भोजनका अलाभ रहता है। कभी२ भोजन आरम्भ करते ही अन्तराय पड जाता है। ऐसा लगातार हो सकता है। इत्यादि कारणोंके होनेपर तीव्र अन्तरायकर्मके उदयसे अलाभ परिषहका उदय होजाता है, तब वे साधु समभावसे इसको जीतते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं एक अमूर्तिक शुद्ध आत्मा हूं। मेरा पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका धनी हूं। मैं निरन्तर अपने ही आत्माके अनुभवसे प्राप्त आत्मानन्दका लाभ करता रहता हूं। जिससे परम सन्तोषित रहता हूं। मुझे कभी अलाभ नहीं होता। इसतरह विचार कर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ जाते हैं और अन्तरमूहूर्तके लिये आत्मसमाधिमें विश्राम करते हैं। तब भोजनके अलाभका भी विकल्प नहीं होता। तब वे आत्मानन्दका उपभोग करते हैं। अन्तरमूहूर्त पीछे जब वे प्रमत्त भावमें आजाते हैं तब वे वैराग्यभावना भाते हैं। शरीरको आत्मासे पृथक् विचारते हैं तथा यह सोचते हैं—

मैंने इस अनादि भव भ्रमणमें अनन्तवार पशु व मनुष्यके देह धारण किए हैं, वहां लाभान्तरायके उदयसे अनेकवार भोजनका लाभ नहीं हुआ है, तीव्र क्षुधा वेदनासे प्राणों तकका वियोग किया है।

उस पराधीन अवस्थाकी अपेक्षा यह अलाभ बहुत तुच्छ है। इस-तरह विचारकर समभावसे अलाभ परिषहका विजय करते हैं। मिथ्या-दृष्टि अज्ञानी तपस्वी भोजनके अलाभमें आकुलित होते हैं, भिक्षा मांगते हैं। वह वनके फलादि स्वयं तोड़कर खा लेते हैं। वे अचौर्य महाव्रतको नहीं पाल सक्ते हैं। इसलिये वे स्वतंत्रताका कभी लाभ नहीं कर सक्ते। कर्मके बन्धनमें भव भ्रमणमें ही रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निरन्तर आत्मानन्दके भोजनको ही अपना भोजन समझते हैं। और जब चाहे तब आत्मस्थ होकर उसका लाभ कर लेते हैं। कर्मोदयसे बाहरी पदार्थोंके लाभ व अलाभमें वे समभाव रखते हैं, आकुलित नहीं होते, जगत प्रपंचके ज्ञातादृष्टा रहते हुए परम शांतिका लाभ करते हैं।

१६०–रोगपरिषह–सवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारका निरोध विचार रहा है। मोक्षका साधन वे ही वीर निर्ग्रंथ साधु कर सक्ते हैं जो शरीरादिसे पूर्ण निर्ममत्व हों और शुद्धोपयोगकी भूमिकामें चरते हुए धर्मध्यानका अभ्यास करें, जो सर्व परिग्रहके त्यागी हों, शरीरके संस्कारसे भी रहित हों, रत्नत्रयरूपी भंडारकी रक्षाका कारण शरीरको समझकर उसको शुद्ध आहार देकर रक्षित रखते हों। वे शरीरके लिये स्वयं आरम्भ नहीं करते हैं। भिक्षावृत्तिसे गृहस्थ दातारसे दिये हुए भोजनपान औषधिको मौन सहित सन्तोषपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। इस मुनिपदको निरोगी स्वास्थ्ययुक्त पुरुष ही धारण करते हैं। ऐसा

होनेपर भी कभी विरुद्ध आहार पानके सेवन करनेसे रोगादिक शरी-रमें उत्पन्न हो जाय तो स्वयं उसका उपाय नहीं करते हैं। ऋद्धिधारी होनेपर भी ऋद्धिसे काम नहीं लेते हैं। रोगपरिषहको बड़ी शांतिसे विजय करते हैं।

प्रथम तो यह विचारते है कि मैं शरीर नहीं हू, किंतु अमूर्तीक आत्मा हू। मेरा स्वभाव पूर्ण दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यमय है। मैं सदा ही स्वस्वरूपमें तन्मय होता हुआ स्वास्थ्ययुक्त रहता हूँ। मुझे राग द्वेष मोहकी बीमारी नहीं होती है। मैं सदा आत्मानन्दका वेदन करता हू। मुझे रोगपरिषह नहीं हो सक्ती, ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें चढ़कर आत्मस्थ होजाते हैं, शरीरके विकल्पसे रहित होजाते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभावमें आते हैं तब अनित्यादि बारह भावनाओंका विचार करते हैं। तथा मेरे आत्माने अनादि कालके संसार-भ्रमणमें अनंतवार अनेक रोगोंसे पीड़ित पशु और मानवोंके शरीर प्राप्त किये हैं, पराधीनतासे बहुत कष्ट सहे हैं, उसके मुकाबलेमें यह रोगका कष्ट बहुत तुच्छ है। इसतरह विचारकर रोगकी वेदनाको परम शांतिसे सहन कर लेते हैं और अपने रत्नत्रय धर्मकी रक्षा करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी रोग आक्रान्त होनेपर आकुलित होजाते हैं, उचित अनुचित इलाज करते हैं, दीनभावसे रोगकी परिषहको सहन नहीं कर सकते हैं, वे कभी मोक्षमार्गपर चलनेयोग्य नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भलेप्रकार अपने आत्माका सच्चा श्रद्धान रखते हैं। उनको पूर्ण विश्वास है कि मैं एक निरोग आत्मा हू। मेरेमें

बन्ध मोक्षकी कोई कल्पना नहीं है। मैं स्वाभाविक ज्ञान परिणतिका ही कर्ता हू और आत्मिक आनदका ही भोक्ता हू। मेरा कर्तव्य स्वानुभव करके आत्मानदरूपी अमृतका पान करना है। पर्याय अपेक्षा कर्मोदयवश मुझे मन, वचन, कायकी क्रिया करनी पड़ती है, गृहस्थ या साधुके चारित्रको पालना पड़ता है। तब भी मैं तीव्र कर्मोदयसे प्राप्त बाधाओंको शातिसे सहन करता हू और जलमें कमलके समान अलिप्त रहते हुए अपने भीतर सुखसागरका आनद लेता हुआ रहता हू।

१६१–तृणस्पर्श–परिषहजय ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारको रोकनेका विचार कर रहा है। शिव कन्याका वरण वही वीर साहसी पुरुष कर सक्ता है जो शुद्धोपयोगका उपासक हो और भावलिंगके समान यथाजात रूप निर्ग्रंथ द्रव्यलिंगका धारी हो, जिसने शरीरका ममत्व पूर्णपने त्याग दिया हो, जो जैन सिद्धान्तानुकूल १३ प्रकारके चारित्रका पालक हो, जो सदैव वर्षाकालके सिवाय भिन्न स्थानोंमें विहार करके ध्यानका अभ्यास करता हो, ऐसे साधु जगलोंमें भ्रमण करते हैं। वहा झाड़ियोंके कठोर पत्थरोंके तीक्ष्ण काटोंके स्पर्श होनेसे वेदना प्राप्त होती है तब तृणस्पर्श परिषहका उदय हो जाता है। उस बाधाको वे साधु समभावसे सहन करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते है कि मैं अमूर्तीक, शुद्धात्मा हू, शरीरादिकसे रहित हू, ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि शुद्ध गुणोंका स्वामी हू। मैं निरतर अपनी शुद्ध ज्ञान चेतनाकी भूमिमें विहार करता हू। वहा रागद्वेषादिके कण्टकोंका स्पर्श नहीं होता है। मैं परमशातिसे अपनी स्वानुभूति रमणीमें रमण करता रहता हू।

मुझे तृणस्पर्शकी कोई सम्भावना नहीं है। ऐसा विचारकर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ जाते हैं और निश्चल होकर निश्चय-रत्नत्रयमें स्थिर होकर परम साम्यरसका पान करते हैं तब शरीरकी बाधाका विकल्प नहीं होता है। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्त भावमें आजाते हैं तब वैराग्य भावना भाते हैं। वे विचारते हैं कि मैंने स्पर्श इन्द्रियका पूर्णपने विजय किया है। मुझे कठोर स्पर्शका व कोमल स्पर्शका ज्ञान एक समान होना चाहिये। मैंने अनादि भव-भ्रमणमें अनकवार ऐसे पशु व मानवोंके जन्म धारण किये हैं और तब महान् कठोर पदार्थोंके स्पर्शकी बाधा सही है। उसके मुकाबलेमें यह स्पर्श अति तुच्छ है, मुझे समभावसे सहन करना चाहिये, ऐसा विचारकर तृणस्पर्श परिषहको जीतते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी साधु ऐसी परिषहोंको जीतनमें असमर्थ होकर वाहनोंपर चढते हैं। मृग-छाला आदि कोमल वस्तुओंको बिछाते हैं।

शरीरके सुखियापनमें मग्न रहते हैं, वे वैराग्यभावसे अत्यन्त दूर रहते हुए यथार्थ आत्मतत्वका लाभ नहीं कर सकते हैं। व कभी आत्मस्वातन्त्र्यको नहीं पा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव परमतत्वके प्रेमी होकर भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सर्व परद्रव्योंसे, अन्य आत्माओंसे, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल द्रव्योंसे व कर्मजनित रागादि भावोंसे व सर्व औपाधिक पर्यायोंसे भिन्न अनुभव करते हैं। स्वतंत्रता उनका ध्येय होजाता है। कर्मउदयके कार्यको नाटकके समान देखते हैं। उनमें आशक्त नहीं होते हैं। ऐसे ज्ञानी वीर गृहस्थ हों या साधु, जलमें कमलवत् संसारमें रहते हैं और अपनी दृष्टि स्वात्मतत्वपर

रखते हुए आत्मानंदका स्वाद लेते हैं। वे पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होते हैं। अतीन्द्रिय निजानन्दके प्रेमी होते हैं। व शुद्ध निश्चयनयपर सदा दृष्टि रखते हैं। और दुःख सुखमें समभाव रखते हुये निराकुलताका अभ्यास करते हैं।

१६२-मल परीषह-सहनभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंको रोकनेका विचार कर रहा है। स्वतंत्रताका लाभ उसी वीर आत्माको हो सक्ता है जो तीर्थंकरोंकी भांति शुद्धोपयोगका अभ्यास करता हो। व उसीके लिए निमित्त कारण यथाजातरूप नग्न दिगम्बर भेषका धारी हो। और एकान्त स्थानमें तिष्ठकर ध्यानका अभ्यास करता हो। जो साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंका धारक हो। पूर्ण अहिंसाव्रतके लिये जो स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करता हो। जलकायिक जीवोंकी हिंसा न हो, व त्रस जीवोंका भी घात न हो, इसलिये वे साधु स्नान मात्रके त्यागी होते हैं। गर्म ऋतुके कारण पसीना आनेसे शरीर पर रज जमता है तब शरीर मलीन दिखता है, उस समय कदाचित् उस साधुको अपने पूर्वके सुन्दर रूपके स्मरणसे मनमें सवल्प होजाय कि मेरा शरीर मैला है तो साधुको मल परिषहका उदय हो जाता है। इस भावको वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं हूं शुद्ध अमूर्तीक आत्मा हूं, परमानंदमय परम सुन्दर हूं। मेरेमें राग द्वेषादि व ज्ञानावरणादि कर्मकी कोई मलीनता नहीं है। मैं सदा शुद्ध भावमें रमण करता हूं। और निराकुलतासे अपने ज्ञानामृतका पान करता हूं।

ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ जाते हैं और निर्विकल्प होकर आत्म–समाधिमें लीन होजाते है । तब मल परिषहका सकल्प नहीं होता । अन्तर्मुहूर्त पीछे वे प्रमत्त भावमें आजाते हैं, तब वैराग्य भावना भाते हैं कि यह शरीर पुद्गलमय है, परिणमन शील है, इसको स्वच्छ व मलीन देखकर रागद्वेष करना अज्ञान है, मैं श्रमण हू ।

मुझे लाभ हानि, सुवर्ण काच, शत्रु मित्र आदिमें समभाव रखना चाहिए । शरीरकी मलीनता देखकर परिणामोंको मलीन नहीं करना चाहिए । यह शरीर भीतर महा अपवित्र है । मलका घडा है । नव द्वारोंसे व रोम छिद्रोंसे निरन्तर मल ही बाहर बहता है । शरीरका मोह ही बहिरात्मा होना है । मैं अन्तर आत्मा हू । मुझे शरीरमें कुछ भी राग नहीं रखना चाहिए । केवल सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमें, रत्नत्रय धर्ममें ही राग रखना चाहिए । इस तरह विचार कर मल परीषहको जीतते हैं । और सवर भावमें दृढ रहते हैं । मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसी इस रहस्यको न समझकर शरीरकी चिन्तामें रागी होते हैं, नित्य स्नान करते हैं । वे अहिंसा आदि महाव्रतोंको न पाल सकनेके कारण मोक्षमार्गके पथिक नहीं हो सकते । सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हों या साधु सदा ही स्वतन्त्रता पर दृष्टि रखते हैं । कर्मके उदयवश ससारमें रहते हुए भी ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं । शुभ अशुभ कर्मोके उदयमें समभाव रखते हैं, वे अवश्य अपनी स्वतन्त्रताको प्राप्त करेंगे । वे सदा ही आत्मरसका पान करते हुए आनन्दका लाभ करते हैं ।

१६३-सत्कार पुरस्कार परिषह जय।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके लिए कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारको रोकनेका विचार कर रहा है। मोक्षकी प्राप्ति उन्हीं वीर पुरुषोंको होसक्ती है जो भलेप्रकार रागद्वेष त्याग कर शुद्धोपयोगका अभ्यास करते हैं। निर्ग्रन्थ जैन साधु असंगभावसे एकान्त स्थानमें विहार करके ध्यानाभ्यास करते हैं। ऐसे साधु शास्त्रके ज्ञाता होते हुए मोक्षमार्गका मण्डन व कुमार्गका खण्डन करते हैं। अपने भाषणोंसे धर्मकी प्रभावना करते हैं। भलेप्रकार बारह तपका अभ्यास करते हैं। ऐसा होनेपर किन्हीं साधुओंकी बहुत पूजा व प्रतिष्ठा होती है, तब मान भावका विकार चित्तमें आसक्ता है अथवा बहुत प्रवीण तपस्वी होनेपर भी व जगतमें धर्मकी प्रभावना करनेपर भी कदाचित् जनसमुदाय उनका आदर नहीं करता है, किन्तु अज्ञानीजन उनका निरादर व तिरस्कार करते हैं, तब ऐसा भाव आजाता है कि मैं इतना बड़ा होनेपर भी प्रतिष्ठा नहीं पाता हूं। इस तरह चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे सत्कार पुरस्कार परिषहका उदय होजाता है, जो समभावी मुनिके नहीं होनी चाहिए। ऐसी अवस्थामें धीर वीर साधु इसको जीतनेका प्रयत्न करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं शुद्धात्मा हूं। पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणोंका स्वामी हूं। मैं सदा ही अपने स्वरूपमें रमण करता हूं। मेरा सम्बन्ध किसी भी अन्य आत्मासे नहीं होता है। न मेरेमें मान कषायका उदय है, जिससे प्रतिष्ठाकी हो। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्तभावमें चढ जाते हैं। निर्विकल्प होकर आत्मसंवेदन करते हैं।

तब वहां इस परिग्रहका विकल्प भी नहीं रहता है। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्त भावमें आते हैं तब ज्ञान भावनासे विचारते हैं कि मैंने कषायोंके जीतनेके लिये ही यतिपद धारण किया है। मुझे मान अपमानमें समान भाव रखना चाहिये। मुझे निरपेक्ष जैनधर्मकी सेवा करनी चाहिये। शासनके प्रचारका प्रेमी होना चाहिए। इस तरह विचार कर इस परिग्रहको विजय करते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी त्यागी तप साधन करते हुए मानके भूखे होते हैं। प्रतिष्ठा पानेपर उन्मत्त होजाते हैं। अप्रतिष्ठा होनेपर क्रोधित होजाते हैं व नानाप्रकार दुर्वचन व अहित करने लगते हैं, व कभी आत्म स्वातंत्र्यका लाभ नहीं कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव स्वतंत्रताके प्रेमी होते हुए उसीकी ओर दृष्टि रखते हैं और मन, वचन, कायको सर्व संसारी प्रपंचोंसे रोककर अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माका मनन करते हैं, तथा स्वात्मानंदका पान करते हैं। वे ज्ञानी सदा अपनेको रागादि भावोंका, ज्ञानावरणादि कर्मोंका, व शरीरादिक व जगतके कार्योंका अकर्ता तथा सांसारिक क्षणभंगुर सुखोंका अभोक्ता मानते हैं। वे निज शुद्ध परिणतिका कर्ता, व निजानंदका भोक्ता अपनेको मानते हैं। गृहस्थ होते हुए भी जलमें कमलवत् रहते हैं और कषायोंके जीतनेके लिये भेदविज्ञानके द्वारा आत्मानुभवका अभ्यास करते हैं और परम शांतिका लाभ करते हैं।

१६४–प्रज्ञा परिषह–सगर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता निरोधक कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। स्वतन्त्रताका लाभ करनेवाला वही जैन श्रमण

होसक्ता है जो भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्गसे विभूषित हो । कषायोंका उपशम होकर शुद्ध भावमें रमण करना भावलिङ्ग है । बालकके समान यथाजात नग्न रूप रखना द्रव्यलिङ्ग है । ऐसे साधु रत्नत्रयकी भावनाके लिये अनेक शास्त्रोंके पारगामी होते हैं। न्याय व्याकरण ज्योतिष आदि विद्याओंमें निपुण होते हैं । द्वादशाङ्गवाणीका भी आंशिक ज्ञान प्राप्त करते हैं । ज्ञानावरण कर्मके उदयसे पूर्ण यथार्थ ज्ञान नहीं होता है । तब कदाचित् ऐसा भाव होजाता है कि मैं सूर्यके समान परम विद्वान और तेजस्वी हूं । मेरे सामने दूसरे विद्वान टिक नहीं सक्ते । इस प्रकार प्रज्ञा परिषहका उदय होजाता है । तब वह ज्ञानी उसी समय परिणामोंको सम्हाल करते हैं । और इसको जीतनेका प्रयत्न करते हैं । प्रथम तो वह निश्चय नयसे विचारते हैं कि मैं पूर्ण अखण्ड अक्रिय ज्ञानका भण्डार हूं । लोकालोकका ज्ञाता हूं। परम वीतराग और निश्चल हूं । परमानन्द मय परम निराकुल और कृतकृत्य हूं । मैं निरन्तर ज्ञान चेतनामय रमण करनेवाला हूं । परम समताभावका धारी हूं, मेरमें प्रज्ञा परिषहका उदय नहीं हो सकता । ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें चढ़कर निर्विकल्प होजाते हैं । और स्वानुभवमें मग्न होकर आनन्दामृतका पान करते हैं ।

अन्तर्मुहूर्तके पीछे प्रमत्तभावमें आजाते हैं तब विचारते हैं कि ज्ञानका अहंकार करना मूढ़ता है । जबतक मेरेको पूर्ण ज्ञान न हो तबतक ही समताभावसे शास्त्रोंका मनन करना चाहिये। ज्ञानके मतापसे कषायोंको जीतना चाहिये । इस समय विचार करके प्रज्ञा परि- ... विजय मोक्षमार्गी जैन साधु ही कर सकते हैं । अज्ञानी

मिथ्यादृष्टी तपस्वी विद्यासम्पन्न व अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता होकर अपने ज्ञानका महान् अभिमान करते हैं। किसी एकांत पक्षको पकड़कर उसकी पुष्टि करते हैं। कुयुक्तियोंसे सत्यका खण्डन करते हैं। इसी ज्ञानके विकारसे समताभावको प्राप्त नहीं कर सकते, मोक्षमार्गसे बहुत दूर होते जाते हैं। जबतक स्याद्वादरूप (सिद्धांत) से वस्तुओंका स्वरूप न समझा जायगा तबतक समदृष्टि नहीं आसक्ती है। और श्रद्धान निर्मल नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर तत्वोंका मनन करते हुए यह विचारते रहते हैं कि मेरा आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके सम्बन्धसे संसारमें भ्रमण कर रहा है, जन्म जरा मरणके दुःखोंको भोग रहा है।

मिथ्यात्व भावके कारण अपने स्वरूपको भूल रहा है। कर्मोंके उदयसे जो अशुद्ध भाव होते हैं उन्हीं रूप अपनेको मान रहा है। मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं परोपकारी, मैं पर अपकारी, मैं तपस्वी, मैं ज्ञानी, मैं धर्मात्मा, इस अहंकारमें फसा रहता है। कर्मोंके उदयसे जो बाहरी संयोग होते हैं उनको अपना मान लेता है। इस तरह अहंकार ममकार करते हुए व इन्द्रिय सुखमें तृषातुर रहते हुए संसारका अन्त नहीं आता है। अब मैंने जिनवाणीके प्रतापसे अपने आत्म-स्वरूपको यथार्थ पहिचान लिया है कि यह सिद्धोंकी जाति रखता है। यह परम सुखी है व निराकुल है। मेरा कर्तव्य है कि मैं स्वानुभवके पुरुषार्थसे वीतराग भावको बढ़ाता रहूं जिससे कर्मोंका संवर होता जाय और निर्जरा बढ़ती जाय, तब मैं अवश्य ही सर्व कर्मोंसे रहित होकर अपने निज पदको प्राप्त करूंगा और सदाके लिए स्वतंत्र होजाऊंगा

१६५–अज्ञान परीषह जय ।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतन्त्रताके लाभ हेतु उसके बाधक कर्म शत्रुओंके आगमनके द्वारके रोकनेका विचार कर रहा है। स्वतन्त्रताका लाभ वे ही महात्मा कर सक्ते हैं, जो भेदविज्ञानके द्वारा आत्मज्ञानी व आत्मानुभवी हों, जिनको निंदक प्रशंसकपर समभाव हो। ज्ञानावरणीका क्षयोपशम किन्हीं जैन साधुओंको बहुत कम होता है, इससे उनको श्रुतज्ञान व अवधिज्ञानका विशेष लाभ नहीं होता अथवा उनको अल्पज्ञ देखकर दूसरे लोग "अज्ञानी मुनि हैं" ऐसा आक्षेप करते हैं इत्यादि कारणोंसे अज्ञान परीषहका उदय होजाता है तब वे महात्मा सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे इसका विजय करते हैं। प्रथम तो वह निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं सदा ही पूर्ण ज्ञानी हूं, अज्ञानका अंश भी मेरेमें नहीं है, मैं परम वीतरागताके साथ सर्व द्रव्योंको यथार्थ जानता हुआ रागद्वेष रहित रहता हूं और ज्ञानचेतनाके अनुभवमें लीन हो आत्मीक आनन्दका सदा पान करता हूं, इस तरह विचारकर व अप्रमत्त भावमें चढ़ जाते हैं और आत्मस्थ हो शुद्ध ज्ञानरसका पान करते हैं। अंतर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्त भावमें आते हैं तब वह विचारते हैं कि सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण है, अल्पज्ञान व विशेष ज्ञान नहीं। यदि मुझे शास्त्रका ज्ञान भेदज्ञानपूर्वक थोड़ा भी है तो कार्यकारी है, विशेष ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके ऊपर निर्भर रहता है। यदि मुझे अज्ञान है तो इसका खेद नहीं करना चाहिये।

मुझे दूसरेके वाक्योंको इस भावसे सहना चाहिए–जो आत्मज्ञान केवलज्ञानका कारण है, वह मुझे प्राप्त है, इससे मैं यथार्थ ज्ञानी हूं,

मुझे अज्ञानका कोई विकल्प नहीं करना चाहिये। इस तरह समभावसे वे महात्मा अज्ञान परीषहको विजय करते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी ज्ञानकी कमी होनेपर खेद करते हैं या अनेक प्रकार सिद्धिको चाहते हैं या दूसरोंके द्वारा अज्ञानी कहे जानेपर कार्य करते हैं, इसी लिये वे मोक्षमार्गके सच्चे पथिक नहीं होसकते।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानकी लब्धिको ही ज्ञान समझते हैं। उनको विश्वास है कि यदि मैंने आत्मतत्वको परद्रव्योंके सम्बन्धसे रहित शुद्धबुद्ध ज्ञातादृष्टा परमानन्दमय और वीतरागी पहिचान लिया है, और मेरे भीतर जगतके प्रपंच-जालोंसे या किन्हीं भी परपदार्थोंसे रागद्वेष नहीं है तो मुझे यथार्थ ज्ञान है। विशेष शास्त्रज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, मोक्षमार्गमें मुख्य कारणभूत नहीं है। तब ये ज्ञान कम हो या अधिक, मुझे समभाव रखना चाहिये। ऐसा सत्य ज्ञान रखते हुए सम्यग्दृष्टि अपने आत्मज्ञानमें सन्तोषी रहते हैं, तभी तो पशु-पक्षी, नारकी आदि भी सम्यग्दृष्टि होसकते हैं। अपने स्वरूपकी पहिचान व उसकी अनुभूति ही सम्यग्दृष्टि है, यही स्वात्मानुभूति है; सीधी सड़क है जो मोक्षपथिकको मोक्षमहलमें ले जाती है। इसके बिना ११ अंगका ज्ञान भी हो तोभी वह अज्ञान है, मोक्षमार्ग नहीं है। मैंने आत्मज्ञानके रसपान करनेकी कलाको पा लिया है। स्वतंत्रता मेरा आत्मीक हक है, ऐसा ज्ञान सम्यक्त्वीको सदा ही संतुष्ट रखता है।

१६६-अदर्शन परीषह-समभाव।

ज्ञानी जीव स्वातंत्र्यके लाभके लिये कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारके रोकनेका उपाय कर रहा है। यह जीव अनादि संसारमें मोहसे

प्रसीभूत पाप पुण्यके आधीन होकर परतत्र होरहा है। इस परतत्रताका नाश वही महात्मा कर सक्ता है, जो निर्मोही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होकर चारित्र पालनमें उद्यवत हो। निश्चय चारित्र स्वात्मानुभव रूप है, इमीको धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं। इसका बाह्य निमित्त निर्ग्रंथ जैन साधुका चारित्र है, जहां बालकके समान नग्न रहकर बाईस परिषहोंका विजय किया जाव। अन्तिम परीषह अदर्शन है। किन्हीं जैन साधुओंके भीतर ऐसा विकल्प उठ सकता है कि मैंने दीर्घकालसे वैराग्यकी भावना की है, सकल शास्त्रका मैं ज्ञाता हूं देव शास्त्र गुरुका भक्त हूं, बहुत बड़ी तपस्या करता हूं, महान् महान् उपवास करता हूं, तो भी मेरे भीतर कोई अतिशय चमत्कार उत्पन्न नहीं हुए। सुनते हैं कि 'साधुओं' को बड़े मातिशय व ऋद्धियां सिद्धियां होजाती हैं। क्या य कथन प्रलाप मात्र ही हैं? इस तरह मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे अदर्शन परीषहका उदय होजाता है। उसी समयमें साधु निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं एक अखंड असग आत्मा हूं। पूर्ण वीर्य, सुख, दर्शन, ज्ञानका धनी हूं।

परम अमूर्तीक अविनाशी सिद्धके समान शुद्ध हूं। सम्पूर्ण आत्मलाभ मुझे प्राप्त है, मेरेमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी पूर्णता है। मुझे कोई रिद्धिसिद्धि प्राप्त नहीं करनी है ऐसा विचार कर व सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाते हैं, और थोड़ी देरके लिये बिल्कुल आत्मस्थ होकर निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वाद लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्त भावमें आ जाते हैं तब विचारते हैं कि किसी चमत्कार रिद्धिसिद्धिका पाना तपस्याका हेतु नहीं है, ये सब बातें विशेष

पुण्योदयसे होजाती हैं। मोक्षमार्गका साधन स्वानुभवके लिये करना चाहिये, किसी और बातका लोभ करना मूर्खता है। इस तरह तत्वका मनन कर वे मिथ्यात्वके उदयको जीत लेते हैं। मिथ्यादृष्टि साधु मोक्ष व मोक्षमार्गके स्वरूपको ठीक न पाकर बहुधा चमत्कारोंके लिये ही तप करते हैं। कोई अतिशय दिखाकर भक्तोंसे पूजा कराते हैं। जितनी अधिक मान्यता होती है उतने अधिक प्रसन्न होते हैं, और समझते हैं कि हमने महान तप किया है। ऐसे कषायवान जीव निर्वाणके सच्चे पथिक नहीं होसक्ते। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनकी दृढ़तामें सांसारिक किसी भी पदार्थकी कामना नहीं करते हैं। वर्तमान भोगसामग्रीसे भी उदास रहते हैं, आगामीकी वांछा नहीं करते हैं, वे केवल स्वात्मानंदके ही उन्मुख रहते हैं। धर्मसाधन करते हुए कोई विशेष चमत्कार या अतिशय प्रगट होजाय तो उसको लाभ नहीं समझते। यदि कोई भी चमत्कार नहीं प्रगट हो तो खेद नहीं मानते। ऐसे ही ज्ञानी जीव सम्यक्त्वकी दृढ़तासे आत्मसुखका वेदन करते हुये परमशांतिलाभ करते हैं।

१६७–सामायिक चारित्र–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके निरोधके भावोंका विचार कररहा है। ५ प्रकार चारित्रमें सामायिक बहुत उपयोगी है। निर्ग्रंथ साधुओंका पद परम कर्तव्य है। समय आत्माको कहते हैं। आत्मा सम्बन्धी भावको सामायिक कहते हैं। जहां केवल मात्र अभेद एक शुद्ध आत्मा लक्ष्य हो वहीं सामायिक है, जहां गुण गुणीके भेद नहीं रहते हैं, ध्याता, ध्यान, ध्येयके भेद नहीं रहते हैं, स्वपरकी चिंता नहीं रहती है।

पमाण नय निक्षेपका विकल्प नहीं रहता वहीं सामायिक है। इसीको शुद्धात्मानुभव कहते हैं, स्वस्वरूप कहते हैं, वीतराग चारित्र कहते हैं, परम समभाव कहते हैं। सामायिक चारित्रमें लीन मुनि ६ से ९ वें गुणस्थान तक बन्ध योग्य प्रकृतियोंको संवर करते हैं। निश्चयसे सामायिक एक आत्मीक भाव है। व्यवहारसे विचार किया जाय तो सामायिक चारित्रका धारी साधु दुःख सुखमें, शत्रु मित्रमें, कंचन काचमें, स्मशान महलमें समभाव रखता है। वह जगतके शुभ अशुभ व्यवहारको नाटकके समान देखता है। जैसे नाटकमें खेलनेवाले पात्र कभी हंसते हैं, कभी रोते हैं, कभी दुखी कभी सुखी होते हैं, देखने वाले मात्र देख लेते हैं, उन रूप परिणमन नहीं करते।

इसी तरह सामायिक चारित्रधारी मुनि अपने कर्मोंके शुभ अशुभ उदयमें, सुख दुःखमें व नानाप्रकार अपने शरीरके परिणमनमें समभाव रखता है। गृहस्थोंके द्वारा उद्दिष्ट रहित जैसा कुछ सरस, नीरस, आहार मिल जाय उनमें समभाव रखता है। जगत्के साथ व्यवहार करते हुये कभी प्रशंसाके कभी निंदाके वचन सुनने पड़ते हैं, तब भी वह साधु समभाव रखता है। मुनिगण परस्पर धर्मचर्चा करते हैं, तत्वोंका मनन करते हैं, अनेक दर्शनोंका विचार करते हैं, तो भी वस्तुस्वरूपको समझकर समभावका ध्यान रखते हैं। कभी२ जैन साधु अन्य मतके विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करते हैं, घण्टों वाद विवाद करते हैं, तो भी समभावको कभी नहीं त्यागते। उस समय व्यवहार और निश्चय दोनों अपेक्षाओंसे सामायिक चारित्रको पालते हैं। सामायिक एक मनोहर उपवन है उसमें प्रवेश कर साधुगण विश्रांति लेते हैं। जैसे मनुष्य

उपवनमें नाना प्रकारके वृक्षोंके फलफूल व पत्तोंपर दृष्टि देते हुये भ्रमण करते हैं उसी प्रकार जैन साधु भी आत्माके अनेक गुण व पर्यायोंका विचार करके आनंद लेते हैं। सामायिक पवित्र गंगाजल है। इसमें अवगाहन कर साधुजन भाव कर्ममलको धोते हैं और आत्मानंदरूपी मिष्ट जलको पान कर परम पुष्टि पाते हैं। सामायिक शान्तिका युद्धक्षेत्र है जहां पर तिष्ठकर कषायरहित शान्त शस्त्रोंसे कर्मोंका संहार किया जाता है। इसीके बलसे मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय होता है। आपसे आपमें आपके लिये आपमेंसे आपको आप ही अनुभव करना सामायिक है। वे स्वयं स्वतंत्ररूप हैं इसीलिये स्वतन्त्रताका साधक यह उपाय है।

१६८-छेदोपस्थापना चारित्र-मननभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके रोकनेका विचार कर रहा है। मोक्षमार्गी वही निर्ग्रंथ साधु होसक्ता है जो शुद्धोपयोगमें लीन हो, निश्चिन्त होकर आत्मानुभव करता हो। यही सामायिक चारित्र है। यह अभेद रूप एक है। यहां मन, वचन, कायका सकम्प नहीं है सो इस सामायिक चारित्रसे छूटना छेद है सो भेद रूप चारित्र है। वह २८ मूलगुणरूप है अर्थात अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह इस प्रकार पाच महाव्रत। ईर्या (भूमि देखकर चलना), भाषा (शुद्ध वचन बोलना), एषणा (शुद्ध भोजन करना), आदाननिक्षेपण (देखकर रखना उठाना), व्युत्सर्ग (मल मूत्र देखकर करना) यह पांच समिति है। पाच इन्द्रियोंका निरोध, प्रतिक्रमण (पिछले दोषोंका त्याग), प्रत्याख्यान (आगामी दोष न

करनाओ भावना) स्तुति, वंदना, सामायिक, कायोत्सर्ग ऐसे छ आव श्यक। सात मूलगुण यह हैं—१ केशलोंच, २ स्नानत्याग, ३ दंतवन-त्याग ४ एक दफा भोजन, ५ खड़े होकर भोजन करना, ६ भूमि-शयन, ७ वस्त्र त्याग। इस प्रकार भेदरूप चारित्र पालना छेद है।

इसके द्वारा सामायिक चारित्रमें स्थिर होजाना छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा मन वचन, कायद्वारा वर्तन करते हुए प्रमादसे जो दोष हो जावें उनको दूर करना छेदोपस्थापना है। अथवा पुन दीक्षा लेना छेदोपस्थापना है। इस तरह जैन साधु इस चारित्रको पालते हुए अपनी दृष्टि अपने शुद्ध आत्मापर रखते हैं। उनका ध्येय एक आत्मरमण होता है। यही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्रकी एकता होती है। यही वह निर्मल शांत रससे पूर्ण जल है जिसका व पान करते हैं और आत्माको पुष्ट बनाते हैं। यही वह सरल मार्ग है जो मोक्ष–महलतक चला गया है। इसमें कोई वक्रता नहीं है। यह सहज समाधिरूप है। यही वह आसन है जिसपर साधुलोग बैठकर विश्राम करते हैं। यही वह मिष्टान्न है जिसका वह भोजन करते हैं। यही भावश्रुत है जिसका वे पाठ करते हैं, सवरका कारण है। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र छठेसे नवें गुणस्थान तक होता है। यही स्वतन्त्रता पानका सरल उपाय है।

१६९–परिहारविशुद्धि चारित्र–समभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। मोक्ष आत्माका शुद्ध स्वभाव है। संसारी जीव पाप पुण्य

कर्मके सम्बन्धसे परतन्त्र हो रहे हैं। इस परतन्त्रताका सर्वथा नाश वे ही निर्ग्रंथ साधु कर सक्ते हैं जो शुद्धोपयोगके उपवनमें रमण करते हैं। क्योंकि सबके लिये पांच प्रकारके चारित्रको पालते हैं। तीसरा चारित्र परिहारविशुद्धि है। यह विशेष चारित्र है। इसको वो ही महात्मा प्राप्त कर सकता है जिसने तीस वर्ष तक सातामें बिताये हों। फिर मुनि हो तीर्थंकरकी सगतिमें आठ वर्ष खर्च किये हों। और प्रत्याख्यान पूर्वको पढा हो। इस चारित्रके प्रतापसे विशेष हिंसाका त्याग होता है और साधुको विशेष शुद्धि प्राप्त होती है। यह छठे व सातवें गुणस्थानमें होता है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो *जहां सर्व परभावोंका परिहार या त्याग है तथा आत्माके* शुद्ध स्वभावमें निवास है वहीं परिहारविशुद्धि है।

वास्तवमें देखा जाय तो चारित्र एक ही प्रकारका है और वह आत्मरमण है, स्वसमय है, स्वसंवेदन ज्ञान है, स्वात्मानुभव है अपना ही विलास है। स्वतन्त्रताके अधिकारी ही सम्यग्दृष्टी होते हैं। जो स्वपर तत्वके यथार्थ ज्ञाता हैं जो सर्व सपा को हेय समझते हैं, जिनको विश्वास है कि सच्चा सुख अतीन्द्रिय आत्माका स्वभाव है, जो आत्माको सर्व अन्य आत्माओंसे, सर्व पुद्गलोंसे, धर्म अधर्म, आकाश, काल, द्रव्योंसे तथा अपने भीतर अनादिकालसे पाये जानेवाले ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे रागादि विभावोंसे शरीरादि नोकर्मोंसे भिन्न जानते हैं जिनको आत्मीक तत्वमें रञ्चमात्र शङ्का नहीं है, जिनके भीतर स्वतत्रता सिवाय किसी चाहकी कांक्षा नहीं है, जो वस्तुस्वभावको विचारते हुए किसीसे ग्लानि नहीं करते हैं। जिनके भीतर रञ्चमात्र मूढ़ता नहीं है, जो अपने

गुणोंकी वृद्धि करते रहते हैं, जो अपने स्वरूपमें स्थिरता रखते हैं; जो सर्व आत्माओंको सिद्धके समान शुद्ध जानकर शुद्ध प्रेम रखते हैं जो आत्मीक प्रभावनामें दत्तचित्त हैं, ऐसे ही ज्ञानी जीव अमरतत्त्वको पाते हुए अपने शांत स्वरूपमें मग्न हुए आत्मानंदका भोग करते हैं।

१७०-सूक्ष्म साम्पराय चारित्र, संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। यद्यपि स्वतन्त्रता आत्माका स्वभाव है तथापि अनादिकालसे संसारमें पाप पुण्य कर्मोंके संयोगसे यह आत्मा राग द्वेष मोहके वशी भूत होकर परतन्त्र होरहा है। इसके मेटनेका उपाय वास्तवमें आत्म स्वतन्त्रताका श्रद्धान ज्ञान व चारित्र है। निर्ग्रन्थ जैन साधु चारित्रका पालन करते हैं। मुख्य चारित्र सामायिक है। इसके द्वारा नौवें गुणस्थान तक सेवा करते हुए दसवें गुणस्थानमें पहुंच जाते हैं। वहां सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र होता है। यह चारित्र निर्मलतामें कुछ ही कम है। जैसे रंगीन वस्त्रको धोते हुए सफेदीमें कुछ रंगका असर रह जाता है वैसे ही वीतराग चारित्रमें सूक्ष्म लोभका कुछ असर है। इस चारित्रको पालते हुए साधु प्रथम शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका नाम पृथक्त्ववितर्क-वीचार है। यहां अबुद्धिपूर्वक एक योगसे दूसरा योग, एक शब्दसे दूसरा शब्द, एक ध्येय पदार्थसे दूसरा ध्येय पलट जाता है तौ भी साधु शुद्धोपयोगमें रमते रहते हैं और अपनी आत्माको शुद्ध बुद्ध वीतराग परमानंदमय ध्याते हैं। वीतरागताके प्रभावसे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता अपने ही पास है तौ भी

इसका लाभ बहुत दुर्लभ है। जिनेन्द्रकी आज्ञा प्रमाण चलनेवाले निर्ग्रन्थ साधु ही इसे प्राप्त कर सक्ते हैं।

एक तमतके धारी मिथ्यादृष्टी तपस्वी जो निर्ग्रंथ मार्गसे बाहर शिथिलाचार प्रवर्तते हैं वे इसका लाभ नहीं कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव गृहस्थ हों या साधु स्वतन्त्रताके हकदार हैं, क्योंकि उन्होंने भलेप्रकार श्रद्धान कर लिया है कि संसारकी दशा त्यागनयोग्य है। इन्द्रियोंके विषयोंसे कभी तृप्ति नहीं होती है। इन्द्रादिक पद शांतिदायक नहीं है। सच्ची सुख शांति अपने आत्माके भीतर ही है। कर्मके उदयमें कभी निराकुलता नहीं हो सक्ती। जगतमें पदार्थोंका संयोग धूप छायाके समान क्षणभंगुर है। पुद्गलका संबंध जीवके साथ हितकारी नहीं है। परम सुखी सिद्ध भगवान ही हैं, जिनका संयोग पुद्गलसे व पुद्गलकृत विकारोंसे बिलकुल नहीं है। ऐसे ज्ञानी जीव आत्मरमणतामें रहकर परम सुख शांतिका लाभ करते हैं।

१७१–यथाख्यात चारित्र–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। स्वतन्त्रताको वही प्राप्त कर सकता है जो शुद्धोपयोगका अभ्यासी हो और गुणस्थानोंके क्रमसे उन्नति करे। चारित्र स्वभावको कहते हैं। चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे यह स्वभाव राग द्वेषमें परिणत होजाता है पांचवां चारित्र 'यथाख्यात' है जिसका अर्थ यह है कि वह चारित्र जैसा चाहिये वैसा है, राग द्वेषसे युक्त नहीं है। इस चारित्रका लाभ उपशम श्रेणीसे चढ़नेवाले साधुको

उपशांत मोह ११ वें गुणस्थानमें होता है। वहां पहला शुक्लध्यान है। क्षपकश्रेणीसे चढ़नेवाले साधुको भी १२ वें क्षीण मोह गुणस्थानमें इस चारित्रका लाभ होता है। यहां पहला और दूसरा शुक्लध्यान है। फिर यह चारित्र छूटता नहीं है। १३ वें गुणस्थानमें भी रहता है। वहां केवल सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। १४ वें गुणस्थानमें भी यही रहता है। वहां पूर्ण संवर हो जाता है। १३ वें गुणस्थानके अन्तमें तीसरा शुक्लध्यान होता है। १४ वेंमें चौथा शुक्लध्यान होता है, उसके प्रतापसे यह जीव सब कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाता है।

सिद्ध भगवानमें भी यह चारित्र सदा बना रहता है। आत्माका आत्मामें लीन रहना चारित्र है। जगतभरके पदार्थोंको गुणपर्यायोंको जानते हुए भी उनमें राग द्वेष नहीं होता है। यह इसी चारित्रका प्रताप है। इसीसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दका सदा उपभोग करता है। इस चारित्रकी जड़ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टी जीव चौथे गुणस्थानमें ही स्वरूपाचरण चारित्रको पालते हैं। वही चारित्र बढ़ता हुआ यथाख्यात होजाता है। इसके प्रतापसे कषायोंका रस जैसे २ सूख जाता है चारित्र बढ़ता जाता है और समभाव अधिक होता जाता है।

स्वतंत्रताके चाहनेवालेको अपने स्वतंत्र स्वभाव पर दृष्टि रखनी चाहिये। परतंत्रतासे असहयोग करना चाहिये। आप ही अपनेमें अपनेको स्वतंत्रता मिलती है। निर्ग्रन्थ जैन साधु ही इसको पा सकते हैं। परिग्रहधारी एकान्ती तापसी इसे नहीं पा सकते। यथाख्यात

चारित्र वीतरागताका समुद्र है, जिसमें संतजन निरंतर स्नान करते हैं और उसीके समरस जलका पान करते हैं।

१७२–अनशन तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके कारणोंका विचार कर चुका है, अब वह उन कर्मोंकी निर्जराका विचार करता है, जो आत्माकी सत्तामें विद्यमान हैं, जो उदयमें आकर अनिष्ट फल उत्पन्न करते हैं। वास्तवमें वीतराग विज्ञान भाव ही निर्जराका कारण है। यह भाव रत्नत्रयकी एकता रूप है। अपने ही आत्माका शुद्ध स्वरूप श्रद्धान ज्ञान व आचरणमय होना वीतराग विज्ञान है। यही निश्चय तप है। जैसे अग्निमें तपनेसे सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही वीतराग विज्ञानकी ध्यानमय अग्निमें तपनेसे आत्मा शुद्ध होता है। व्यवहार नयसे तपके १२ भेद हैं–प्रथम अनशन तप है जहां चार प्रकार आहारका त्याग होता है, तब साधु निश्चिन्त होकर वीतराग भावकी आराधना करते हैं। जहां कषाय आदि विभावोंका त्याग हो, आत्माको परकीय भावोंका भोजन न दिया जाय वही अनशन तप है। इस तपके तपनेवाले शुद्धोपयोगी निर्ग्रंथ जैन साधु होते हैं। अन्य मिथ्यादृष्टि तपस्वी इस तपकी आराधना नहीं कर सकते। इस तपकी जड सम्यक्दर्शन है, जिसमें व्यवहार नयसे जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंका श्रद्धान होता है, फिर भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसके द्वारा अपने आत्माको सर्व अन्यात्माओंसे, सर्व पुद्गलोंसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असंख्यात कालाणुओंसे तथा

क्षयोपशम प्राप्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोसे रागादिक भावकर्मोसे व शरीरादि नो कर्मोसे भिन्न जाना जाता है और अपने आत्माके शुद्ध दशा ज्ञान सुख वीर्य आदि गुणोंका मनन किया जाता है। इस मननके सतत प्रकाशसे सम्यग्दर्शनके विरोधी अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका उदय बंद होजाता है, तो एक अनिर्वचनीय अचिन्तनीय ज्योतिका प्रकाश होता है। इसको स्वानुभव कहते हैं। यह ही वह अमोघ शस्त्र है, जिससे कर्मोंका क्षय किया जाता है। सर्व प्रकारके तपकी जड़में सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि जीव निज पदका प्रेमी हो जाता है। शुद्ध अवस्था ही उसको सुखकारी भासती है। वह संसारके सर्व इन्द्रादि और चक्रवर्ती आदि पदोंसे उदासीन हो जाता है, पुण्यके उदयको धूप छायाके समान क्षणभंगुर जानता है। पुण्यके उदयमें रंजायमान होना, पुण्यके वियोगमें दुःखका कारण हो जाता है। इसलिये वह सम्यक्ती अशुभोपयोग, शुभोपयोग, पाप पुण्य, दुःख व सुख इन छहोंसे पूर्ण विरक्त हो जाता है। वह शुद्धोपयोगका ही प्रेमी होता है, जो अपनी शुद्ध अवस्थाम सिद्धगतिमें सदा बना रहता है। सम्यग्दृष्टी जीव शिव-कन्याका पूर्ण आसक्त हो जाता है। कषायके उदयसे व्यवहारमें वर्तन करते हुये भी वह उदास रहता है। संसारकी चेष्टाको नाटकके समान देखता है। ऐसे सम्यग्दृष्टी जैन साधु अनशन तप करते हुये यद्यपि विषयोंका भोजन नहीं करते हैं तौ भी आत्मानन्द रूपी अमृतका पान करते हैं और परम तृप्त रहते हैं।

१७२—ऊनोदर तप—निर्जरा भाव।

स्वतन्त्रता प्राप्तिका यत्न करनेवाला एक जैन साधु शुद्धोपयोगका साधन करता है, इसीके प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। बाहरी साधनोंमें ऊनोदर तपका अभ्यास करता है, जिसका भाव यह है कि भूखसे कम खाता है, जिसमें आलस्यका विजय हो, ध्यान स्वाध्यायमें विघ्न न आवे। वास्तवमें मोक्षमार्गका पथिक एक सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है जिसकी गाढ़ रुचि स्वरूप प्राप्तिकी होजाती है, जिसको पूर्ण विश्वास है कि मेरे आत्मामें कोई रागद्वेषादि विभाव नहीं हैं, न आठ कर्मोंका संयोग है, न शरीरादि नो कर्मोंका संयोग है। जब आत्माको कर्मके बंधमें देखा जाता है तो वहां सांसारिक सब अवस्थायें झलकती हैं, क्योंकि वे सब परकृत हैं इसलिये त्यागनेयोग्य हैं। सम्यक्ती जीव भेदविज्ञानकी कलासे विभूषित रहता होगा। ६ द्रव्यमई लोकमें भी सब द्रव्योंको अलग अलग देखता है। जगतके जीवोंमें उसको परमात्माका दर्शन होता है। वह भलेप्रकार जानता है कि यह संसार आठ कर्मोंका नाटक है, पुद्गलके संयोगसे ही नानाप्रकारकी विभाव पर्यायें होती हैं। वह इन सबसे उदास रहता है। सम्यक्ती बड़ा वीर होता है, कर्मोंके तीव्र उदयमें भी अपने स्वरूपको नहीं भूलता। उस सम्यक्त्वकी ही यह महिमा है जो चक्रवर्ती सरीखे बड़े२ सम्राट् राजपाट त्यागकर निर्ग्रंथ साधु होजाते हैं और ध्यानकी सिद्धिके लिये कठिन कठिन तप करते हैं।

ज्ञानी जीवोंके सविपाक निर्जरा भी ऐसी होती है, जो संसार कारणीभूत बंध नहीं करती। सम्यक्तीके परिणामोंसे जब २ स्वानुभव

होता है तब २ विशेष विशेष अविपाक निर्जरा होती है। जीव स्वभावका घातक मुख्य मोहनीय कर्म है। वीतरागताके प्रभावसे १० में सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक इसका सर्वथा नाश कर दिया जाता है। सम्यक्त्वके विना जितना तपादिक किया जाय वह मोक्षका साधन नहीं हो सकता। द्रव्यलिंगीमें ११ अङ्गके पाठी होते हैं तौभी सम्यक्त्वके विना भवसागरके पार नहीं जा सकते। सम्यक्त्व ही धर्मकी नौकाका खेवटिया है। धर्म वृक्षका बीज है, चारित्र महलकी नींव है। यही परम धन है जिसका भोग करते हुए मोक्षमार्गके पथिकको कभी कोई कष्ट नहीं होता है। वह ज्ञानामृतका पान करता है। शुद्ध भावरूपी अन्न भोग करता है। अतः परम सन्तोषी रहता है। स्वतन्त्रताके उद्योगी जैन साधु तपके बलसे परतन्त्रताको हटाते रहते हैं और स्वाधीनताको प्रकाश करते जाते हैं।

१७४-वृत्तिपरिसंख्यान-निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके लिये कर्म शत्रुओंके क्षयका उद्यम कर रहा है। शुद्धोपयोग ही कर्मक्षयका उपाय है, यही वास्तविक तप है। इसके साधनके लिये जैन निर्ग्रन्थ साधु वृत्तिपरिसंख्यान तपका अभ्यास करते हैं। जब भिक्षाके लिये जाते हैं तब कोई प्रतिज्ञा लेते हैं और प्रतिज्ञा पूरी होने पर ही आहार करते हैं। यदि प्रतिज्ञा पूरी नहीं होती है तो बड़ी शांतिसे उपवास करके ध्यानका अभ्यास करते हैं। व्यवहार ध्यानके साधन नीचे प्रकार हैं—

(१) स्थान निराकुल होना चाहिये, (२) समय योग्य होना

चाहिये, (३) किसी आसन पर बैठना चाहिये, (४) पद्मासन आदि कोई आसन लगाना चाहिये, ५) मनमें धर्म ध्यानके सिवाय और विषयको न आने देना चाहिये, (६) वचनमें ध्यान सबधी मंत्रोंके सिवाय और वार्तालाप न होना चाहिये, (७) शरीर शुद्ध और निश्चल रखना चाहिये। निश्चय ध्यानमें अपने आत्माके प्रदेश ही स्थान है, आत्मामें नित्य उपयोग रहना ही काल है आत्मा ही आसन है, आत्मा ही पद्मासनादि है, वहांपर मन वचन कायका सम्बन्ध नहीं है। आत्मा आत्मामें ही लवलीन है। आप ही ध्येय है। निश्चय ध्यानमें ही शुद्धोपयोगका विलास है। इस ध्यानकी जड सम्यग्दर्शनका प्रकाश है। यह सम्यक्त्व आत्माका विशेष गुण है। मिथ्यात्व और अनतानुबन्धी कषायके उदयसे इसका प्रकाश नहीं होरहा है। इस कर्मके आवरणको हटानेके लिये भेदविज्ञानकी आवश्यकता है। भेदविज्ञानके लिये जीवादिक पदार्थोंके ज्ञानकी आवश्यकता है। यह ज्ञान प्रमाण और नयसे होता है। प्रमाणसे पदार्थोंका सर्वांश ज्ञान होता है, नयसे एकांश ज्ञान होता है। नयोंमें निश्चयनय व्यवहार नय प्रधान है। व्यवहार नयसे कर्मोंसे सापेक्ष आत्माके स्वरूपका ज्ञान होता है, तब यह झलकता है कि जैसे जल मिट्टी अलग है, तिलमें तल और भूसी अलग है, मलीन वस्त्रमें वस्त्र और मलीनता अलग है, वैसे ही आत्मा सर्व रागादि भावोंसे, ज्ञानावरणादि कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे भिन्न है, इसी तत्वको ग्रहण कर ध्यानमें लाना चाहिये। तब ही शुद्धोपयोगका प्रकाश होगा और वास्तविक निर्जराका कारण तब प्रकट होगा।

१७५-रसपरित्याग-निराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मशत्रुओंके क्षयका उपाय विचार कर रहा है। स्वतन्त्रताका प्रेमी जैन निर्ग्रन्थ साधु होता है। वह इसलिये शुद्धोपयोगमयी ध्यानका अभ्यास करता है और इसीलिये तपका साधन करता है। रसपरित्याग तपमय रसके स्वादका त्याग होता है। दूध, दही, घी, तेल, शक्कर, नमक इन छ रसोंसे नाना प्रकारके व्यंजन बनते हैं। साधुजन वीतराग भावसे इनका स्वाद लेते हैं। वे महात्मा पट्रसोंके स्वादसे विमुख होकर आत्मरसका स्वाद लेते हैं। आत्मामें परमानन्द है, सुख उसका स्वभाव है। जो आत्म-रसिक होता है वह उस सुखको निरन्तर भोगता है। आत्मरसिक वही हो सकता है जो सम्यग्दृष्टी हो, जिसको भले प्रकार निश्चय है कि पांचों इन्द्रियोंसे जो सुख होता है वह पराधीन होता है, परवस्तुके संयोगसे और पुण्य कर्मके उदयसे होता है।

इस सुखमें अनेक बाधाएँ आजाती है। पुण्य कर्मका क्षय होने पर वस्तुका समागम नहीं होता है। इन्द्रिय सुख नाशवान होता है, क्योंकि आयु पर्यन्त ही भोगा जा सकता है। इन्द्रियसुख रागभाव विना भोगा नहीं जा सकता, इसलिए कर्मबन्धका कारण है और आकुलताका हेतु है इसलिए आदरने योग्य नहीं है। जबकि आत्मिक सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, अविनाशीक है और वीतरागभाव सहित होनेसे कर्मबन्धका नाशक है और निराकुलताके साथ शोभायमान है इसलिए सम्यग्दृष्टी इसी अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी होता है। इसको निरन्तर प्राप्तिके लिए बाधक कर्मोंका नाश करना चाहता है।

रसपरित्याग तप करते हुए वह ज्ञानी शुद्धोपयोगके रसमें आत्मानुभव करता है और शांतिमय ज्ञानसमुद्रमें स्नान करता है। ज्ञानरसका ही पान करता है और परम तृप्तिको पाता है।

१७६-विविक्त शय्यासन-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशकी भावना कर रहा है। जैन साधु बारह प्रकारके तपोंमें विविक्त शय्यासन तपकी भावना करते हैं। एकान्त स्थानमें शयन व आसन करते हैं, जिससे ध्यान स्वाध्याय ठीक होता चले। निश्चयनयसे सर्व परपदार्थोंसे व परभावोंसे भिन्न शुद्ध आत्माके भीतर शयन व आसन करना विविक्त शय्यासन तप है। इस तपके द्वारा शुद्धोपयोगका लाभ ही होता है जिससे कर्मकी निर्जरा होती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी अपनी आत्माका निश्चय भलेप्रकार कर लेते हैं, क्योंकि आत्म ध्यानकी भूमिका आत्माका दृढ श्रद्धान है।

यह आत्मा अखण्ड होनेकी अपेक्षा एकरूप है, अनेक गुणोंको रखनेकी अपेक्षा अनेकरूप है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा सत्रूप है। परद्रव्य, क्षेत्र काल, भावकी अपेक्षा असत्रूप है। अविनाशी होनेकी अपेक्षा नित्य है। स्वाभाविक परिणमन होनेकी अपेक्षा अनित्यरूप है। इत्यादि ज्ञान स्याद्वादके द्वारा होता है। जैन साधु स्याद्वादके ज्ञानमें कुशल होते हैं और अनिर्वचनीय मनसे अगोचर आत्माके भीतर एकतान होजाते हैं। तप ही वह अग्नि है जो सुवर्णके समान आत्माको शुद्ध करती है। तप ही वह पवन है जो आत्माकी कर्मरूपी रजोंको [illegible] ही वह समुद्र है जिसमें स्नान करनेसे

परम शांतिकी प्राप्ति होती है। वह ही वह अमृत है जिसके पीनेसे परम संतोष होता है। वह ही वह औषधि है जो कर्मरोग दूर करती है। यह आत्मा सबसे निराला अद्भुत पदार्थ है। इसका आनन्द भी उसीको होता है जो सर्व इन्द्रियोंसे और मनके विषयसे अलग होकर आपमें ही ठहर जाता है और परम सुखको पाता है।

१७७-कायक्लेश तप-निर्जरा मार्ग।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके क्षयका उपाय विचार कर रहा है। बारह तपोंमें कायक्लेश नामका तप है जिसका अभिप्राय यह है कि शरीरको कष्ट देते हुए शान्तभावसे ध्यानका अभ्यास करना। जैन निर्ग्रन्थ साधु इस तपका साधन करते हैं। शीतकालमें नदी तट पर, ग्रीष्मकालमें पर्वतपर, वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ध्यान करते हैं। निश्चय-नयसे आत्माके कोई पुद्गलकृत शरीर ही नहीं होता इसलिए कायक्लेश नहीं है। आत्मा चैतन्य धातुकी मूर्ति है जिसके ऊपर पुद्गल कोई आपत्ति नहीं कर सकता है। इसलिये आत्मा सदा ही क्लेशरहित हो अपने स्वरूपमें मगन रहता है और आत्मिक आनन्दका स्वाद लेता है। साधक जब ध्यान जैन साधु निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको परम शुद्ध देखकर उसीमें तन्मय होजाता है।

शुद्धोपयोगका प्रकाश करता है जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। वे साधु संसार शरीर-भोगोंसे उदास रहते हैं। संसार असार है, दुःखरूपी क्षारजलसे भरा है, संयोग वियोग सहित है। मानवका शरीर महान् अशुचि है, इन्द्रियभोग अतृप्तिकारक व नाशवंत।

एक निज स्वरूप ही ग्रहण करनेयोग्य है, जा किसी पर द्रव्य, पर पर क्षेत्र, पर काल, व पर भावका प्रवेश नहीं है। यह नित्य अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंमें तल्लीन है। सर्व बाधा रहित है। आत्मा ही अपने लिये आप ही गङ्गाजल है। आपसे आपको पवित्र रखना है। आत्मा आकाशके समान निर्लेप और असंग है। ऐसी भावना जो भाता है वह परम आनन्दको पाकर तृप्त रहता है और स्वआत्म रमणरूप तपको साधता है।

१७८-प्रायश्चित्त तप-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। निर्जराका कारण शुद्धोपयोग है, वही वास्तवमें ध्यान है। व्यवहार नयसे बारह तपोंमें प्रायश्चित तप भी है। जैन साधु अपने चारित्रमें मन वचन काय जो कृतकारित अनुमोदनासे लगे हुए हैं, अतिचारोंकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त लेते हैं। निश्चयसे आत्मा परम निर्दोष है, उसमें कोई प्रायश्चित्तकी आवश्यक्ता नहीं है। तप वास्तवमें आनन्दका स्थान है। जब सम्यग्दृष्टि सर्व इन्द्रियोंसे और मनके विकल्पोंसे दूर होकर अपनसे अपनको अपने लिये आप ही के द्वारा अपने आप ही स्थापित करता है तब वचनसे अगोचर स्वानुभव प्रकट होता है, तब आत्मिक सुखका स्वाद आता है। यही भाव निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि जीव भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सर्व ही परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावोंसे भिन्न जानता है। स्याद्वाद नयके द्वारा [illegible] अपने स्वरूपका निश्चय कर लेता है।

वह आत्मा अनन्तगुण पर्यायोंका पिंड है इसलिये अभेद रूप है। परन्तु गुण पर्यायोंकी अपेक्षा भेद रूप है। यह आत्मा अपने स्वभावको कभी त्यागता नहीं है इसलिये नित्य है, परिणमनकी अपेक्षा अनित्य है। अपने स्वभावकी अपेक्षा सत्रूप है, परभावकी अपेक्षा असत्रूप है। इस तरह स्वभावका निर्णय करके व्यवहार निश्चयनयसे आत्माको जानकर जब ज्ञानी सर्व विकल्पोंसे रहित होकर आपमें स्थिर होता है तब मन वचन कायके विकल्प नहीं होते हैं।

एक सुन्दर उपवन मिल जाता है उसीमें वह रमण करता है। वह रत्नद्वीपमें पहुंच जाता है, रत्नत्रयका आनंद लेता है। क्षीरसागरके समान परम शान्त आत्मामें स्नान करते हुए परम शांति पाता है। निर्मल आकाशके समान आत्मामें असंग भाव रखकर ही समताका लाभ होता है वही परम सामायिक है वास्तवमें वही प्रायश्चित तप है जिससे शुद्धताका अनुभव होता है और परम तृप्ति मिलती है। मोक्षमार्गका पथिक परम निस्पृह होता है। आपके सिवाय किसी भी आपको नहीं चाहता है। देखा जाए तो वह मुक्तरूप ही है अथवा बंध मोक्षकी कल्पनासे बाहर है।

१७९–विनय तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। कर्मक्षयका कारण शुद्धोपयोग है। उसीके साधनके लिये विनय तपका विचार जैन साधु करते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रय धर्म मोक्षका साधक है। इसकी ही वे बड़ी भक्ति करते हैं, बड़े प्रेमसे

पाल्ते हैं तथा रत्नत्रयके साधन करनेवालोंसे भी प्रेमभाव रखते हैं। निश्चयनयसे विचारते हैं तो वे अपने ही आत्माकी अनुभूति करते हैं, यही विनय है। विनय तप सम्यग्दृष्टिका मुख्य कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टिको पूर्ण विश्वास है कि मेरा आत्मा सपूर्ण रागादिक भावोंसे, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे और शरीर आदि नो कर्मोंसे जुदा है। इसकी सत्ता न्यारी है। यद्यपि स्वभावसे सब आत्माएं समान हैं। रागद्वेषका कारण संसारी आत्माओंके भेदरूप देखना है। एक समान देखनेसे रागद्वेष नहीं रहता, समभाव जागृत होजाता है।

यही समताभाव शुद्धोपयोग है। सम्यग्दृष्टि निश्चयनयकी दृष्टि रखकर व्यवहारनयसे उदासीन रहता है। यद्यपि यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका धारी है, तथापि वे दोनों ज्ञान सविकल्प हैं। स्वसंवेदन ज्ञानके होते हुए मतिश्रुत दोनों उसीमें गर्भित होजाते हैं। वास्तवमें ज्ञान सूर्यके समान एक प्रकाश है, जिसमें पांच भेद नहीं हैं। ज्ञानावरण कर्मका संयोग देखनेपर ज्ञानके भेद देखनेमें आते हैं। सहज ज्ञान आत्माका स्वभाव है, उसी ज्ञानका अनुभव स्वतन्त्रताका उपाय है।

जैसी भावना भावे वैसा हो जावे, इस तत्वके अनुसार स्वतन्त्रताकी भावना स्वतन्त्र होनेका उपाय है। स्वानुभव एक ऐसा शर्बत है जिसमें अनेक रसरूप आत्मिक गुणोंका सम्मिलित स्वाद रहता है। स्वानुभव एक ऐसा आसन है जिसपर बैठनेसे पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है। स्वानुभव एक ऐसा दर्पण है जिसमें आत्माका दर्शन होता है। स्वानुभव अमृतकी घूंट है जिसको पीनेसे परम तृप्ति होती है। स्वानुभव ही निश्चय तप है, इसीसे कर्म स्वयं क्षय होजाते हैं और परमानंदका लाभ होता है।

द्रव्योंस व पर भावोंस जुदा देखते हैं । उनकी दृष्टिमें यह जगत छः द्रव्य रूप जुदा जुदा दीखता है । सर्व पुद्गल परमाणु रूप सर्व जीव सिद्धके समान शुद्ध धर्म अधर्म आकाश काल अपने स्वभाव ही में स्थित दीखते हैं । पुद्गल मिले हुए आत्माओंमें भी सब आत्माएँ शुद्ध झलकती हैं । तब समानभाव या वीतरागभाव प्रगट हो जाता है । राग द्वेषका कारण नहीं रहता है ।

समताभाव रहना ही परम तप है । ज्ञानी जीव समताभावमें सुखसागरको पाते हैं, उसीमें मगन होजाते हैं, उसीके शान्त रसका पान करते हैं, उसीके निर्मल जलसे कर्म मल छुड़ाते हैं । समताभाव एक अपूर्व चन्द्रमा है, जिसके देखनसे सदा ही सुख शांति मिलती है। समताभाव परम उज्जवल वस्त्र है जिसको पहननेसे आत्माकी परम शोभा होती है । समताभाव एक शीघ्रगामी जहाज है जिसपर चढ़कर ज्ञानी जीव भवसागरसे पार होजाते हैं । समताभाव रत्नत्रयकी माला है जिसको पहननेसे परम शांति मिलती है । समताभाव परमानन्दमयी अमृतका घर है, जिसमें भीतरसे अमृत रस रहते हुए भी वह कभी कम नहीं होता है । जो समताभावके स्वामी हैं वही परम तपस्वी हैं । वे शीघ्र स्वतन्त्रताको पाकर परम सन्तोषी होजाते हैं । और तृष्णाके आतापसे रहित होजाते हैं ।

१८२-व्युत्सर्ग तप-निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशके लिए आप विचार कर रहा है । शुद्धोपयोग ही सार तप है जिससे कर्मका क्षय होता है । उसीके

लिए व्युत्सर्ग नाम अतरग तप है। जहा बाहरी क्षेत्र आदि दश प्रकार परिग्रह और मिथ्यात्व रागद्वेष आदि चौदह प्रकार अतरग परिग्रहसे पूर्ण ममत्वका त्याग हो वह व्युत्सर्ग तप है। निश्चयनयसे आत्मा व्युत्सर्ग तपरूप ही है। आत्मा बिलकुल निराला है। परद्रव्योंके ममत्वसे रहित है। उसमें मोहनीय कर्मका कोई उदय नहीं है जिससे परसे ममत्व भाव हो सके। आत्मा अपनी सत्तामें आप विराजमान है। अपनी शुद्ध परिणतिका आप ही कर्ता है। अपने शुद्ध आनन्दका आप ही भोक्ता है। यह अनन्त गुणोंका पिंडरूप द्रव्य है। असख्यात प्रदेशी इसका क्षेत्र है। शुद्ध परिणमन इसका काल है। शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि इसका भाव है। इस तरह अपने चतुष्टयसे अपनी सत्ता निराली रखता है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका इसमें अभाव है।

जब मन, वचन, कायके व्यापारोंको बन्द कर दिया जाता है और आत्माका उपयोग आत्मामें ही थिर होजाता है तब शुद्धोपयोगका प्रकाश होता है। उस समय आत्मा सम्बन्धी गुण पर्यायोंका विकल्प मिट जाता है। निश्चयनयका भी भाव बन्द होजाता है। मतिश्रुत ज्ञान आदिका विचार भी नहीं रहता है। नाम आदि निक्षेप भी नहीं रहते। एक अद्वैत तत्वका अनुभव जग जाता है। इस अनुभवमें अनन्त गुणोंका स्वाद उसीप्रकार गर्भित है जैसे एक शर्बतमें अनेक वस्तुओंका तत्व मिश्रित हो। स्वात्मानुभव एक अपूर्व दर्पण है जहा आत्माका स्वरूप यथार्थ चमकता है। आत्मानुभव अपूर्व किला है जहां राग आदि भावका व किसी सकल्प विकल्पका प्रवेश नहीं हो सकता। एक अपूर्व शिला है जिसपर बैठकर

आत्मा आपमें मगन हो जाता है। आत्मानुभव एक सुन्दर महल है जहाँ चैतन्य शिवसुन्दरीका दर्शन होता है। आत्मानुभव एक ऐसा शस्त्र है जो कर्मोंको काट देता है। आत्मानुभव आनन्द अमृतका घट है जिसमें आनंदरस सदा पान किया जा सकता है। आत्मानुभव एक अपूर्व आभूषण है जिससे आत्माकी शोभा होती है। आत्मानुभव शान्ति और समताकी खान है जहां कभी भव आताप नहीं रहता। आत्मानुभव ही यथार्थ तप है। इसीके स्वामी जैन निर्ग्रन्थ साधु होते हैं जो स्वतन्त्रताका लाभ करते हैं।

१८३–ध्यान तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। बारह तपोंमें मुख्य तप ध्यान है। शेष तप ध्यानके लिए कारण हैं। जहां ध्याता किसी ध्येयको चिन्तवन करता है उसको ध्यान कहते हैं और ध्येयमें एकाग्र होजाना ध्यान है। ध्यानयोग्य अपना शुद्ध आत्मा है या अर्हत या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है। धर्मध्यान शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं। निश्चयनयसे आत्मा ध्यानके विकल्पोंसे रहित है। वह स्वयं आत्मानन्दमें मग्न है। स्वात्मानुभूतिका होना ही निश्चय ध्यान है। जहां मन वचन कायके व्यापार बंद होजाते हैं, स्वसमाधि भाव जागृत होजाता है तब सर्व भेद भाव दूर होजाता है। यही सच्चा नग्नत्व है, यही दिगम्बरत्व है, यही निर्ग्रन्थ लिंग है।

यहां क्रोधादि कषायका भाव नहीं चलता। पांचों इन्द्रियां भी

बेकाम होजाती हैं। स्वानुभूति समताभावको जागृत करती है। यही भाव वीतरागता सहित होनेसे कर्मोंका नाशकारक है। रागद्वेषसे बंध होता है तब वीतराग भावसे बंधका नाश होता है। यह भाव आत्मानन्दसे परिपूर्ण है। इसमें कोई दु ख नहीं है। यही भाव शिवकन्याको मोहित करनेवाला है। यही भाव ज्ञानका मंदिर है। यही भाव शांतिका सागर है। यही भाव निर्मल दर्पण है, जहां अनंत भाव दिखने हैं तोभी कोइ विकार नहीं आता। यही भाव संसार वनदाहक अग्नि है जो अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंको नाश कर देती है। यही भाव प्रचण्ड पवन है जो कर्म रजको उडा देता है। यही भाव तीव्र मेघधारा है जो कर्म रजको बहा देती है। यही भाव अनंतगुणोंकी खान है जिसमें शर्बतकी तरह मिश्रित स्वाद रहता है। यही भाव रमणीक उपवन है जहां आत्मा एक रसमें रमण करता है। यही भाव परम रत्न है जिससे आत्माकी शोभा होती है। यही भाव निश्चय मोक्षमार्ग है और शिव महलको जानेवाली सीधी सडक है। यही भाव परम तप है।

इस भावके धारी परम तपस्वी शांतरसमें मग्न हो आत्मानंदका स्वाद लेते हैं और अपना आत्मीक सुवर्णको शुद्ध करते चले जाते है, इस भावकी महिमा अपार है, वचन अगोचर है, अनुभवगम्य है। जो जानता है वही आत्मज्ञानी निर्जरा तत्व है।

१८४–पदस्थ ध्यान–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। वह कर्मोंका क्षय ध्यानकी अग्निसे कर रहा है। ध्यान करनेक

उनमेंसे पदस्थ ध्यान भी एक है। पदोंके द्वारा आत्मा व परमात्माका ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। ॐ, अर्हंत, सिद्ध आदि पदोंको शरीरके किसी स्थानमें स्थापित करके उन पदोंके द्वारा ध्यान करना चाहिये। जैसे 'ॐ' मंत्रको नाभिकमलमें, हृदयकमलमें, मुख-कमलमें, नासिकाके अग्रभागमें, दोनों भवोंके बीचमें व मस्तकपर सिरमें विराजमान करके ध्यान करना। यह व्यवहार ध्यान है। इसके द्वारा निश्चय आत्मध्यानकी सिद्धि होती है। णमोकार मंत्रके पाँचों पदोंको एक कमलमें स्थापित करके ध्यान किया जा सक्ता है। हरएक ध्यानमें लक्ष्य शुद्धात्माका होता है। स्वय स्वानुभव रूप है। यह ही वास्तवमें सच्चा ध्यान है। जो निश्चयनयका अवलंबन लेते हैं वे अद्वैत एक भावमें पहुच जाते हैं तब मन, वचन, कायका विकल्प नहीं रहता, परम समाधि जागृत होजाती है।

असलमें यही ध्यानकी अग्नि है, इसीको धर्मध्यान या शुक्लध्यान कहते हैं। ऐसा ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक लगातार रहनेसे केवलज्ञान होजाता है। जब आपसे आपमें ठहर जाता है तब परपदार्थोंसे संबंध नहीं रहता है। सिवाय अपनी आत्माके और आत्माओंका विचार भी नहीं रहता। इस समय अर्हंत व सिद्धका ध्यान भी परभावरूप परिग्रह है, परतंत्र है। निज तत्व तो आप असंग है। इस तत्वके साथ किसी भी मोहका विकल्प नहीं है। यही वीतरागभाव है जो कर्म नाशक है। वीतराग भाव ही पानीकी धारा है जो कर्म रजको बहाती है। वीतराग भाव ही प्रचण्ड वायु है जो कर्मरजको उड़ाता है। भाव ही वह अभेद किला है जिसमें मिथ्यात्व, अविरति,

कषाय आदि आस्रव प्रवेश नहीं कर पाते। वीतराग भाव ही सुन्दर प्रफुल्लित उपवन है, जहां ज्ञानी सुखसे रमण करता है। वीतरागभाव ही वह जहाज है जो भवसागरके पार जीवको ले जाता है। वीतराग भाव ही एक ऐसा अमृत है जिसको पान करनेसे जीव अमर होजाता है। वीतराग भाव ही आनंदका सागर है जिसमें बारबार स्नान करनेसे आत्मा शुद्ध होता है। यही निश्चय तप है।

१८५–पिण्डस्थध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। बारह तपोंमें मुख्य तप ध्यान है। ध्यान करनेके अनेक प्रकार हैं। उनमेंसे पिण्डस्थध्यान भी है। पिण्ड नाम शरीरका है, उसमें स्थित आत्माका ध्यान पिण्डस्थध्यान है। उसकी पांच धारणाएं हैं। पहली पार्थिवी धारणा है। उसमें ऐसा विचार किया जाता है कि मध्यलोक क्षीर-सागरके समान है, उसके बीचमें जम्बूद्वीपके समान एक हजार पांख-डीका कमल है। कमलके मध्यमें सुमेरु पर्वतके समान कर्णिका है। सुमेरु पर्वतपर पांडुक वन है, उसमें पांडुक शिला है। उसपर मैं पद्मासन बैठा हूं। प्रयोजन कर्मोंके भस्म करनेका है। इसतरह बार-बार ध्यान करना पार्थिवी धारणा है। इससे उपयोग एक स्थानमें केन्द्रीभूत होजाता है। निश्चयनयसे आत्मा स्वयं ध्यानस्वरूप है। आत्मा निरन्तर अपने स्वभावमें बसता हुआ परभावसे विरक्त रहता है। अपनी स्वाभाविक सम्पदाका ही भोग करता है। उसकी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य ... अमिट व अविनाशी सम्पदा है।

इस सम्यक्त्का धनी कभी भी परस्वरूप परिणमन नहीं करता है, आप ही रसमें मग्न है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव ही इस तत्वको पहचानते हैं। वे जानते हैं कि जगतमें छ द्रव्योंकी सत्ता होने पर भी अपने अपने प्रदेशोंसे हरएक पदार्थ अलग अलग हैं। हर जीव भी दूसरे जीवोंसे भिन्न अपनी सत्ता रखता है। हरएक जीव अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावमें मग्न है। आपको न्यारा देखते हुये सम्यक्ती जीव अपने समान सब जीवोंको भी देखता है इस लिये राग द्वेष नहीं करता। आत्मानन्दके लिये अपने ही स्वरूपमें थिर होजाता है। यही वास्तविक आत्मध्यान है। इस आत्मध्यानमें वीतरागताका संचार है, जिसमें कर्मोंकी निर्जरा होती है। निर्जराभाव अपना ही तत्व है। इस तत्वमें समुद्रके समान गम्भीरता है, पृथ्वीके समान क्षमता है, जलके समान शीतलता है, अग्निके समान दाहकता है, सूर्यके समान प्रकाशपना है। इस तत्वमें अद्भुत सौंदर्य है जिसकी उपमा जगतमें नहीं दी जा सकती है। इस तत्वका प्रेमी अंतरात्मा सदा सुखी रहता है। उसको संसारिक विकल्प जाल आकुलित नहीं करते। जो इस तत्वमें रम जाता है वही वास्तवमें ध्यान करनेवाला है और वही सुखशांतिका सदा भोग करता है।

१८६–पिण्डस्थ ध्यान–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। ध्यानसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। पिण्डस्थ ध्यानकी दूसरी धारणा आग्नेयी धारणा है। ध्यान करनेवाला मेरु पर्वत पर पद्मासन बैठा हुआ ऐसा

विचार करता है कि मेरे नाभिस्थानमें ऊपरसे उठा हुआ सोलह पत्तेका एक कमल है, उन पत्तों पर अ, आ आदि सोलह स्वर लिखे हुए हैं। कमलके बीचमें 'हैं' शब्द है। दूसरा कमल उसीके ऊपर हृदयस्थानमें औंधा आठ पत्तोंका है जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूप है। फिर विचारे कि नीचेके कमलके 'हैं' की रफसे धुआ निकला, फिर अग्निकी लौ बंध गई, वह ऊपर उठती हुई आठ कर्मोंके कमलको जलाने लगी। उसकी लौ मस्तक पर आगई। फिर शरीरके तरफ फैल गई। अग्निमें त्रिकोण बन गया। यह त्रिकोण र र अक्षरोंसे व्याप्त है। त्रिकोणके तीनों वायु कोणोंमें तीन स्वस्तिक अग्निमय बने हैं।

इस तरह बाहरका अग्निमंडल शरीरको और भीतरी अग्निमंडल आठ कर्मोंको जला रहा है। जलते जलते शरीर और कर्म राख होगये। ऐसा बार बार चिंतवन करना आग्नेय धारणा है। यह व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा सदा ही ध्यान रूप है। वह कभी अपनेसे बाहर नहीं जाता, उसमें परम थिरता बनी रहती है, जिससे वह आत्मीक आनंदका रस लेता रहता है। सदा वीतरागताके प्रभावसे कर्मास्रव नहीं होता। अद्भुत आत्म विकाश रहता है। शुद्ध सूर्यके समान ज्ञान चमकता है। उसमें विश्वके सकल पदार्थ गुणपर्याय सहित झलकते रहते हैं। परन्तु विकार उत्पन्न नहीं करते। वह निर्मल ज्ञान दर्पणके समान होता है। ज्ञान ज्ञेयमें जाता नहीं ज्ञेय ज्ञानमें जाते नहीं। निर्मल आत्म अनुभूति सदा बनी रहती है, जिसके प्रतापसे आत्मामें कोई परकी [illegible] है। स्वसम्वेदन ज्ञान झलकता

वीतराग चारित्र चमकता है, निश्चय सम्यग्दर्शन झलकता है, स्वात्मयी एक सागर बन जाता है । परिणमन स्वभावकी अपेक्षा नाना स्वाभाविक पर्यायें कल्लोलवत् उठती हैं । तौभी आत्मसमुद्रमें कोई मलीनता नहीं होती है । इस समुद्रमें आत्मा आप ही स्नान करता है । आप ही उसमें क्रीड़ा करता है । परम सुख शांतिको भोगता है । इस तत्वको जो समझता है वही कर्मोंका नाश कर सकता है

१८७-पिण्डस्थ ध्यान-निर्जरा भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है । पिण्डस्थ ध्यान बहुत उपयोगी है । अग्नि धारणाके बाद पवन धारणाका विचार किया जाता है । ध्याता विचार करता है कि मेरे चारों तरफ पवनका मण्डल घूम रहा है जो कर्म शरीरकी रजको उड़ा रहा है, आत्माको शुचि कर रहा है । यह व्यवहार ध्यान है । निश्चयनयसे आत्मामें ध्यान ध्येय ध्याताका विकल्प नहीं है। आत्मा स्वयं आत्मा रूप है । ज्ञान गुण अपेक्षा ज्ञानमय है । दर्शन गुण अपेक्षा दर्शनमय है । चारित्र गुण अपेक्षा चारित्रमय है। सुख गुण अपेक्षा सुखमय है । वीर्यगुण अपेक्षा वीर्यमय है, तथापि अखण्ड स्वरूप है । इसमें भेद कल्पना भी नहीं है। इसका ज्ञान समुद्रसमान गम्भीर है। ज्ञेयोंकी अपेक्षा अनेक कल्लोलें उठती हैं तौभी ज्ञान सामान्यको प्रकट करती है । आत्मामें कोई रागादि विकार नहीं होता है । यह पूर्ण शान्तिमय बना रहता है । जो कोई आत्माको आत्मारूप जानता है वही सम्यक्दृष्टि तत्वज्ञानी है । वह कभी भावकर्म रागादिक, द्रव्य

र्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादिको अपना नहीं मानता है। सम्यक्ती जीव परम ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण रहता है। उसका ज्ञान केवली भगवानके समान पदार्थोंको यथार्थ जानता है। उसको सांसारिक पदार्थोंमें किंचित भी राग नहीं होता। कर्मके उदय होनेपर ज्ञातदृष्टा रहता है। अन्तरंगमें उसका भाव परम शांत रहता है। यह ज्ञानी स्वात्मीक रसका पान करता है जिस समय ही ध्यानकी अग्नि प्रगट होती है जो कर्म ईंधनको जलाती है। यही सच्चा तप है, यही भाव निर्जरा है, यही मोक्षमार्ग है। यही भवसागरसे तारनेका जहाज है, यही परम तृप्तिकारी आत्माका भोजन है, यही तृष्णा शमनकारी अमृतरस है, यही आकुलता नाशक निराकुल निजपद है, यही भवरोग शमनकारी औषधि है, यही साधुओंका रमण करानेवाला एक मनोहर उपवन है, यही समता प्रसारक चन्द्रकला है, यही परम पुष्टिकारक बल है। जो इस भावके स्वामी हैं, वे ही परम ध्यानी हैं। वे निज सुख-शांतिका भोग करते हैं।

१८८-पिण्डस्थ ध्यान-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कर्म क्षयका कारण आत्मध्यान है। पिंडस्थ ध्यानमें चौथी जल धारणा है। ध्याता ऐसा विचारता है कि काली घटाएं आरही हैं। मेघोंसे जोरसे पानी बरसने लगा। मेरे ऊपर जल मण्डल बन गया। जलकी धाराएं कर्मरजको व शरीरकी रजको दूरकर आत्माको स्वच्छ कर रही हैं। यह व्यवहार [illegible] निश्चयसे आत्मा स्वयं ध्यान स्वरूप

आप ही ध्येय है, आप ही ध्याता है, आप ही ध्यान है। वहांपर वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं है। एकाकी अमल ब्रह्मरूप आत्मा अपनेमें ही कल्लोल करता है, आप ही अपने आनन्दको लेता है। आप ही अपने शुद्ध भावको करता है। शुद्ध भाव इसका कर्म है। अपने द्वारा ही करता है इसलिये आप ही करण है। अपने लिये आप ही करता है, इसलिये सम्प्रदान है। आपमेंसे ही अपनी परिणति करता है, इसलिये आप ही अपादान है। अपनेमें ही अपने भावको करता है, इसलिये आप ही अधिकरण है।

निश्चयमें इन छः कारकोंका विकल्प आत्मामें नहीं है। यह ज्ञान चेतना स्वरूप है। ज्ञानका ही अनुभव करता है। ज्ञानानंदका ही स्वाद लेता है। यह अपनेमें ही एक सागर बनता है। उसीमें ही स्नान करता है, उसीके अमृतको पीता है। इस तत्वको सम्यक् दृष्टि ही जानता है। सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने आपको जैसा है वैसा ही जानता है। उसमें परवस्तुका सम्बन्ध नहीं मिलता है। जैसे हंस दूध पानीको भिन्न२ जानता है। चतुर वैद्य एक पुटककी औषधियोंको भिन्न२ जानता है। न्यारिया वस्त्रसे सुवर्णकी कणिकाको अलग जानता है। किसान धानमें चावलसे तुषको अलग जानता है। तमोली तिलके तेलमें भूसीको अलग जानता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आपको परभावोंसे भिन्न जानता है। आत्मज्ञानकी अग्निको जलाता है, उसीमें आपको तपाता है। यही निश्चय तप है। इसीसे कर्मोकी निर्जरा होती है और परमानन्दका लाभ होता है। सब आकुलताएं मिट जाती हैं। निर्वाणका मार्ग

दाय रग जाता है, सन्तोष होता है । यही अमृत रसायन है जो अमर करती है । यही वीतराग भाव है । यही समताका मन्दिर है, जिसमें आत्मदेव शान्तिसे विराजता है । उसीकी उपासना करना ज्ञानीका कर्तव्य है ।

१८९-पिण्डस्थ ध्यान-निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार रहा है । ज्ञानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है । पिंडस्थ ध्यानकी पांचवी धारणा तत्व-रूप होती है । ध्याता विचारता है कि मेरे आत्माके सर्व कर्म जल गये, कर्मरज धुलगई आत्मा सिद्ध समान शुद्ध हो गया । मैं सिद्ध हूं, ऐसा ध्यान करता हुआ शुद्ध भावना करता है और कर्मोंकी प्रचुर निर्जरा करता है । पिंडस्थ ध्यान व्यवहार ध्यान है । निश्चयसे आत्मा स्वयं ध्यान स्वरूप है, उसमें कोई विकल्प नहीं होत । सम्य-ग्दृष्टि इस बातको जानता है, मिथ्यादृष्टि इस तत्वको नहीं जानता । वह कर्मजनित भावोंमें अहंकार ममकार करता है । मैं करता हूं, मैं भोक्ता हू इस भावमें फंसा रहता है । क्योंकि उसको भेदविज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई । सम्यग्दृष्टी जानता है कि मैं अपनी परिणतिका करता हू, और अपने ज्ञान स्वभावका भोक्ता हू । उसको अतीन्द्रिय ज्ञानमें प्रेम होगया है । वह इन्द्रिय जनित भोगोंसे उदास है। उसको निज पदके सिवाय और किसी पदकी इच्छा नहीं है। भेदविज्ञानकी कलासे वह अपनको परमात्मा रूप देखता है या अन्य सर्व आत्मा-ओंको भी परम [illegible] है। इसलिये रागद्वेषादि भावोंसे

दूर रहता है। और वीतरागी बना रहता है, समभावमें मगन रहता है। इस तरह स्वानुभूतिको जगाता है तब सर्व विकल्पजालोंसे शून्य होजाता है। आत्माका नामनिर्देश भी नहीं रहता, न गुण गुणीका भेद रहता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान भी विलय होजाते हैं। स्वसंवेदन सहज ज्ञानका उदय होजाता है। वह ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशमान होता है। वह पूर्ण और अखण्ड है। ज्ञेयोंके निमित्तसे ज्ञानमें भेद नहीं होते। जैसे दर्पण पदार्थोंको दिखलाता हुआ भी निर्विकारी रहता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टीका ज्ञान निर्विकार रहता है। वह अपने ज्ञानसागरमें कल्लोल करता है। ज्ञानदर्शनका ही पाठ करता है। सम्यग्दृष्टीका आत्मा एक परम दृढ़ दुर्गके समान है जिसमें परद्रव्य परमाणुओंका प्रवेश नहीं हो सकता। वह निश्चिन्त निराकुल होकर विराजमान रहता है। स्वानुभूतिमें रमण करना ही वास्तवमें तप है। जहां आनन्दका अनुभव होता है, वीतरागता प्रकाशमान होती है। इसीसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। स्वानुभूति ही वह क्रिया है जो अनात्मरूपी सुवर्णको ज्ञानवैराग्यके मसालेसे शुद्ध करती है। और मोक्षनगरमें पहुंचा देती है। जो स्वानुभूतिमें रमण करते हैं वे ही तपस्वी हैं। वे परम सन्तोषी रहते हैं।

१९०–रूपस्थ ध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कर्मोंका नाश आत्मध्यानसे होता है। उसका उपाय रूपस्थ ध्यान भी है। रूपस्थ ध्यानमें तीर्थंकर भगवानको अर्हत परमेष्ठी समोशरणके श्री मंडपमें सिंहा[illegible]

सनसे विचार जमाता है। चमर आदि आठ प्रातिहार्यसे सुशोभित है। चारों तरफ बारह सभाओंमें चारों प्रकारके देव देवी, मुनिराज आर्यिका, मनुष्य, पशु विराजमान हैं। इन्द्रादिक देव स्तुति कर रहे हैं। बड़ी भक्तिसे पूजा कर रहे हैं। भगवानकी दिव्यवाणी खिर रही है। भगवानका स्वरूप परम वीतराग है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान अनन्त सुख, अनन्त वीर्य—चार अनन्त चतुष्टयसे शोभायमान हैं। वे स्वात्मानुभवमें लीन हैं। आत्मानंदका रसपान कर रहे हैं। भक्तों पर मग्न नहीं होते हैं तौ भी भक्तजन भक्ति करके पुण्य बांध रहे हैं। उनकी शांत मुद्रा देखकर भक्तजन अपने आत्माका स्मरण करते हैं। स्वयं आत्मानुभवमें लीन होजाते हैं। इसतरह बार २ चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है।

यह ध्यान व्यवहारनयसे किया जाता है। निश्चयनयसे आत्मामें ध्याता ध्येय ध्यानका विकल्प नहीं है। आत्मा अपने स्वरूपमें सदा स्थित है। आत्मा चैतन्य धातुकी मूर्ति है, परम समता रसमें लीन है अपने गुणोंसे अभेद है। इसके असंख्यात प्रदेशोंमें स्फटिकमणिके समान परम शुद्धता है। इसका निष्कंप योगमें रहनेसे कोई कर्म नोकर्म इसमें प्रवेश नहीं कर सकते।

इसलिये यह परम निराकुल रहता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर भी परम वीतरागी बना रहता है। नित्य ही अतींद्रिय आनंदका स्वाद लेता है। इस तत्वको जो कोई समझता है वही सम्यग्दृष्टी है। वही उस नौकाको पा लेता है जो आत्माको भवसागरसे पार ले जाती है। यह नौका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयसे बनी हुई है।

विचारपूर्वक तत्वको मान लेना आवश्यक होता है, यह भी व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा स्वयं ध्यान-स्वरूप है। आत्माका तत्व वचन अगोचर है, अनुभवगम्य है। इसमें ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प नहीं है। जब मन वचन काय थिर हो जाते हैं वहीं आत्माका दर्शन होता है। आपसे आपको जानना स्वसंवेदन ज्ञान है। यही भाव श्रुतज्ञान है। द्वादशांग वाणीका यह सार है। सम्यग्दृष्टी जीवके यही ज्ञान अवश्य होता है। इसमें रत्नत्रय गर्भित है।

महामुनिगण इसी तत्वका ध्यान करते हैं जिससे अतीन्द्रिय आनन्दका भी लाभ होता है। यह तत्व गंगाजलके समान निर्मल है। इसमें अवगाहन करना परम शांतिप्रद है, सब पापोंका निवारक है। इन्द्रादिक देव इसी तत्वकी स्तुति करते हैं। यही तत्व चौथे गुणस्थानसे झलकने लगता है। इसी तत्वसे अर्हन्त और सिद्धको परमात्मा पद प्राप्त है। तत्वज्ञानी इसी तत्वको मनन करते हुये एक एक दशामें सुखी रहते हैं। जहां रागद्वेष मोहका कोई विकल्प नहीं होता है वहीं आत्मतत्व झलकता है। यही समयसार है। परम अविकार है। ज्ञानियोंका आभूषण है। इसके बिना द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्यात्व भावमें बने रहते हैं। यही भावलिंग है। परम समताका साधक है। यही निश्चयनय है।

१९२-विपाकविचय धर्मध्यान-निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओंके क्षयके लिए उपाय विचार कर वीतरागभाव ही कर्मकी निर्जराका कारण है। इसकी प्राप्तिका

उपाय विपाक विचय धर्मध्यान भी है। जगतमें संसारी जीव कर्म-बन्धनसे मलीन होरहे हैं। उन कर्मोंमें कुछ पुण्य कर्म हैं, कुछ पाप कर्म हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, और मोह यह चार घातीय कर्म तथा असाता वेदनीय, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अशुभ आयु, यह चार अघातीय कर्म पाप हैं। और साता वेदनीय, शुभ नाम, उच्च गोत्र और शुभ आयु यह पुण्य कर्म हैं। इन पाप पुण्य कर्मोंके विपाकसे आत्माके विभाव भाव और दुःख सुखके समान होते हैं।

संसारी प्राणियोंकी सर्व प्रकारकी दुःखित या सुखित अवस्थाका हेतु कर्मका उदय है। ध्याता अपनी और दूसरोंकी भिन्न २ अवस्थाओंपर विचार करते हुए उनके कारण कर्म उदयपर लक्ष्य देता हुआ साम्यभावकी प्राप्ति करता है और कर्मोंसे भिन्न शुद्ध आत्माको उपादेय मानता है। इस प्रकारका चिन्तवन, विपाकविचय धर्म ध्यान है। यह व्यवहार ध्यान है।

निश्चयनयसे आत्मामें ध्यानका कोई विकल्प नहीं है। आत्मा सदा अभेद, एकरूप, नित्य, निरंजन, निर्विकार, ज्ञाता, दृष्टा, परमानन्दमयी झलकता है।

ज्ञानी जीव इसी नयके द्वारा शुद्ध तत्वका मनन करते हैं। स्वतत्व ही शुद्ध तत्व है। इसके सामने अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु यह पंच परमेष्ठी भी परतत्व हैं। पुद्गलादि पांच द्रव्य तो परतत्व हैं ही। निज तत्वमें रमण करना स्वानुभव है। जहां स्वानुभव है, वहीं रत्नत्रयकी एकता है, वहीं मोक्षमार्ग है। इस तरह निश्चयनयसे आप ही ज्ञाता, ... ध्याता ध्यान ध्येय है, पूजक, पूज्य,

पूज्य है परम तत्त्वी इस ही स्वानुभवको तप समझते हैं । यही ध्यानकी अग्नि है, जो कर्मोंको जलाती है, आत्मबल बढ़ाती है परम पद प्रदान करती है । स्वानुभव ही निर्मल जल है जिसमें अवगाहन करनेसे भव-आताप मिट जाता है । जिसके पान करनेसे तृषा शमन हो जाती है ।

स्वानुभव ही वह दुर्ग है जिसमें बैठ जानेसे मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग द्वारा आनेवाले कर्मास्रव प्रवेश नहीं कर सक्ते । स्वानुभव एक दर्पण है जिसमें आपसे आपका दर्शन होता है । जिस दर्शनसे परम सुख शांतिका लाभ होता है । स्वानुभव एक ऐसी कला है जिसके द्वारा सम्यक्दृष्टि जीव व्यवहारकार्य करते हुये भी अकर्ता बने रहते हैं । सुख दुःखका भोगते हुये भी अभोक्ता बने रहते हैं । स्वानुभव एक चन्द्रमा है जिसका पूर्ण प्रकाश परमात्मामें होता है और उसके अपूर्ण प्रकाशका प्रारम्भ सम्यक्दृष्टिको अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानमें होजाता है । सर्व द्वादशांगवाणीका सार स्वानुभव है ।

यह ही भाव श्रुतज्ञान है । केवलज्ञानके समान है । स्वानुभवके करनेवाले वास्तवमें परम निस्पृही, परम सन्तोषी रहते हैं । स्वानुभव ही भावनिर्जरा है । स्वानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्षनगरको चली गई है । धन्य है वे मानव जो स्वानुभवके स्वामी होजाते हैं ।

१९४-अपायविचय धर्मध्यान-निर्जरा भाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है । तबहीसे कर्मोंकी निर्जरा होती है । अपाय विचय धर्मध्यान भी बड़ा उपकारी

और वह रत्नत्रयमयी भाव वास्तवमें भाव निर्जरा है, इससे कभी भी किसीको बंध नहीं होता यही वास्तवमें तप है। इस तपके तपनेवाले तपस्वी स्वानुभूतिको जगा लेते हैं और उसके प्रकाशमें जागृत रहते हुए स्वात्मानंदका स्वाद लेते हैं। उनको यह जगत शांतिमय झलकता है। कभी भी कोई अशांतिका दर्शन नहीं होता। वे तपस्वी वास्तवमें इस ही तपके द्वारा आत्माको शुद्ध करते हुए मोक्षनगरमें पहुंच जाते हैं। और सदा ही सुख-शांतिका अनुभव करते हैं।

१९५-संस्थानविचय धर्मध्यान-निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कर्मकी निर्जरा ध्यानसे होती है। संस्थान विचय धर्मध्यान भी एक उपाय है। इस ध्यानमें ध्याता लोकका स्वरूप विचार करता है। यह लोक पुरुषाकार अनादि अनन्त अकृत्रिम है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल और आकाश इन छः द्रव्योंसे भरा हुआ है। यह छः द्रव्य सत्रूप हैं, उत्पाद व्यय ध्रुव स्वरूप हैं, नित्य होते हुए भी परिणमन शील हैं। इनमें जीव चेतन है और शेष द्रव्य अचेतन हैं। जीव स्वभावसे शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकार परमानंदमय स्वतंत्र एकसत्ता रखनेवाला अमूर्तिक द्रव्य है। वही मैं हूं। यद्यपि कर्म संयोगसे मेरी पर्याय मलीन होरही है परंतु मेरे द्रव्यका स्वभाव सदा ही निर्मल है। ऐसे ही संसारमें सर्व जीव हैं, इसलिये मेरे परम समताभाव है। राग द्वेषका कोई कारण नहीं है। इस तरह विचारना व्यवहार धर्मध्यान है। निश्चयनयसे आत्मामें ध्यानका विकल्प नहीं है। आत्मा अपने द्रव्य,

है। ज्ञानी जीव विचारता है कि आत्माका बंधन रागद्वेषमोहादि भावोंके कारण होता है। उस बंधसे आत्माको पराधीन होना पड़ता है, स्वतंत्र सुखका स्वाद नहीं आता है। इसलिये परतंत्रकारक बंधक कारणोंको मिटा देना ही हितकारी है। इसलिये वह अपने आत्माके सिवाय सर्व परभावोंसे उदासीन होजाता है, और वीतराग भावकी भावना भाता है। यह भी व्यवहार ध्यान है, क्योंकि परतत्वका सम्बन्ध है। निश्चयनयसे आत्मा सदा ध्यानस्वरूप है, निर्विकल्प है, अभेद है, अपने शुद्ध गुणोंसे परिपूर्ण भरा हुआ उन्हींके साथ कल्लोल किया करता है। उसके स्वरूपमें कोई परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावका प्रवेश नहीं हो सकता है।

वस्तुका यह स्वरूप ही है कि वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अस्तिरूप है, उसी समय परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मतत्वमें मगन रहना सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है। वह जानता है कि अपना पद अपने ही पास है। उसमें कोई आकुलताका कारण नहीं है। वही ब्रह्मस्वरूप है, वही भाव अहिंसारूप है, वही समताका सागर है, वही रत्नत्रयका आभूषण है, वही दश लक्षण धर्मकी एक माला है, वही ज्ञानियोंका पूजनीय तत्व है। सम्यक्ती इसी तत्वका अत्यन्त प्रेमी होकर सर्व परतत्वसे विमुख होजाता है। गृहस्थ हो या साधु, उसकी दृष्टि इस ही तत्वमे रमण किया करती है। व्यवहार कार्य करते हुए भी सम्यक्ती उसमें रजायमान नहीं होता, जैसे स्वर्ण कीचड़में पड़ा होनेपर भी दूषित नहीं होता। सम्यक्तीको यह शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान, और स्वरूपाचरण चारित्र उनके जीवनको मंगलमय बना देता है।

क्योंकि उसकी दृष्टि भलेप्रकार अपने ही आत्मतत्वपर स्थिर हो जाती है। वह ससारसे विमुख और मुक्तिके सन्मुख होजाता है। इस कारण एक गृहस्थ सम्यग्दृष्टि प्रयोजनवश मन, वचन कायसे व्यवहार करते हुए भी निर्लेप और निर्द्वंद रहता है, उसको भेदविज्ञानकी कला प्राप्त है। जैसे स्वर्ण कीचमें पड़ा हुआ मलिन नहीं होता वैसे सम्यक्ती जगतके कार्योंको करते हुए मलिन नहीं होता।

सम्यग्दर्शनकी महिमा अपूर्व है। इसीलिये इसको रत्न कहते है। यह सदा बन्धमोचक सवर निर्जराका कारण है।

सम्यक्ती जीव निराकुल रहनेका उपाय जानता है। कर्मके उदयमें समभाव रखता है, भेदविज्ञानपूर्वक स्वानुभवका लाभ जिनको हो जाता है वे ही अन्तरात्मा या महात्मा कहलाते है। स्वानुभव ही निर्जरा तत्व है, क्योंकि वहा वीतरागता है। वीतरागता ही समसुखरूप है। शीतल आत्मा रूपी चद्रमाकी शुद्ध ज्योति है। ज्ञान सूर्यका प्रताप है। मोह-शत्रुके लिये कृपाण है। स्वानुभव प्राप्त योगी या तपस्वी ही निर्जराके अधिकारी होते हैं। जीव तत्वका यही सार मनन है। परम अद्भुत है। सिद्धके समान जीवको शुद्ध दिखाता है। यही परम सतोषका बीज है।

१९७–अजीव विचय, धर्मध्यान–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका विचार कर रहा है। अजीव तत्वके विचारसे धर्मध्यान करता हुआ तत्वज्ञानी ऐसा विचार करता है कि इस लोकमें जीव तत्वके सिवाय अजीव तत्व भी है।

सुख सत्ता चैतन्य बोध इन चार प्राणोंका धारी है। सहज ज्ञान दर्शनोपयोगका रखनेवाला है। वर्णादि रहित अमूर्तीक है। अपने शुद्ध परिणामोंका करनेवाला है। सहजानन्दका भोक्ता है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश रखनेवाला है। कर्मबन्धसे रहित है। सदा ही निश्चल क्रिया रहित है। अपने स्वभावमें एकाकार है। अपने गुणोंमें गुणोंसे अभेद है, रागादि रहित है। एक अनादि सत् पदार्थ है। न इसका कोई कारण है, न यह किसी द्रव्यका उपादान कारण है। स्वभावसे यह प्रेरक निमित्त कारण भी नहीं है। जब कर्म बंध सहित जीवका विचार किया जाता है तब व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता है कि यह जीव इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोश्वास चार प्राणोंका धारी है। मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय, केवलज्ञान इन पांच उपयोगोंका रखनेवाला है। चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल इन चार दर्शनोपयोगका रखनेवाला है। शरीर प्रमाण आकार रखता है। रागादि भावोंका करनेवाला वा सुख दुःखका भोगनेवाला है।

एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भेदरूप है। नर, नारक, तिर्यंच, देव इन चार गतिमें भ्रमण करनेवाला है। जीव अकेला ही अपने कर्मोंका कर्ता और भोक्ता रहता है। इसप्रकार जीव तत्वका विचार करते हुए व्यवहार धर्मध्यान होता है। निश्चय नयसे आत्मामें ध्यानका कोई विकल्प नहीं है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणिके समान निरंजन और निर्विकल्प रहता है। अपने स्वानुभवमें मगन रहता है जिसके प्रतापसे सहजानंदका सदा भोग करता है।

यह स्वानुभवजनित स्वाद हरएक सम्यग्दृष्टिको प्राप्त होता है;

व्यवहारनयसे अजीव तत्वका विचार धर्मध्यानमें करे। निश्चयनयसे ध्यानकी कल्पना ही नहीं है। आत्मा सदा ही अपने स्वभावके किलेमें विराजमान रहता है, जहांपर द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता और न कोई उपाधि उत्पन्न कर सकता है। आत्मा परम निराकुल रहता हुआ अपनी स्वानुभूति तियासे रमण किया करता है, परम आनन्दका भोग करता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इस तत्वके रसिक होकर अपना जीवन सफल करते हैं। भेदविज्ञानपूर्वक स्वानुभवको जगाकर अपने स्वरूपमें जागृत रहते हैं। और निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे समताभावको प्राप्त करते हैं। यही समताभाव निर्जरातत्व है। यही वास्तविक तप है। इस तपको तपनेवाले ही तपस्वी कहलाते हैं। जितनी देर तप होता है सहजसुखका वेदन होता है। जिससे परम शान्तिका लाभ होता है। इस शान्तिके भोगनेवालेको ही जिन या जिनेन्द्र कहते हैं। जिन मार्ग शान्त स्वरूप है। जो इसका अनुयायी है वह परम सन्तोषके साथ शान्तरसका पान करता है।

१९८–आस्रवविचय धर्मध्यान–निर्जरा तत्व।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। धर्मध्यानमें आस्रव तत्वका विचार करते हुये वह ऐसा मनन करता है कि जीवके पांच भाव होते हैं–औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायक, पारिणामिक, औदयिक। इनमेंसे औदयिक भाव ही कर्मके आस्रवका कारण है। पूर्वमें बांधे हुये कर्मोंके उदयसे तत्वका अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे अविरति भाव, सामान्य

बिना अजीवके रहे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती । संसार और मोक्ष नहीं हो सकते । जिसमें राग द्वेषपूर्वक काम करनेवाली कर्मचेतना, सुख दुःख भोगनेवाली कर्मफलचेतना, शुद्ध ज्ञानको अनुभव करनेवाली ज्ञानचेतना, ऐसी तीन चेतना न हों उसको अजीव तत्त्व कहते हैं । अजीवमें मुख्य द्रव्य पुद्गल द्रव्य है, जो मूर्तीक है। इसीकी संगतिसे जीव संसारमें काम कर रहा है । जब इसकी संगत छूट जाती है तब जीव समाणरहित क्रियारहित रहता है । परमाणुको पुद्गल कहते हैं, उन परमाणुओंसे स्कन्धोंमेंसे आहारक वर्गणासे औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीर बनते हैं । भाषा वर्गणासे भाषा बनती है, मनोवर्गणासे मन बनता है, कार्माण वर्गणासे कार्माण शरीर बनता है । यही पुण्यपापमें कर्मोदय है । इन्हींके फलसे जीवोंको सांसारिक सुखदुःख जीवन मरण होता है । कर्मबन्धसे ही जीव अशुभ कहलाता है।

जीव और पुद्गल यह दो मुख्य द्रव्य हैं, इनके कार्योंमें सहकारी शेष चार अजीव द्रव्य हैं । इनके गमन होनेमें उदासीनरूपसे सहकारी लोकव्यापी धर्मद्रव्य है । जहांतक यह दो द्रव्य हैं वहांतक लोककी व्यवस्था है ।

इनके माननेसे लोक मर्यादा रूप नहीं रह सकता । द्रव्योंकी अवस्था बदलनेमें सहकारी काल द्रव्य है । यह अमूर्तिक अखण्डरूप लोकमें व्याप्त असंख्यात कालाणु हैं । इस कालके विना समय रूप व्यवहार काल नहीं हो सकता है । द्रव्योंको अवकाश देनेवाला आकाश द्रव्य है जो अनंत है । इस प्रकार पांच प्रकार अजीव द्रव्य हैं, वही मैं हूं । पुद्गलसे भिन्न देखूं तो मैं शुद्ध हूं । इस प्रकार

व्यवहारनयसे अजीव तत्वका विचार धर्मध्यानमें करे। निश्चयनयसे ध्यानकी कल्पना ही नहीं है। आत्मा सदा ही अपने स्वभावके किलेमें विराजमान रहता है, जहांपर द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता और न कोई उपाधि उत्पन्न कर सकता है। आत्मा परम निराकुल रहता हुआ अपनी स्वानुभूति तियासे रमण किया करता है, परम आनन्दका भोग करता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इस तत्वके रसिक होकर अपना जीवन सफल करते हैं। भेदविज्ञानपूर्वक स्वानुभवको जगाकर अपने स्वरूपमें जागृत रहते हैं। और निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे समताभावको प्राप्त करते हैं। यही समताभाव निर्जरातत्व है। यही वास्तविक तप है। इस तपको तपनेवाले ही तपस्वी कहलाते हैं। जितनी देर तप होता है सहजसुखका वदन होता है। जिससे परम शान्तिका लाभ होता है। इस शान्तिके भोगनेवालेको ही जिन या जिनेन्द्र कहते हैं। जिन मार्ग शा त स्वरूप है। जो इसका अनुयायी है वह परम सन्तोषके साथ शान्तरसका पान करता है।

१९८–आस्रवविचय धर्मध्यान–निर्जरा तत्व।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। धर्मध्यानमें आस्रव तत्वका विचार करते हुये वह ऐसा मनन करता है कि जीवके पांच भाव होते हैं–औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायक, पारिणामिक, औदयिक। इनमेंसे औदयिक भाव ही कर्मके आस्रवका कारण है। पूर्वमें बांधे हुये कर्मोंके उदयसे तत्वका अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे अविरति भाव, सामान्य

कषायके उदयमें कषाय भाव, शरीर नाम—कर्मके उदयसे योगोंकी चंचलता ऐसे चार आस्रवके कारणभाव हैं। मिथ्यात्व गुणस्थानमें चारों ही होते हैं। आगे चौथे गुणस्थान तक अविरति आदि तीन भाव रहते हैं। आगे दशवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थान तक कषाय और योग दो भाव रहते हैं। तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें एक योग ही रहता है। सातवें गुणस्थान तक हरएक जीवके हर समय ज्ञानावरणादि सात कर्मोंका आस्रव हो सकता है। परन्तु त्रस भागमें आठों कर्मोंका आस्रव होसकता है। आठवें नौवें गुणस्थानमें आयु बिना सात कर्मोंका ही आस्रव होता है। दसवें गुणस्थानमें मोहनी कर्मके बिना छह कर्मका ही आस्रव होता है। तेरहवें गुणस्थानमें एक सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव होता है। पिछले कर्मके उदय होनेपर ज्ञानी आत्मा समभाव रखता है तब कषायका जोर घट जाता है इसलिये आस्रव भावकी मंदता होजाती है। कभी आस्रवके कारणसे जीवका संसारमें भ्रमण, अनादिकालीन संसारमें बीजवृक्षके समान कर्मके उदयसे आस्रव भावोंसे नवीन कर्मोंका आस्रव होता है।

इस आस्रवको रोकनेवाले औपशमिक आदि चार भाव हैं। आत्मा स्वभावसे आस्रव रहित है। इस तरह व्यवहारनयसे विचारते हुए ज्ञानी आत्मा जब शुद्ध नयसे विचारता है तो आत्मामें आस्रव तत्वका संभव ही नहीं दीखता। आत्मा स्वभावसे परम संवररूप है, स्वभाव गुप्तिके किलेमें बैठा हुआ है। तब कोई आस्रव भाव इस किलेमें प्रवेश नहीं कर सकता। आत्मा निरंजन निर्विकार निश्चल अभेद नित्य ज्ञाताद्रष्टा आनन्दमय झलकता है। शुद्ध नयसे देखनेवाले सम्य-

म्यग्दृष्टी होते हैं। उनको भेदविज्ञानकी कला मिल जाती है जिससे वह अपने आत्माको और पर आत्माको संसार दशामें रहते हुवे भी स्वभाव रूप देखते हैं। जैसा द्रव्य है वैसा उनको दिखाई देता है, इस कारण वे अपनी शुद्ध आत्मद्रव्यमें स्थिर होकर स्वानुभव प्राप्त कर लेते हैं। स्वानुभवमें रत्नत्रयकी एकता होती है, यही साक्षात् मोक्षमार्ग है, यही सीधी सड़क मोक्षनगर तक चली गई है। इस सड़कपर चलते हुये कभी आकुलता नहीं होती, सुख शांतिका लाभ होता है। स्वतंत्रता पानेका यही उपाय है। जो स्वानुभव करते हैं, वे ही अन्तरात्मासे परमात्मा होजाते हैं। स्वानुभव विना जप तप पूजा पाठादि स्वतंत्रताका उपाय नहीं है। स्वानुभव परम मंगलरूप है, आत्मज्योति स्वरूप है, स्वसमयरूप है, ज्ञानियोंका परम मित्र है। यही स्वानुभव वास्तवमें निर्जरा तत्व है। स्वानुभवी जीव परम सन्तोषी और सुखी बन रहते हैं।

१९९–बंधतत्व विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। बन्धतत्वका विचार करते हुये वह ऐसा मनन करता है कि यद्यपि आस्रवके पीछे बंधतत्व कहा गया है तौ भी कर्मोंका आस्रव और बंध एक ही समयमें होता है। कर्मवर्गणाओंका आत्माके प्रदेशोंमें ठहर जाना बंध है, इसको उभयबंध कहते हैं। कार्माण शरीरसे कार्माण वर्गणाका बंध होनेको द्रव्यबंध कहते हैं। कर्मके उदयसे आत्माके रागादिक भावोंको भाव बंध कहते हैं। आस्रव बन्धके कारण एक ही हैं अर्थात् मिथ्यात्व अविरत कषाय योग यह चार

बंधक कारण है। बंध चार प्रकारका होता है। योगोंकी विशेषतासे प्रकृति प्रदेशबंध होते हैं। कर्मवर्गणाओंमें ज्ञानावरणादि प्रकृति पडती है और वर्गणाओंकी संख्या बढ जाती है इसको प्रकृति प्रदेशबंध कहते हैं। कषायोंसे स्थिति और अनुभागबंध होते हैं। कषाय तीव्र होनेसे आयुकर्म सिवाय सब कर्मोंमें स्थिति मन्द कषायसे देव मनुष्य तिर्यञ्च आयुकी स्थिति अधिक पडती है। तीव्रसे कम। जब कि नर्क आयुमें तीव्र कषायसे अधिक और मंद कषायसे कम पडती है। तीव्र कषायसे पापकर्मोंमें अनुभाग अधिक पडता है। मन्द कषायसे कम। मंदकषायसे द्रव्यकर्मोंमें अनुभाग अधिक पडता है तीव्र कषायसे कम पडता है। बंधक ही कारणसे यह आत्मा संसारमें सुख दुख उठाता है। आप ही बंध करता है, आप ही उसका फल भोगता है। बंधसे आत्मा स्वतंत्र नहीं होता है, किंतु बंध छेदका उपाय स्वानुभवको प्राप्त करे तो बंधका नाश होसकता है। इस तरह व्यवहारनयसे बंध तत्वका विचार करते हुए जब निश्चयनयसे विचार करता है तो आत्मामें बन्ध मोक्षकी कल्पना ही नहीं है। जैसे कमलनीका पत्ता जलसे अलिप्त रहता है वैसे आत्मा अपने स्वभावमें पूर्ण स्वतंत्र है, गुणोंमें अमंद है, शुद्ध चैतन्यमय है, परमानंदमय है। यद्यपि इसके ज्ञानमें विश्वके पदार्थ झलकते हैं, तो भी दर्पणके समान ज्ञान अलग है, पदार्थ अलग हैं, आत्मा परम निरंजन निर्विकार निराकुल एक महान तत्व है। इसके श्रद्धान ज्ञानचारित्रको रत्नत्रय धर्म कहते हैं। वह धर्म स्वसमय रूप, समयसार, अविकार है। इस धर्मके अनुयायी ही यथार्थ धर्मात्मा हैं। और वे ही परतन्त्रताके छेदका उपाय पा लेते हैं। जिस समय

स्वानुभव जाग्रत होजाता है उस समय परमानन्दका लाभ होता है और कर्मकी निर्जरा होती है। स्वानुभव ही अमृत रसायन है, जिसके पीनेसे अमरत्वका लाभ होता है, निश्चयनयके द्वारा अपना तत्व परसे भिन्न झलकता है और समताभावका लाभ होजाता है। यही समभाव निर्जरा तत्व है, यही भाव तत्व है, तप है। इसके विना बाह्य तप, असार है। यही सारभूत आत्मा कल्याणकारी अध्यात्मविद्या है। इसीके ज्ञाता विद्वान और पण्डित हैं, व परम सन्तोषी रहते हैं।

२००—संवरतत्त्वविचय धर्मध्यान—निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। संवर तत्वका मनन करते हुये विचारता है—स्वतंत्रता प्राप्तिके लिये कर्मोंके आगमनको रोकनेकी जरूरत है जैसे—नावमें पानी रोकनेके लिये छेद बंद करनेकी जरूरत है। चार प्रकार आस्रवके लिये चार ही संवर भाव हैं। मिथ्यात्वको सम्यग्दर्शनसे, अविरति भावको व्रतोंके धारणसे, कषायको वीतराग भावसे, योगको अयोग भावसे रोका जाता है। संवरके लिये मन, वचन, काय आदि महाव्रत, ईर्या आदि पांच समिति, उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म, अनित्यादि बारह भावना, क्षुधादि बाईस परीषहका विजय, सामायिक आदि चारित्र, अनशनादि तपकी जरूरत है। मूल संवरका कारण भेदविज्ञान है जिससे अपने आत्माको सर्व परसे भिन्न समझा जाय। चौथे गुणस्थानसे संवरका प्रारम्भ होता है। चौदहवें गुणस्थानमें पूर्ण संवर होता है। संवर भावसे मुख्यतया पापकर्मोंके निरोधकी जरूरत है। क्योंकि उनका उदय आत्माकी ही उन्नतिमें विघ्नकारक है। संवर भावसे यदि पुण्य कर्मका आस्रव होता

है तो वह पुण्य आत्माकी उन्नतिमें बाधक नहीं होता है। तो भी साधकको पुण्य कर्मकी वांछा नहीं करना चाहिये। अनंतानुबन्धी कषायके निरोधसे स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान संज्वलन कषायोंके निरोधसे यही स्वरूपाचरण चारित्र बढ़ता रहता है। दर्शन गुणस्थानके ऊपर इसीको यथाख्यात चारित्र कहते हैं। इस तरह व्यवहारनयसे विचारकर निश्चयनयसे जब मनन करता है तो उसे प्रतिभासता है कि आत्मा स्वयं सत्वरूप है। इसके प्रदेशोंमें इतनी दृढ़ता है कि पुद्गल कर्म प्रवेश नहीं कर सकते। यह आत्मा परम पवित्र है, चैतन्य स्वरूप है, अविनाशी है, परम आनन्दमय है, अपने आनन्द गुणोंको सदा अपने भीतर कायम रखता है।

क्योंकि इसमें अगुरुलघु गुण है जिस गुणके प्रतापसे कोई द्रव्य अपनी मर्यादाको उलंघन नहीं करता, आत्मा अपनी सत्ताको भिन्न रखता है। हरएक आत्मा अपना तत्व है, पर आत्मामें पर तत्व है। इस तरह जो निज तत्वको लक्ष्यमें लेकर अनुभव करता है वह स्वानुभवको प्राप्त कर लेता है। जब स्वानुभव होता है तब मन, वचन, कायकी चंचलता मिट जाती है और वीतरागता पैदा हो जाती है। यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्म ईंधनको जलाती है। और आत्माके बलको दृढ़ करती है, अज्ञानके अंधकारको मेटती है। स्वानुभव क्षीरसागरके समान अमृतका समुद्र है। जिसमें आत्मारूपी हंस कल्लोल किया करते हैं। और इसी शांत रसका पान करता है जिससे परम तृप्तिको पाता है। स्वानुभवी जीव सम्यग्दृष्टी महात्मा होते हैं, जो रत्नत्रयकी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार होजाते हैं।

२०१–निर्जराविचय धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके क्षयका विचार कर रहा है। निर्जरातत्वका विचार धर्मध्यानका एक उपाय है। कर्मोका एक देश क्षय होना निर्जरा है। ससारी जीवोंके कर्म अपने समयपर पक कर उदय आते हैं, और झड जाते हैं, यह सविपाक निर्जरा है। यह गजस्नानकी तरह आत्माको शुद्ध करनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टी जीवके अविपाक निर्जरा होती है। कर्मोकी स्थिति घटाकर शीघ्र समयके पहिले निर्जरा करना अविपाक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टी जैसे २ गुणस्थान चढता जाता है यह निर्जरा बढती जाती है। यह निर्जराका मुख्य कारण तप है। आत्मामें आत्माका तपना ही तप है। यहा सब इच्छाओंका निरोध होता है। आत्मलीनतामें वीतरागता उत्पन्न होती है। यही निर्जराका साधक है। यह निर्जरा सवरपूर्वक होती है। इसलिये मोक्षका साधक है।

इस तरह व्यवहार नयसे विचार करते हुये जब निश्चयनयसे विचार करता है तो देखता है कि आत्मामे कोई कर्मका बध ही नहीं है, जिसकी निर्जरा करना पडे। आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है, एकरूप है, ज्ञायक पदार्थ है, अमूर्तिक है, निरञ्जन निर्विकार है। यह आत्मा आपको आपरूप देखने जाननेवाला है। अपनी परणतिका ही कर्ता है, अपने ही आनद गुणका भोक्ता है, सर्व विकल्पोंसे रहित है, परम गम्भीर है। इसमें ज्ञेय पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तौ भी उनसे विकारी नहीं होता है। इसतरह विचार करते हुये जब ज्ञानी आत्मतत्वमें लय होजाता है तो स्वानुभव दशा प्राप्त होजाती है, वहा निश्चयनय और व्यवहार नयका कोई विकल्प नहीं रहता। स्वानुभव होते हुये

अद्वैत भाव झलकता है, उस समय ज्ञानमें उसी तरह मगन हो जाता, जैसे नमककी किंकरी पानीमें घुल जाती है ।

इस तरहका साधक भाव जिसको प्राप्त होता है, वही तपस्वी है। उसका आत्मा समुद्रवत क्षोभ रहित निश्चल झलकता है। वह उस समुद्रमें स्नान करता है, और उसीके आनन्द-अमृतको पान करता है। परमशान्ति सुखका अनुभव करता है। द्वादशांग वाणीका सार यही है। शुद्धात्मानुभव एक जहाज है जो सीधा जीवको मोक्षद्वीपमें ले जाता है। स्वानुभव ही परम मसाल है, जिससे आत्मा पवित्र होता है। धन्य है वह भेद विज्ञानी जीव जो न्यारियेके समान कर्मरजके भीतरसे आत्माको अलग कर लेते हैं। और उसीके शान्त उपवनमें कल्लोल करते हैं।

२०२–मोक्षतत्त्व विचय धर्मध्यान, निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके नाशका उपाय विचारता है। मोक्ष तत्वका मनन करते हुए ज्ञानी विचारता है कि जीव और पुद्गल दो द्रव्योंके विना बन्ध मोक्षकी कल्पना नहीं बन सकती। जो लोग जगतमें एक ही द्रव्य मानते हैं चेतन या जड उनके मतमें मोक्षतत्व नहीं बन सकता। बन्धसे छूटनेका नाम मोक्ष है। आत्मा संसार अवस्थामें अज्ञानी व रागी, द्वेषी, मोही हो रहा है। अज्ञान व रागादिक दोष हैं, यह बात सर्वमान्य है, आत्माके स्वभाव नहीं होसक्ते। इससे सिद्ध है कि आत्माको आवरण करनेवाला कोई कर्म अवश्य है उसी कर्मके विच्छेदको मोक्ष कहते हैं। जिस तरह सुवर्ण शुद्ध होजाता है, फिर

मलिन नहीं होता या जिस तरह चना भुन जाता है, फिर उग नहीं सकता, इसी तरह कर्मके अभावसे मुक्ति हो जाती है तब फिर यह आत्मा बंधको प्राप्त नहीं होता।

मोक्ष अवस्थामें आत्मा सदा अपने स्वभावमें अटल बना रहता है। उसके ज्ञान आनन्द आदि गुण विकसित होजाते हैं। मोक्षको अपवर्ग कहते हैं। क्योंकि वहां धर्म, अर्थ, काम तीन वर्ग नहीं हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा ही परमात्मा है। यह सदा ही निर्विकार रहता है। उसमें कोई कर्तापनकी इच्छा नहीं हो सकती। मोक्षतत्व बाधा रहित परम सूक्ष्म है। मोक्ष प्राप्त आत्माको सिद्ध कहते हैं। क्योंकि अपने साध्यको सिद्ध कर लिया। मोक्ष प्राप्त आत्मा अपने स्वरूपमें तल्लीन होकर आत्मानन्दरूपी अमृतका पान किया करता है तो आत्मामें बंध मोक्षकी कल्पना नहीं है। यह त्रिकाल अपने शुद्ध स्वभावमें अटल बना रहता है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है। पर चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है।

आत्मा अनन्त गुणोंका समुदाय है, अखण्ड द्रव्य है, असंख्यात-प्रदेशी है, यही इसका स्वक्षेत्र है। अपने स्वभावमें परणमन होना स्वकाल है, शुद्ध भाव इसका स्वभाव है।

आत्मामें अनंत शक्ति है, पर द्रव्य इसको बाध नहीं सकता है यह एकरूप रहता है। क्षोभ रहित समुद्रके समान निश्चल है, परम वीतरागी है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका अनुभव भेदविज्ञानके द्वारा होता है। ज्ञानी जीव द्रव्य कर्म, ज्ञानावरणादि भावकर्म, रागद्वेष आदि नोकर्म शरीरादिसे भिन्न आत्माको देखते हैं। धारावाही अभ्याससे

स्वात्मानुभवका लाभ होता है। यही वास्तवमें निर्जरा तत्व है। स्वानुभव ध्यानकी अग्नि है, जो कर्मोंको जलाती है, ज्ञानको प्रकाश करती है, आत्मबलको बढ़ाती है। स्वात्मानुभवी जीव सच्चे जिन उपासक है, वे ही परम जिन होजाते है। स्वानुभव एक गम्भीर नदी है, जिसमें स्नान करनेसे पवित्र होजाता है और सुख-शांतिका अनुभव करता है।

२०३–उपशम सम्यग्दर्शन विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। उपशम सम्यग्दर्शनके सबधमें मनन करता है। यह बड़ा उपकारी है। मोक्षमार्गमें चलते हुए अनादि कालके मिथ्यादृष्टीके सबसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शनका लाभ होता है तब अनन्तानुबंधी क्रोधादि, कषाय और मिथ्यात्व कर्मोंका अन्तमुहूर्तके लिये उपशम होजाता है अर्थात् उदय नहीं रहता। जब यह सम्यक्त छूट जाता है तब सादि मिथ्यादृष्टिके सात प्रकृतिका या कभी पांचका ही उपशम होता है। मिश्र और सम्यक्त प्रकृतिका भी उपशम हो जाता है इसका प्रथम उपशम सम्यक्त कहते हैं। उपशम श्रेणी चढ़ते हुए वेदक सम्यक्तको जो उपशम सम्यक्त होता है उसको द्वितीय उपशम कहते है।

यह सम्यक्त किसीको स्वभावसे किसीको दूसरेके उपदेशसे होता है। इसके होनेमें भेदविज्ञानकी जरूरत है। सम्यक्तीको यह झलक जाना चाहिये कि मेरा आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, रागादि भावोंसे भिन्न है। कोई सात तत्वोंको विस्तारपूर्वक जान या उसके भावको ही प्राप्त होजावे। मुख्य बात यह है कि शुद्ध स्वभाव ग्रहण करनेयोग्य

भासना चाहिये। सम्यक्तीके भीतर अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धा होजाती है। वह ससार शरीर भोगोंसे उदास होजाता है। कर्मोदयसे जो कुछ मन वचन कायकी क्रिया करता है उसको अपने आत्माका कर्तव्य नहीं जानता। वह शुद्ध उपयोगका प्रेमी होता है। अशुभकी तरह शुभ उपयोगको भी बधका कारण जानता है। ज्ञान वैराग्यसे भीजा रहता है। इस सम्यक्तकी प्राप्तिमें करणलब्धि होनी चाहिये। अतमुहूर्तके लिये परिणाम समयर अनत विशुद्ध होते जाते हैं। उपशम सम्यक्तमें आयुका बध नहीं होता है न मरण होता है। परन्तु द्वितीय उपशममें मरण हो सक्ता है। इस सम्यक्तको चारों गतिके पंचेन्द्रिय सैनी जीव प्राप्त कर सक्ते हैं। विना इसके धर्मध्यानका प्रारम्भ नहीं होता है। आर्त या रौद्रध्यान बना रहता है। इस तरह व्यवहारनयसे विचार करता है तो आत्मामें उपशम सम्यक्तका कोई विकल्प नहीं है। यह सदा सम्यक्ती है। मिथ्यात्वका प्रवेश निश्चयसे आत्मामें नहीं होता। आत्मा परम शुद्ध निर्विकारी बना रहता है। ज्ञान चेतनाका अनुभव करता है, निराकुल आनदमें मगन रहता है।

निश्चयनयसे आत्मतत्वका ज्ञान बहुत जरूरी है। तभी इस ज्ञानके होनेसे सम्यक्त हो सकता है। सम्यक्ती जीव जगतके पदार्थोंको द्रव्यार्थिक नयसे देखते हैं तब उनको छहद्रव्य अलग भासते हैं। ससारी और सिद्धात्मामें कोई भेद नजर नहीं आता। जिससे समताभावको पालेते हैं। यही भाव निश्चयनय है, यही भाव परम समाधि है, शांत रसका समुद्र है। जो इस समुद्रमें स्नान करते हैं, वे पवित्र होजाते हैं।

२०४–उपशम चारित्र विचय, धर्मध्यान निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। धर्म ध्यानमें उपशम चारित्रपर लक्ष देते हुए मनन करता है कि जब जैन साधु शुक्लध्यान करते हुए उपशम श्रेणीपर चढ़ते हैं तब आठवेंसे ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम चारित्र होता है। उपशांत कषाय गुण स्थानमें इसकी पूर्णता होती है। यहां चारित्र मोहनीका उपशम हो जाता है। अन्तर्मुहूर्तका समय है। फिर ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे आता है। यदि मरन करे तो चौथे गुणस्थानमें आकर देवलोकमें जाता है। वीतरागताके अंश झलक जाते हैं। इस चारित्रको एक जन्ममें २ दफे या कुल ४ दफे पाकर फिर साधु अवश्य क्षपकश्रेणीपर चढ़कर मुक्त होजाता है। इस चारित्रके होते हुए शुद्धोपयोग रहता है जिससे ध्याताको आत्मानंदका लाभ होता है और कर्मकी निर्जरा भी होती है। क्षायक सम्यग्दृष्टी और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी इस चारित्रको पा सकते हैं। वास्तवमें कषायोंके उदयसे ही परिणामोंमें कलुषता रहती है। कषायोंका दमन बड़ा उपकारी है। वीतरागता ही चारित्र है। संसारका उच्छेदक है, जीवके औपशमिक भाव दो प्रकार होते हैं—औपशमिक सम्यक्त, औपशमिक चारित्र। यद्यपि क्षायक भाव प्राप्त किये बिना मोक्ष नहीं होता है तो भी औपशमिक चारित्र साधकको उपकारी है, जहां इकीस प्रकार कषायोंका उपशम किया जाता है। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंको प्राप्त होकर उपशम चारित्र होता है। निश्चयनयसे आत्मामें उपशम चारित्रकी आवश्यकता नहीं है। आत्मा स्वयं अपने चारित्रमें सदा आरूढ़ रहता है।

आत्म द्रव्य परम शुद्ध निर्विकार निरंजन अभेद अमिट अविनाशी अनादि अनंत स्वतंत्र तत्व है। इसमें अनंतगुण वास करते हैं, इसकी शक्ति अनंत है। अपने आत्माको शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके बलसे शुद्ध अनुभव करना चाहिए। शुद्ध अनुभव यही सम्यक्त्का प्रकाश हैं, ज्ञानका विकाश है, स्वरूपाचरण चारित्र है। आत्मज्ञान विना क्रियाकांड मोक्षका साधक नहीं है। आत्मज्ञान एक अपूर्व महल है जिसके भीतर विराजनेसे परम शांतिका लाभ होता है, दुखोंका शमन होता है। जो इस तत्वको समझते है वे ही संसारसागरसे पार होनेकी नौका पा लेते हैं। आत्मज्ञानमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों गर्भित हैं व आत्मज्ञानी परम सन्तोषी होते हैं। ज्ञान चेतनाका स्वाद लेते है यही भाव निर्जरा हैं यही यथार्थ तत्व है।

२०५–क्षायक ज्ञान विचय धर्मध्यान–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भाव हैं। उनमें क्षायक ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्मोके क्षयसे प्रकाशवान होता है। यद्यपि ज्ञान आत्माका स्वभाव है, तथापि अनादिकालसे ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे अप्रकाशित है। जब भेद-विज्ञानका अभ्यास किया जाता है, आत्माके स्वभावको परभावोंसे भिन्न विचार किया जाता है और आत्मानुभव किया जाता है, तब शुक्लध्यानके द्वारा पांचों ही प्रकारका ज्ञानावरणीय कर्म क्षय किया जाता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान सूर्यके प्रकाशके समान स्वपर प्रकाशक है। जितने भी जानने योग्य पदार्थ हैं उन सबको विना क्रमके एकमात्र यह ज्ञान [illegible] लेता है।

यदि लोकालोकक पदार्थ जितन हैं उनस अनन्तगुने ही पदार्थ हों तो भी यह ज्ञान जान सकता है। जैसे सूर्य प्रकाश करते हुए किसीस रागद्वेष नहीं करता है वैस ही यह ज्ञान निर्विकार रहता है। केवलज्ञानस ज्ञानी आत्मा सबको जानते हुये भी अपन स्वरूपम मगन रहता है, स्वात्मानन्दका भोग करता है जिसमें अनन्त आनन्द शक्ति है। इसीस इस ज्ञानकी महिमा अनन्त है, अनुपम है, सकल प्रत्यक्ष है। इस तरह व्यवहारनयस विचारत हुए निश्चयनयस देखा जाव तो ज्ञान आत्माका स्वभाव है। सदा ही निरावरण रहता है।

ज्ञान और ज्ञानीका भेद भी व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे आत्मा अपन गुणोंमें अभेद है, बाधा रहित है, निरञ्जन है, परम वीत राग है, एकरूप अखण्ड प्रकाशमान है। आत्मस्वभावका ज्ञान ही सात तत्वज्ञान है। इसका लाभ हरएक सम्यग्दृष्टीको होता है, जिसस वह आत्मानुभवका अभ्यास करता है और सुखशातिका लाभ करता है। धर्मका सार यही है। यही ससारसमुद्रस पार होनकी नौका है। जिसमें न कोई कर्मास्रव न बध होता है। तत्वज्ञानी इसीक प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा करता है और शुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान एक सुदर वाटिका है, जिसमें तत्वज्ञानी रमण करता हुआ परम सतोष पाता है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों रत्न गर्भित है, इसीस इसको मोक्षमार्ग कहत हैं। इसके विना व्यवहार चरित्र मोक्षमार्ग नहीं है। आत्मज्ञान ही भाव निर्जरा है, या भाव तप है।

तपस्वीजन इसी तपके लिये साधन करते हैं और अपन जीवनको सफल कर लेते हैं। केवलज्ञानके प्रकाश होनेपर प्रत्यक्ष रूपसे

स्पष्टरूपसे अपने आत्माका दर्शन हो जाता है। जहातक यह ज्ञान प्रगट न हो वहातक श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है। अमूर्तीक पदार्थोको केवलज्ञान ही देख सक्ता है। जो इस ज्ञानके रसिक हैं, वे परम सतोषी होते हुए सुख–शांतिका लाभ करते हैं।

२०६–क्षायक दर्शन विचय धर्मध्यान, निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके नाशका उपाय विचारता है। नौप्रकार क्षायक भावोंमें दूसरा भाव क्षायक दर्शन है, जो दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे प्रगट होता है। जब साधु बारहवें गुणस्थानमें दूसरे शुक्लध्यानको ध्याते हैं, तब शुद्ध भावोंके प्रतापसे चार घातिया कर्मोका क्षय होजाता है, तब क्षायक दर्शन उत्पन्न होता है। इसके द्वारा सपूर्ण पदार्थोका सामान्य स्वरूप एक साथ अवलोकनमें आता है। जगतके पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं। सामान्यको जाननेवाला दर्शन है, विशेषको जाननेवाला ज्ञान है। अल्पज्ञानियोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, परन्तु केवलज्ञानियोंके दर्शन ज्ञान साथ होते हैं।

क्षायक दर्शनको आत्माका स्वभाव जानना चाहिए। इसमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं होती है। केवलज्ञानी सर्व पदार्थोको देखते जानते हुए भी निर्विकार रहते हैं। उनका आत्म अवलोकन स्थिर रहता है। यद्यपि उपयोगमें सब पदार्थ आ जाते हैं तथापि कोई मल उत्पन्न नहीं होता है यही क्षायकदर्शन, अनतकाल तक बना रहता है। क्योंकि शुद्ध आत्माके फिर कर्मका बध और आवरण नहीं होता है, अल्प ज्ञानियोंके यह दर्शन प्रकट नहीं होता है। क्योंकि पूर्ण शुद्ध उपयोगका [illegible] नहीं होता है।

उस तरह व्यवहारनयसे विचार करते हुये जब निश्चयनयसे मनन किया जाता है तो आत्मामें सदा ही दर्शनगुणका प्रकाश है। आत्मा निश्चयसे निरंजन निर्विकार अविनाशी सार तत्व है। यह अपनी सत्ता सब जीवोंसे निराली रखता है। जैसे मिठाइयोंके भीतर मीठापना या मिष्ट पदार्थ भिन्न है वैसे आत्मा पुद्गलोंके मध्य रहता हुआ भी भिन्न है। भेदविज्ञानके द्वारा हरएक ज्ञानी जीव अपने आत्माको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, दर्शनादि नोकर्म और रागादि भावकर्मसे भिन्न देखता है। तब इसको आत्मा अपने द्रव्य स्वभावसे यथार्थ दर्शनमें आता है। ज्ञानी जीव इसी आत्म तत्वपर लक्ष्य रखते हुये ध्यानका अभ्यास करते हैं, और आत्म-अनुभवको पाते हैं तब उनका आत्मा अपने आत्माके ही गम्भीर सागरमें गोते लगाता है। और इसीसे आत्म ध्यान रूपी अमृतका पान करता है। स्वानुभव एक परम प्रतापवान सूर्य है।

जिसके द्वारा आत्मा अपनी परम ज्योतिमें देदीप्यमान रहता है और सब पदार्थोंको जानते हुए भी निर्विकार रहता है। आत्मानुभव परम सुगंधित फूलोंकी माला है, जिसे पहिनकर तत्वज्ञानी परम शोभायमान रहता है। और आत्मीक वीतरागतामें गमको ग्रहण करता है। आत्मानुभव एक चन्द्र ज्योतिके समान चमकता हुआ शांतभावको झलकाता है। आत्मानुभव ज्ञानियोंके ज्ञानका आभूषण है, उससे अलंकृत होकर आत्मा परम शोभायमान रहता है। यही वास्तवमें भाव निर्जरा है, जिससे कर्मका क्षय होता है और सुखशांतिका लाभ होता है।

२०७–क्षायिक दान विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके विनाशका उपाय विचार कर रहा है। ९ प्रकार क्षायिक भावोंमें तीसरा भाव क्षायिक दान है। जब साधु शुक्लध्यानके बलसे घातीय कर्मोंका क्षय करता है तब दानातराय कर्मके क्षय होनेसे क्षायिक दानकी शक्ति प्रगट होजाती है। इस शक्तिके कारण अर्हन्त भगवान् प्राणीमात्रको अभयदान देते हैं। उनके द्वारा किसी भी प्राणीको कोई भय या कष्ट नहीं होता है तथा दिव्य ध्वनि द्वारा सम्यक्ज्ञानका दान करते हैं, जिससे भव्यजीव आत्म-कल्याणका मार्ग पाकर ससार समुद्रसे पार होनेका उपाय करते हैं। निश्चयसे वह अपने आत्माको निरन्तर आत्मानद देते हैं, अन्तराय कर्म न होनेपर उनके दानमें कोई विघ्न बाधा नहीं होती। अल्प ज्ञानियोंके अन्तराय कर्मके उदय होनेपर दान करनेकी इच्छा होनेपर भी दान नहीं कर पाते हैं। शुक्लध्यान बारवें गुणस्थानमें एकत्वरूप रहता है जिससे परम शुद्ध परिणामोंका विकास होता है क्योंकि वहां मोनी कर्मोंका उदय बिलकुल नहीं होता है। यह क्षायिक दान अनन्त कालतक बना रहता है।

सिद्ध भगवान भी अपनेको स्वात्मानन्दका दान करते रहते हैं। इसके सिवाय जो कोई भक्त श्री अरहन्त सिद्ध भगवानकी आराधना करता रहे, उसको सुख शातिका लाभ होता है। यह भी दान है। इस भावकी महिमा अपार है। शुद्ध आत्मानुभवके प्रतापसे इस शक्तिका प्रकाश होता है। आत्मानुभव परम कल्याणकारी है, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चयनयसे विचार किया जाय तो आत्मामें क्षायिक दानका विकल्प भी नहीं होता है। आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है। परम निरंजन निर्विकार है। न उसमें कर्मोंका बंध और स्पर्श होता है, न वह नर नारक आदि रूप धारण करता है, न उसमें कोई चञ्चलता होती है, न वहां रागद्वेष आदिका विकल्प होता है। वह सदा ही शुद्ध ज्ञायक भावको रखनेवाला है, क्योंकि विकल्पोंसे बाहर है। नाम स्थापना द्रव्यभाव निक्षेपोंसे दूर है, न उसमें ज्ञानके भेद हैं। वह सूर्यके समान सदा प्रकाशमान रहता है। अपनेको और सकल विश्वको विना क्रमके एक साथ जानता है।

हरएक आत्माकी सत्ता निराली है। तो भी द्रव्य अपेक्षा सब समान हैं। जो ज्ञानी जीव इसतरह निश्चयनयसे विश्वकी आत्माओंको देखते हैं उनके अन्तरङ्गमें समताभाव जग जाता है, वे इस समता देवीकी उपासना बड़े गौरसे करते हैं जिस कारण उनके परिणामोंकी उज्वलता समय समयपर बढ़ती जाती है सम्यग्दृष्टिकी चौथे गुणस्थानसे बराबर समतादेवीकी उपासना करते हैं तब मन, वचन, काय स्थिर हो जाते हैं और आत्मा अपने आत्मिक समुद्रमें मग्न हो जाता है वहां निरन्तर स्नान करता है, उसीके शांत रसका पान करता है, यही अमृत रसायन है, इसीसे भव्य जीव अमर हो जाता है। समतादेवी अर्हंत, सिद्ध, उपाध्याय, साधु पांचों परमेष्ठियोंको परमप्रिय हैं, वे इसकी आराधनामें तन्मय रहते हैं। परम समाधिभावका उपयोग रखते हैं। समता परम सुखकारिणी है। यही भाव निर्जरा है जिससे कर्मोंका क्षय हो जाता है, सूर्यका विकाश होता है, ज्ञानियोंको इसीकी उपासना करनेयोग्य है।

२०८–क्षायकलाभ–विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भावोंमें क्षायकलाभ चौथा भाव है। जब साधु बारहवें गुणस्थानमें शुक्लध्यानके द्वारा घातिया कर्मोंका क्षय करता है तब लाभांतराय कर्मके क्षयसे क्षायक लाभ शक्ति प्रगट होती है। इसके प्रभावसे अर्हंत भगवानके परमौदारिक शरीरको पुष्टिकारक नोकर्मवर्गणाओंका लाभ होता है, जिससे ग्रास रूप भोजन किये विना ही शरीरका पोषण होता है। अर्हंतको नित्य ही आत्मानंदका लाभ होता है, यह भी क्षायक लाभ है। यह शक्ति अनन्तकाल तक बनी रहती है। सिद्धोंके कषायके अभावसे कर्मोंका बंध नहीं होता है, इससे उनके ज्ञान और आनंदमें कोई अन्तराय नहीं पड़ता है। निश्चयनयसे आत्मामें क्षायकलाभका कोई भेद नहीं है, आत्मा सदा ही अनन्त वीर्यमय है। आत्मा अपने स्वभावसे अभेद निरंजन निर्विकार है इसका स्वरूप परमशुद्ध ज्ञानानंदमय है। यद्यपि हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न है तथापि स्वरूपसे समान है। तत्वज्ञानी जीव द्रव्य दृष्टिसे अपने और परके आत्माको एकसमान शुद्ध देखते हुए समताभावमें लीन होजाते हैं, वीतरागताका प्रकाश करते हैं, जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती है, और आत्मानंदका लाभ होता है। आत्माकी परतंत्रताका कारण रागादिक भाव हैं। इन्हींसे कर्मका बंध होता है। स्वतंत्रताका उपाय सिद्धत्वका शुद्ध तत्वका श्रद्धान ज्ञानादिक आचरण है, यही निश्चय रत्नत्रयका भाव है। संसारी जीवोंमें लाभान्तरायका उदय रहनेसे साता-

-कारी पदार्थोंका लाभ नहीं होता है। शुद्धात्मामें अन्तराय कर्मोंके नाशसे अनन्त वीर्य प्रगट होता है।

आत्मा अपने स्वरूपसे दर्पणके समान है जिसमें लोकालोकके समन्त पदार्थ एकसाथ झलकते हैं तौभी कोई विकार नहीं होता है। क्योंकि रागादिकका कारण मोहभाव नहीं है। तत्वज्ञानी व सम्यग्दृष्टी भलप्रकार निज तत्वके श्रद्धानमें दृढ रहते हैं और भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने स्वरूपको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न अनुभव करते हैं। जब उपयोगको मन, वचन, कायके विकल्पोंसे दूर रक्खा जाता है, तब स्वानुभवकी शक्ति प्रगट होती है। स्वानुभव ही स्वतंत्रताकी सीधी सडक है। इसी ही पर सर्व ही धर्म आत्मा गृहस्थ या साधु चलते हैं। उनका मुख सिद्ध स्वरूपकी तरफ रहता है। संसारसे विमुख रहता है। उनको दृढ श्रद्धान है कि अपना निज स्वरूप ही ग्रहण करनेयोग्य है। और पर स्वरूप त्याग्य है। वे अपने स्वरूपमें निःशंक रहते हैं, पर पदार्थकी वांछा नहीं रखते, सबपर समताभाव रखते हुए ग्लानि भावसे अलग रहते हैं, कभी भी मूढताको आश्रय नहीं करते हैं। अपने गुणोंको बढाते हैं। अपने श्रद्धानमें स्थिर रहते हैं। रत्नत्रयसे वात्सल्यभाव रखते हैं। आत्म-धर्मकी भावना करते हैं। इन आठों अंगोंको पालते हैं और मोक्षमार्गको तय करते जाते हैं। स्वानुभव ही निर्जराभाव है, यही सार तप है, इसहीका आश्रय करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। सुख शांतिका यही मार्ग है, स्वतंत्रताका यही उपाय है।

२०९–क्षायिक भोग विचय–धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके विनाशका उपाय विचार करता है। नव प्रकार क्षायिकभावमें क्षायिक भोग पाचवा भाव है। एक साधु शुक्ल ध्यानके बलसे जब घाती कर्मोका विनाश करता है तब भोग अंतराय कर्मके नाशसे आत्मामें क्षायिक भोगकी शक्ति प्रगट हो जाती है। अर्हन्त भगवानके समवशरणमें पुष्पोंकी वृष्टि होती है। भगवानको कोई प्रकारकी बाधा नहीं होती। वे प्रभु अपने आत्मीक रसका पान करते हैं यह भी क्षायिक भोग है। यह शक्ति भगवानके अनंतकाल तक बनी रहती है। प्रभु वीतराग रहते है, सिद्ध भगवान भी आत्मीक रसका भोग करते हैं।

निश्चयनयसे आत्मामें इस शक्तिका कोई भेद नहीं है। आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है। परम निरंजन ज्ञातादृष्टा एकरूप है। आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है। हरएक आत्माकी सत्ता निराली है, प्रदेशोंसे सब समान हैं तौभी अनन्तकाल तक अपनी सत्ता भिन्न रखते हैं। आत्माका तत्व अद्भूत है इसमें सर्व विश्व झलकता है तौभी कोई विकार पैदा नहीं होता। भेदविज्ञानके प्रतापसे व अपनेको सर्व रागादिक भावोंसे जुदा विचारते हैं तब उनके भीतर स्वात्मानुभव प्रगट होजाता है और वे इस अनुभवके द्वारा परम तृप्त रहते हैं। आत्मिकरसका पान करनेसे वे परम पुष्ट रहते हैं। उनके मन, वचन, काय आत्मिक रससे पुष्ट हो बाधक नहीं होते। ज्ञानी जीव इन्द्रियभोग करते हुए तृप्ति नहीं पाते। क्योंकि भोग अन्तराय कर्मका उदय है। आत्मज्ञानी होकर हरएक पक्षमें उत्साही रहता है और समभावका प्रेमी होजाता है जिससे परम-

शांतिका अनुभव पाता है और मोक्षमार्गके ऊपर चलता है, संसारसे उदासीन रहता है, मगलमय जीवन विताता है। आत्मिक रसका पान ही स्वतन्त्रताका उपाय है इसीसे कर्मकी निर्जरा होती है। इसके बिना व्रत, तप, जप सर्व वृथा है।

धर्मका सार आत्मज्ञान है। जैसे रसोईमें लोन डालनेसे स्वाद आजाता है ऐसे ही आत्मज्ञानसे हरएक धर्मकार्यमें रस आजाता है। आत्मज्ञान चिंतामणि रत्नके समान है, सर्व आकुलताओंको निवारण करनेवाला है। आत्मामें गुणोंका समूह है और अनंतधर्म है। स्याद्वाद-नयसे इसका यथार्थ ज्ञान होता है। जो स्याद्वादनयमें कुशल हैं वो संयमी पुरुष हैं, वो ही आत्म श्रद्धान कर सकते हैं, सुख-शांतिका अनुभव उन्हींको होता है।

२१०-क्षायिक उपभोगविचय-धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नव प्रकार क्षायिकभावमें क्षायिक उपभोग छठा भाव है। शुक्ल ध्यानके बलसे घातीय कर्मोंका क्षय हो जाता है तब क्षायिक उपभोगकी शक्ति प्रगट होजाती है, जिससे अरिहन्त भगवानके समोसरणमें नाना प्रकारकी समोसरण विभूतिका संयोग होता है। और आत्मामें आत्मानंदका वारवार उपभोग होता है। यह शक्ति अनन्तकाल तक बनी रहती है। सिद्धोंमें भी रहती है। निश्चयनयसे आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है। निरंतर अपने स्वरूपमें तल्लीन है, निर्विकार है, निरंजन है, सर्व प्रकार रागादि भावोंसे शून्य है। परम प्रतापशाली है। एक

अद्भुत पदार्थ है। उसी ज्ञानमें सर्व विश्व रहता है। तौ भी
निर्लेप है। आत्मतत्त्वका ज्ञाता ही सम्यग्दृष्टी होता है। वह अ
स्वरूपमें एकसा बना रहता है। उसको संसार असार दीखता है
मोक्षतत्त्व ही सार दीखता है। वह स्वतन्त्रताका पुजारी है। हरएक प
निराकुल रहता है। और आत्मानन्दका उपभोग करता है। जि
परम शांतिका अनुभव कर रहा है। उसके ज्ञानमें केवली भगवान
तरह सर्व पदार्थ यथार्थ दिखते हैं। वह किसी पदार्थमें रागद्वेष न
करता है। कर्मोंके उदयको साम्यभावसे देखता है और अपनी बुद्धि
तत्त्वज्ञानके साधनमें लगाता है, परम मग्न रहता है। गुणस्थान
अनुसार मार्गमें निश्चल रहता है, मोक्षमार्गपर दृढतासे चलता
ज्ञान वैराग्यको अपनी खड्ग बनाता है। जिससे कर्मोंको काटता उ
है, परम सन्तोष मानता है।

तत्त्वज्ञानके प्रतापसे समभाव उत्पन्न होजाता है जिससे
विश्वकी आत्माओंको सिद्ध और संसारी जीवोंको एक समान दे
है। समताभाव सीधी सड़क है, जो मोक्षमहल तक चली गई
उसके पथिक समान दृष्टिसे चलते हैं, और निराकुल रहते हैं। स
मावके दृढ करनेको स्याद्वादके ज्ञानकी जरूरत है। जिससे वस्तुउ
अनेकान्त धर्मोंको सम्यक् प्रकारसे विचार करके वीतराग रहा ज
और संयमकी आवश्यकता है, जिससे मन वचन कायको स्थिर
स्वरूपमें तल्लीन किया जाय। भेदविज्ञानके प्रतापसे अपना स
परसे भिन्न दीखता है। जैसे दाल छिलका अलग है, तेल और
अलग है, [illegible] अलग है और शाकादि भिन्न

जल मल चन और अग्नि अलग है, उसी तरह कर्म नोकर्म, भाव कर्मके भीतर आत्मा भिन्न दीखता है। तब स्वानुभव करनेकी कला प्राप्त होती है। जिससे ज्ञानी जीव अपने स्वरूपके सम्मुख रहता है। यही परम पुरुषार्थ है। इससे निर्जरा भाव प्रगट होजाता है, जो आत्माको कर्मोंसे छुड़ाता है। और शुद्धताका प्रकाश करता है। ... मेटकर स्वतन्त्रता प्रकाश करता है।

२११–क्षायकवीर्य विचयध–र्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। शुक्लध्यानके प्रभावसे जब घातिया कर्मोंका क्षय होजाता है तब वीर्यांत कर्मके नाशसे क्षायकवीर्य गुण प्रगट होता है। इस गुणके प्रता अनन्तकाल तक कोई निर्बलता नहीं आती। यह गुण अनन्तकाल त ब रहता है। सिद्धोंमें भी प्रगट रहता है। जबतक इस गुणका ला नहीं होता है, आत्मा पूर्ण शक्तिको प्राप्त नहीं होता है। सपूर्ण गुणोंव यह गुण स्थिर रखनेवाला है। निश्चयनयसे विचार किया जावे तो आत्मामें इस गुणका कोई विकार नहीं है। आत्मा सदा ही अपन गुणोंसे अभेद है। परम निरजन निर्विकार है। आत्मद्रव्य स्वपर ज्ञाता-दृष्टा है, दर्पणके समान पदार्थोंको प्रकाश करते हुए निर्विकार रहता है।

यह परम सूक्ष्मतत्व है। मन, वचन, कायसे अगोचर है। यद्यपि छ द्रव्यमई लोक है तथापि आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय उभय रूप है। अनात्म द्रव्य ज्ञेय मात्र है। जो इस तत्वको समझते हैं वही सम्यग्दृष्टी हैं, उनको हरपदमें भेदविज्ञानके द्वारा आत्माका दर्शन होता है।

श्रुतज्ञान इसमें सहायक है। आत्म दर्शन ही मोक्षमार्ग है, इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित हैं। आत्मा एक गम्भीर समुद्र है, जो कि अपने स्वरूपमें नियमित रहता है। पवनके वेगोंके समान भारी पदार्थोंके सम्बन्धमें विकृत नहीं होता है और आत्मा अनंत गुण-रूपी रत्नोंका भण्डार है। आत्मतत्वका ज्ञाता ही जिन हैं।

इसीका अपूर्ण प्रकाश अभ्यासमें रहता है। केवलज्ञानके समय पूर्ण प्रकाश होजाता है। अनंतवीर्य आत्माका प्रभावशाली गुण है। शुद्ध आत्माको कभी अशुद्ध नहीं होने देता। मुनियोंको बड़े बड़े उपसर्ग आते हैं जो वे आत्मबलसे जीतते हैं। परमानंदका लाभ शुद्ध आ-त्माको इसके प्रतापसे बना रहता है। यह आत्माका परम आभूषण है।

आत्माको आत्मस्वरूपमें सदा रखनेको यह परम सहायक है। अन्तराय कर्मके नाश हो जानेके बाद फिर उसका बंध नहीं होता। इसलिये कोई निर्बलता नहीं आती। ज्ञानी जीव अपने आत्मबलको सम्हालते हुए आत्माका अनुभव करते रहते हैं। इससे सुख-शांतिका अनुभव करते हैं और स्वतंत्रताको प्राप्त करते हैं।

२१२–क्षायक सम्यक्तविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भावोंमें, क्षायक सम्यक्त आठवां भाग है। जब क्षयोपशम या वेदक सम्यग्दृष्टी करणलब्धिके द्वारा अनंतानुबन्धी चार कषायको विसंयोजन करके दर्शनकी तीनों प्रकृतियोंका क्रमसे क्षय करता है, तब क्षायक [illegible]व प्रगट होता है। यह भाव केवली व

केवलीके निकट चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक किसीमें प्रगट होता है। यह परम निर्मल भाव है, इसका कभी नाश नहीं होता है। केवलज्ञानीके इस भावको परमावगाढ़ सम्यक्त कहते हैं। इस भावका धारी अपने शुद्ध आत्माको परम निर्मल निश्चल अनुभव करता है। और उसी भवसे या तीसरे भवसे या चौथे भवसे मुक्त हो जाता है।

निश्चयनयसे विचार किया जावे तो आत्मामें इस भावका कोई विकल्प नहीं है। आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है। आत्मा नित्य निरञ्जन निर्विकार परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा एक अखण्ड पदार्थ है। यह मन वचन कायके अगोचर है। आत्मतत्व सब तत्वोंमें सार है। इसके सिद्धान्तको जो ठीक समझता है वही जैनी है। वह जगतमें दर्पणके समान ज्ञातादृष्टा रहता है। उसके ज्ञानमें सर्व पदार्थ यथावत् झलकते हैं। तौ भी कोई विकार नहीं होता है। क्योंकि मोहनीय कर्मका सर्वथा नाश हो गया है। आत्मतत्व एक अद्भुत रत्नाकर है, जिसमें अनन्त गुणोंका निवास है, परन्तु ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रागादिक भाव कर्मोंका अभाव है। इस समुद्रमें परम शांत समरसका प्रवाह है। इस शान्त रसको आत्मज्ञानी पीते हैं। और उसीमें मज्जन करते हैं। और कर्ममलको धोते हैं। शांत रसके सामने कोई भी रस ठहर नहीं सकता। क्योंकि उसमें वीतरागताका अनुभव रहता है। स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, जिसपर साधुगण चलकर मोक्षमार्गको तय करते हैं और अनुपम ज्ञानभावका स्वाद आता है। स्वानुभव परम प्रतापशाली सूर्य है जिसमें कषायकी उष्णता नहीं है, परम निष्कषाय भाव है। इस भावके प्रकाश करनेवाले सम्यग्दृष्टी होते हैं, जो निरन्तर

साम्यभाव रहकर समय बिताते हैं और जगतमें शांतिका उदाहरण पेश करते हैं। क्षायक सम्यक्ती निर्मल सम्यक्तीके प्रभावसे अपने श्रद्धानमें निश्चल रहते हैं। कर्मोंके आन पर भी विचलित नहीं होते हैं। उनके सम्यक्तके प्रभावसे सदा ही निर्जरा रहती है। आत्मानुभवके समय विशेष कर्मकी निर्जरा करते हैं। यह उनके ज्ञानवैराग्यका फल है। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी किसी भी परभावकी इच्छा नहीं करते। अपने स्वरूपके स्वादके प्रेमी बन रहते हैं जिससे सदा ही निर्मोही रहते हैं।

२१३-क्षायिक चारित्रविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकारके क्षायिक भावोंमें क्षायिक चारित्र नौवा भाव है। जब साधु शुक्लध्यानके बलसे क्षपकश्रेणीपर आरूढ होता है तब दसवें गुणस्थानके अन्तमें चारित्र मोहनीयकी सर्व प्रकृतियोंका क्षयकर डालता है। तब क्षायिक चारित्रगुण प्रगट होता है। इससे वीतरागता प्रकाशमान होजाती है। रागद्वेष आदिकी कल्लोलें मिट जाती हैं, आत्माका भाव पूर्ण निर्विकार रहता है। यह गुण अर्हन्त और सिद्धोंमें भी रहता है। शुद्ध पारिणामिक भाव हो जाता है। आत्माका स्वभाव निरंजन अमूर्तिक निर्विकार है। ज्ञानकी अपेक्षा देखा जावे तो आत्माके ज्ञानमें सर्व विश्वके पदार्थ अपने गुणपर्याय सहित दर्पणके समान झलकते हैं। न पदार्थ ज्ञानमें प्रवेश करते हैं, न ज्ञान पदार्थमें प्रवेश करता है। आत्मतत्व ही सारतत्व है, इस तत्वको जो समझते हैं वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं। संसारमें सम्यग्दृष्टी जीव जलमें कमलके समान अलिप्त रहते हैं। धर्मका स [illegible] है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञा [illegible],

सम्यक्चारित्र तीनों गर्भित है। भेदविज्ञानके द्वारा आत्मज्ञान होता है। तैजस कार्माण और औदारिक शरीरके मध्यमें आत्मा व्यापक है तो भी उनसे स्पर्श नहीं करता है। मिथ्यादृष्टीकी श्रद्धा आत्मतत्व पर नहीं रहती। वह आत्माका स्वरूप औरका और जानता है। चिदानन्दमई आत्मतत्व उसकी पकड़में नहीं आता है। आत्मतत्व बहुत सूक्ष्म है। मन, वचन, कायसे अगोचर है।

जो कोई सर्व इन्द्रियोंको और मनको रोककर भीतर देखता है उसको स्वानुभव जागृत होजाता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, इसीसे स्वतन्त्रताका लाभ होजाता है। इसी भावसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और आत्माके गुण प्रगट होते रहते हैं। जहांपर सर्व तर्कोंके विकल्पोंका अभाव है वहां स्वानुभव प्रगट होजाता है। चौथे गुणस्थान स्वसंवेदन झलक जाता है और बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष, मोह नहीं होते हैं।

जगतमें घोर उपसर्ग सह करके भी जबतक आत्मतत्व प्रगट नहीं होता है, तबतक मोक्षमार्गका लाभ नहीं होता है। क्योंकि वहां भेदविज्ञानकी कला नहीं जागी। स्वानुभव चन्द्रमाके तुल्य बढ़ता जाता है। केवलज्ञानीके भीतर स्वानुभव पूर्ण होजाता है। वे परम वीतराग और निश्चल रहते हैं। स्वानुभव अमृतमयी भोजन है, जिसका स्वाद सुखशांतिमय है। सिद्धोंके भीतर यह स्वानुभव सदा बना रहता है। इसीसे सिद्ध भगवान अनन्तसुखका वेदन करते हैं। ज्ञानी जीवोंका आभूषण यह स्वानुभव है। संसारमें रागद्वेष, मोहके बंधके कारण हैं। वीतरागभाव सवर निर्जराका उपाय है। इसको प्राप्त करके अभ्यासी जीव परम तृप्त होजाता है।

२१४-क्षयोपशमिक मतिज्ञान विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार क्षयोपशमिक भाव हैं। मतिज्ञान पहिला भाव है। मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे और वीर्य अन्तरायके क्षयोपशमसे मतिज्ञान पैदा होता है। सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे प्रगट होता है। मतिज्ञान पांच इंद्रिया और मनके द्वारा पदार्थका सीधा ज्ञान है। सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं। अवग्रह ईहा अवायक भेदमें मतिज्ञान होता है। चार इन्द्रिया पदार्थको स्पर्श करके जानती हैं। आंख और मन दूरसे जानते हैं। मतिज्ञानमें पहिले दर्शन होता है, फिर अवग्रह, जिसमें कुछ आकार ग्रहण होता है। फिर विशेष ज्ञान होता है, जिसको ईहा कहते हैं। फिर पदार्थका निश्चय हो जाता है जिसको अवाय कहते हैं। फिर धारणा हो जाती है। फिर स्मृति प्रत्यभिज्ञान चिन्ता अनुमान होजाता है। सम्यग्दृष्टी जीव पदार्थोंको जानकर समभाव रखते हैं, वस्तु स्वरूपको विचार लेते हैं, पदार्थोंमें रागद्वेष नहीं करते हैं, मतिज्ञानसे मोक्षमार्गका साधन करते हैं। यह मतिज्ञान मोक्षमार्गमें सहायभूत पदार्थोंके जाननेमें उपकारी है। निश्चयनयसे ज्ञानमें कोई भेद नहीं है।

ज्ञान एक प्रकार सूर्य समान तेजस्वी है। आत्मा परम शुद्ध निरंजन निर्विकार है। कर्मोंसे न बद्ध है न स्पृष्ट है। आत्मा अनेक अवस्थाओंमें रहनेपर भी अपने अमूल्य स्वरूपको नहीं त्यागता है। आत्मतत्वकी गम्भीरताको समुद्र आदिक किसी पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती। आत्मा परम पुद्गल तत्व है। जो इस तत्वको परि-

चानन है वही ज्ञानी सम्यग्दृष्टी हैं। वे इस लोक, परलोक, वेदन अनरक्षा, अगुप्ति, मरण, आकस्मिक ऐसे सप्त भयोंसे रहित हैं। आत्म तत्व परम प्रकाशमान पूर्णमासीका चन्द्रमा है, जिसको कोई आवरण कभी ढक नहीं सकता। वह नित्य उद्योत करता है। आत्मा सुख शांतिका सागर है जिसमें ज्ञानीजन नित्य कल्लोल करते हैं और उसीका शान्त रसपान करते हैं। इसी तत्वके वार वार मननसे स्वानुभव प्रकाशमान होता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है। स्वानुभवी जीव नित्य ध्यान दमें मगन रहते हैं, और कर्मकी परतन्त्रताकी वेडी काटकर स्वतन्त्र होते जाते हैं। स्वानुभव ही भाव निर्जरा है।

२१५–श्रुतज्ञानविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। क्षयोपशमिक दूसरा भाव श्रुतज्ञान है। इसको श्रुतज्ञान इसलिये कहते हैं कि अर्हत भगवानकी दिव्य ध्वनि खिरती है उसको गणधर सुनते हैं और उसीके आधारपर द्वादशांग वाणीकी रचना करते हैं। उस वाणीको श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञान होता है। इसके दो भेद हैं–अनक्षरात्मक, अक्षरात्मक। मतिज्ञान-पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेंद्रिय आदिक सब जीवोंके होता है। जैसे शीतका स्पर्श हो उसका ग्रहण मतिज्ञान है। पश्चात् उसका सुहावना व असुहावना मालूम होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षरोंको सुनकर उनके अर्थका ज्ञान होना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। आचारांग आदि बारह अंग अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।

जिनवाणीका मननकर भेदविज्ञानपूर्वक आत्माका अनुभव होना भाव-श्रुतज्ञान है। भावश्रुतज्ञानके मननसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है।

श्रुतज्ञानके अनुभवमें द्वादशांग वाणीका सार है। निश्चयनयसे विचार करनेपर ज्ञानमें कोई भेद नहीं। ज्ञान एक ही प्रकार है। जैसे सूर्यके प्रकाशमें कोई भेद नहीं।

आत्मा स्वभावसे अभेदरूप है, निरंजन निर्विकार है। कमलके समान कर्म नोकर्मसे अलिप्त है। मन और इन्द्रियोंके अगोचर है। जो मन और इन्द्रियोंको संयममें लाकर भीतर देखते हैं उनको आत्मदर्शन होता है। आत्मा आपसे ही जानने योग्य है, परमसूक्ष्म पदार्थ है। इस तत्वको जो समझते हैं वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है। उनको जगतमें हरएक आत्मा शुद्ध दीखती हैं, तब रागद्वेषका अभाव हो जाता है, समभाव जाग जाता है। इस समभावमें जो लीन होते हैं वे प्रचुर कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। उनके भीतर सम्यग्ज्ञान और वैराग्यशक्ति प्रगट हो जाती है। गृहस्थ हों या मुनि वे सब आत्मानुभवकी प्राप्ति समभावसे करते हैं। आत्मानुभव मोक्षमहलकी सीधी सड़क है शुद्धोपयोग स्वरूप है, धर्मध्यान और शुक्लध्यानमय है। इस आत्मानुभवमें रत्नत्रय गर्भित है। परम निराकुलताका स्थान है। जो कोई शुभ अशुभ भावोंसे मुह मोड़ लेते हैं वही शुद्धात्मानुभवको पाते हैं। यह स्वानुभव ज्ञान अमृतका सागर है। जो इसमें गोते लगाते हैं वही शुद्ध हो जाते हैं। ज्ञानी जीव इसी भावको भाव निर्जरा समझते हैं, जो स्वतन्त्रता पानेका एक मात्र उपाय है।

२१६–अवधिज्ञानविचय–धर्मध्यान, निजरामाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। तीसरा क्षयोपशमभाव अवधिज्ञान है। जिसमें द्रव्यक्षेत्रकालभावकी मर्यादा है। इसलिये उसको अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान परकी सहायता विना आत्मासे ही होता है। इसलिये इसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानके द्वारा भविष्य और भूतकालकी बातोंको भी जाना जाता है। देव और नारकियोंको यह ज्ञान जन्मसे ही होता है। इसलिये इसको भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सम्यग्दर्शन तथा तपादिकके प्रभावसे होता है, उसको गुणप्रत्यय कहते हैं। मनुष्य तिर्यंचोंको भी गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, जिसमें ज्ञानावर्णीय कर्मका क्षयोपशम होता है।

अवधिज्ञान छह प्रकारका भी है। अनुगामी जो दूसरे क्षेत्रभवमें साथ२ जाय। अननुगामी जो दूसरे क्षेत्रभवमें साथ न जावे। वर्द्धमान जो ज्ञान बढ़ता जावे। हीयमान जो ज्ञान घटता जावे। अवस्थित जो ज्ञान स्थित रहे। अनवस्थित जो ज्ञान एकसा स्थित न रहे। जो कभी घटे कभी बढ़े। इस ज्ञानके तीन भेद और भी हैं–देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। परमावधि और सर्वावधि दो ज्ञान साधुओंको होता है, जो उसी जन्ममें मोक्ष जानेवाले हैं। देव नारकियोंको देशावधि ही होता है। अवधिज्ञानी कई जन्मोंकी बातोंको जान सकता है। अवधिज्ञानका विषय मूर्तिक पदार्थ है। अर्थात् संसारी आत्मा और पुद्गल है। अमूर्तिक पदार्थोंको नहीं जानता है यह अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टीके होता है।

सम्यक्त्वी अवधिज्ञानसे विषयोंको जानकर उनमें आसक्त नहीं होता है निश्चयनयसे विचार किया जाय तो ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। कर्मोके निमित्तसे यह भेद हो जाते हैं। ज्ञानी जीव हरएक आत्माको शुद्ध व एकरूप देखते हैं तब उनके रागद्वेषका अभाव हो जाता है, समभाव जागृत होजाता है। इस समभावसे कर्मोकी निर्जरा होती है, और सुखशांतिका लाभ होता है। तत्वज्ञानी जीव आत्माके भीतर आपसे आप मगन होते हुए मोक्षमार्गपर चढ़ते जाते हैं। धर्मध्यान शुक्लध्यान इस भावसे प्रगट होजाते हैं। स्वानुभूति जागृत हो जाती है। भेदविज्ञानका अभ्यास करनेसे स्वानुभूति प्रगट रहती है।

स्वानुभूतिके समय मन, वचन, कायके विकल्प नहीं उठते हैं। एक शुद्ध अद्वैतभाव प्रकाशमान होजाता है। मन, वचन, कायकी क्रिया स्थिर होजाती है, और निर्जराभाव झलक जाता है।

२१७–मन पर्यय ज्ञानविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके नाशका उपाय विचार कर रहा है। मन - पर्यय ज्ञान क्षयोपशम भाव है। यह मन पर्यय ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, ऋद्धिधारी साधुको प्राप्त होता है। दूसरेके मनमें चिंतित बातको जानना उसका विषय है। इसके दो भेद हैं– ऋजुमती, विपुलमती। दूसरेके मनमें सरल उपस्थित बातको जान लेना ऋजुमतीका विषय है। वर्तमान कालमें चिंतित की हुई बातको ऋजुमती जानता है। सरल और वक्र दोनों प्रकारकी बातोंको जो दूसरेके मनमें वर्तमानमें हो या भूतकालमें हो या भविष्यमें हो उसको विपुलमती ज्ञान जान सक्ता है। इसका विषय अवधिज्ञानसे भी सूक्ष्म

पशमस होता है। मतिज्ञानके साथ मिथ्यादर्शनका उदय रहता है। इसलिये इसको कुमतिज्ञान कहते हैं। कुमतिज्ञान पाच इन्द्रिय और मनके द्वारा पदार्थोंको जानकर अपने ज्ञानको मोक्षमार्गसे विपरीत कार्योंमें प्रयोग करता है। जिससे अपना और दूसरोंका हित न हो ऐसे कार्योंके करनेकी बुद्धि करता है मतिज्ञानके ३३६ भेद इस प्रकार होते हैं अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा, चार प्रकार मतिज्ञान १२ प्रकारके पदार्थोंका होता है। बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र (शीघ्रगामी), अक्षिप्र (मन्दगामी), अनिश्रित (छिपा हुआ), निश्रित (प्रगट दिखनेवाले), अनुक्त (बिना कहा हुआ), उक्त (कहा हुआ), ध्रुव (दीर्घकाल स्थायी) और अध्रुव (क्षणभंगुर)।

इसलिये १२को ४ से गुणा करनेपर ४८ भेद हुये। यह ५ इन्द्रिय और मन द्वारा हो सकता है। इसलिये ४८ को गुणा करनेपर २८८ हुये। यह भेद अर्थ–अवग्रहके हैं, जिसमें पदार्थका स्पष्ट ज्ञान होता है। जहां पदार्थका ज्ञान स्पष्टज्ञान न हो, कुछ ग्रहण मात्र हो उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। इसमें ईहा, आवाय, धारणा नहीं होसकते स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण, यह ४ इन्द्रिया पदार्थोंको स्पष्ट कर जानती हैं। आंख और मन दूरसे जानते हैं। बारह प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण होसकता है। इसलिये बारह भेद हुए। ४ इन्द्रीकी अपेक्षासे ४८ भेद हुए। कुल भेद ३३६ हुए। मिथ्यादर्शनके कारण कुमतिज्ञान बहुत अनर्थकारी होता है। कुमतिज्ञानके कारण बुद्धि उल्टा [illegible] करती है। हिंसादि पापोंको बढानेमें बुद्धि प्रवीणता बताने [illegible] ज्ञानी पदार्थोंको ज [illegible] उनसे

विषयकषायोंमें प्रयोग करता है। नानाप्रकारके अस्त्रशस्त्र खोटे अभि प्रायसे बनाता है। जितना अधिक कुमतिज्ञान होता है, उतना अधिक उसके आत्माको हानिकारक होता है। उसको आत्मतत्वका श्रद्धान नहीं होता है।

कुमतिज्ञानसे इन्द्रियोंका दुरुपयोग करता है। कुमतिज्ञान एकेंद्री आदि सब ही मिथ्यादृष्टी प्राणियोंमें पाया जाता है। जिनके मन नहीं है व अधिक विचार नहीं कर सकते तथापि प्राप्त शरीरमें मोह होनेके कारण अज्ञान भाव रहता है। सैनी मनवाले प्राणियोंका कुमतिज्ञान सम्यग्दर्शनके होनेपर सुमतिज्ञान हो जाता है। इस तरह कुमति ज्ञान हानिकारक है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो ज्ञानमें अनेक भेद नहीं हैं। ज्ञान एक आकार सूर्यके समान सर्व प्रकाशक है और वीतराग भी है। क्योंकि जाननेमात्रसे राग द्वेष नहीं होता है। निश्चयसे आत्मतत्व एक अद्भुत पदार्थ है, जिसका सम्यक् प्रकारसे ज्ञान सम्यग्दृष्टी महापुरुषोंको होता है। वे अपने ज्ञानमें पदार्थोंका सत्य स्वरूप केवलज्ञानीकी तरह जानते हैं। और ज्ञान वैराग्यकी शक्तिसे कभी पदार्थोंमें मोहित नहीं होते। वे आत्मतत्वके ज्ञाता आत्माके ध्यानपर लक्ष रखते हैं, जिससे स्वानुभूति उत्पन्न होजाती है, जिससे उनको सुख शांतिका अनुभव होता है।

स्वानुभूति एक अग्नि है जो कर्मरूपी ईंधनको जलाती है। यह रत्नत्रय स्वरूप है। यही भाव निर्जरा है। इसी अग्निको सेवन करनेवाले यथार्थ ब्रह्मवेदी हैं। उन्हींका जीवन सफल है।

२१९-कुश्रुतज्ञान विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार रहा है। कुश्रुत ज्ञान भी क्षयोपशमिक भाव है। इस ज्ञानको कुश्रुत इसलिये कहते हैं कि श्रुतज्ञानके साथ मिथ्यादर्शनका उदय मिला हुआ है, जिसके कारण प्राणी श्रुतज्ञानका उपयोग सांसारिक भावनामें करता है। जिनके मन नहीं है उनको अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है। सैनिक प्राणीके अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भी होता है। कुश्रुत ज्ञानके प्रभावसे शास्त्रज्ञान कषायकी पुष्टिमें काम करता है। कुछ लोग किसीपर क्रोधित हो करके किसी व्यक्तिके हानि करनेमें कुश्रुति ज्ञान काम करता है। कुछ लोगोंको शास्त्रज्ञानका अभिमान हो जाता है, वे अपनी प्रतिष्ठा करानेमें ही शास्त्रज्ञानका उपयोग करते हैं। और मानपुष्टिके लिये नाना प्रकारके व्याकरणादि ग्रन्थोंकी रचना करते हैं और सन्मान पाकर बहुत राजी हो जाते हैं। कभी कोई मिथ्या ज्ञानके प्रचारमें अपनी माया कषायके कारण तत्पर हो जाते हैं। कुछ लोग लोभके उदयसे ऐसे शास्त्रोंकी रचना करते हैं जिनसे उनका लोभ पुष्ट होता है। और जगतमें मिथ्यात्वका प्रचार होता है। कुश्रुतज्ञानके कारण ऋग्वेद आदि ग्रन्थोंका ऐसा अर्थ किया जाता है जिससे यज्ञमें व देवी देवताओंके मठोंमें धर्मके नामसे पशुबलि हो। कुश्रुतज्ञानी शास्त्रज्ञानका बड़ा दुरुपयोग करते हैं। जिन शास्त्रोंसे आत्मकल्याण करना था उनसे सांसारिक प्रयोजन चलता है। कुश्रुतज्ञानी मिथ्या ज्ञानके कारण कुधर्मका प्रचार करके जगतको ठगते हैं। कुश्रुतज्ञानी एकान्त नयसे वस्तुका स्वरूप प्रतिपालन करते हैं, असत्यका जगतमें प्रचार करते हैं।

जिस शास्त्र ज्ञानसे मोक्षमार्गका प्रयोजन सिद्ध न किया जावे वह सब कुश्रुतज्ञान है। कुश्रुतज्ञानी अशुभ परिणामोंसे महान कर्म बन्ध करते हैं। इसलिये कुश्रुतज्ञान जीवका अपकार करनेवाला है। निश्चयनयसे आत्मामें कोई भेद नहीं है। वह ही एक अभेद सूर्यके प्रकाश समान ज्योतिमान है। निश्चयसे आत्मा परम शुद्ध निर्मल व अविनाशी अमूर्तिक ज्ञाताद्रष्टा एक स्वतन्त्र पदार्थ है। इसमें कोई पर पदार्थका सम्बन्ध नहीं है। वह स्फटिकमणिके समान परम स्वच्छ है। आत्मज्योतिकी उपमा किसी भी भौतिक पदार्थसे नहीं दी जा सकती। यह अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रकाश करनेवाली है। इसको रात्रिका अन्धकार नहीं है, न वह मेघोंसे आच्छादित होता है, न राहु आदि नक्षत्र उसमें बाधक होजाते हैं। इस आत्म-ज्योतिको भीतर देखनेवाले ज्ञानी और सम्यग्दृष्टी हैं। वे इस दृष्टिसे स्वस्वरूपमें रहते हैं। और इन्द्रिय विषय विकारोंसे बचकर अतीन्द्रिय आनन्दका लाभ करते हैं। उनके भीतर शुद्ध उपयोग भाव निर्जरारूप प्रगट रहता है जिससे पिछले कर्मोंकी निर्जरा होती है और सुख-शांतिका लाभ करते हुये वे परम सन्तोषी रहते हैं।

२२०-कुअवधिज्ञानविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कुअवधिज्ञान क्षयोपशमिक भाव अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। यह ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भावके मर्यादापूर्वक पदार्थोंको जानता है। मिथ्यात्व के उदयमें इस ज्ञानको कुअवधिज्ञान

कहते हैं । मिथ्यादर्शनके कारण मिथ्यादृष्टी जीव उस ज्ञानसे पदार्थोंको जानकर ज्ञानका उपयोग अशुभ भावमें करता है । परिणामोंको संक्लेशित कर लेता है । जो भाव संसारको बढानेवाले हैं उनकी पुष्टि करता है । यह भाव चारों गतिके जीवोंको हो सकता है । इस ज्ञानसे मिथ्यात्व कर्म पुष्ट होता है, कषायोंकी तीव्रता होजाती है । मिथ्यात्वके समान जीवका कोई शत्रु नहीं है । उल्टे मार्गमें लेजानेवाला मिथ्यात्व भाव है ।

जो सम्यग्दर्शनरूप, आत्मीकगुणको प्रगट नहीं होने देता, मिथ्यादृष्टि जीवको स्वानुभवका लाभ नहीं हो सकता है । क्योंकि उसका श्रद्धान अपने आत्मतत्वपर नहीं रहता है । निश्चयनयसे ज्ञानमें कोई भेद नहीं है । सूर्यके प्रकाशकी तरह ज्ञान एकाकार सदा प्रगट रहता है । ज्ञानका स्वभाव सर्व ज्ञेय जानने योग्य पदार्थोंको अक्रमसे एकसाथ जानना है ज्ञानके विषयको मन, वचन, काय द्वारा प्रगट करनेमें क्रमवार होता है । क्योंकि इसमें परकी सहायता होजाती है । ज्ञान स्वभावसे असहाय और स्वतन्त्र है । आत्माका स्वभाव स्व और पर दोनोंको एकसाथ जानना है । और किसी प्रकारका विकार या राग द्वेषभाव नहीं करना है, यह विकार मोहनीयकर्मके उदयसे होता है ।

आत्माके स्वभावमें कर्मोंका संयोग नहीं है । वह सदा ही निरंश निरंजन निर्विकार है । स्फटिकमणीके सदृश निर्मल परिणमनशील है । आत्मस्वभावके ज्ञाता सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं । ग्यारह अंग नौ पूर्वके ज्ञाता भी आत्मज्ञानके बिना अज्ञानी कहलाते हैं । क्योंकि आत्माके ज्ञानमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है । इन तीनोंकी एकता आत्मज्ञानमें रहती है । और वहां ही सच्चा वैराग्य भाव होता है ।

इसी आत्मज्ञानका अनुभव स्वानुभव है । यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्म ईंधनको जलाती है और आत्माको शुद्ध करती है । आत्मज्ञानसे ही आन दरूपी अमृत झरता है, जिसको पानकर ज्ञानी सन्तुष्ट होजाता है । आत्मज्ञान ही दोजके चन्द्रमाके समान है, यही बढ़ते २ पूर्ण चन्द्रमाके समान केवलज्ञान होजाता है ।

आत्मज्ञान मोक्षमहलकी प्रथम सीढ़ी है । जो कोई निःशङ्क होकर इस सीढ़ीपर गमन करता है वह शीघ्र ही सिद्ध स्थानको प्राप्त होजाता है। आत्मज्ञानमें कोई विकल्प या विचार नहीं रहता । मैं हूं या नहीं यह विकल्प भी नहीं उठता है। आत्मज्ञान अद्वैतभाव जागृत कर देता है। विश्वके अन्दर छह द्रव्योंके रहते हुए भी स्वानुभवमें आत्मस्वरूप ही झलकता है, जो मन, वचन कायसे अगोचर है।

आत्मज्ञानी स्वरूपमें तृप्त रहकर अन्य विषयकी आकांक्षा नहीं करता है । यही निर्जराभाव है, और परम उपादेय है ।

२२१—चक्षुदर्शन विचय–धर्मध्यान निर्जराभाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोके नाशके उपायोंका विचार कर रहा है। चक्षुदर्शन क्षयोपशमिक भाव है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होता है । चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सामान्य निराकार अवलोकनको चक्षुदर्शन कहते हैं । मतिज्ञानके पहले यह होता है। त्रीन्द्रिय जीवों तक उसका प्रकाश नहीं होता । चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको उसका प्रकाश होता है। सब जीवोंके शक्ति एकसी प्रकट नहीं होती। जैसा क्षयोपशम होता है वैसी ही शक्ति प्रकट होती है । यह चक्षु

दर्शन बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यद्यपि इसका प्रकट कार्य छठे प्रमत्त गुणस्थान तक ही होता है क्योंकि सकल्प विकल्प पूर्वक ज्ञानकी क्रिया यहीं तक सभव है। आगेके गुणस्थानोंमें सब साधु ध्यानमग्न रहते हैं, आत्मध्यानमें लीन रहते है। दर्शनमें वस्तुका विशेष बोध नहीं होता, केवलगम्य सामान्य ग्रहण होता है। चक्षु-दर्शन भी अपने कार्यमें उपयोगी है। निश्चयनयसे आत्मामें गुणोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। आत्मा निरञ्जन द्रव्य या स्वतन्त्र द्रव्य है। इसका ज्ञान दर्पणके समान निर्विकार है।

ज्ञेयोंको जानते हुए भी उनसे पृथक् रहता है। आत्माके ज्ञानकी अपूर्व महिमा है। सम्यग्दर्शनका अविनाभावी है। इसके विना आत्मा-नुभूति नहीं होती है। आत्मानुभूतिमें ही मोक्षमार्ग है। क्योंकि वहा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों ही गर्भित हैं। आत्मानुभूतिके विना सुख और शांतिका लाभ नहीं होता। जब उपयोगको सर्व अन्य पदार्थोंसे विरोध करके और मनके सकल्प विकल्पोंको दूर कर अन्तर्मुख हुआ जाता है तब स्वानुभूति प्रगट होती है। इसका प्रारम्भ अविरत सम्यग्दृष्टी चौथे गुणस्थानसे होता है। और पूर्ण स्वानुभूति केवलि परमात्माके होती है। सिद्धोंमें भी इसीका प्रकाश रहता है। यह एक अद्वैतभाव है, जिसमें प्रमाण नय निक्षेपका भी कोई विकल्प नहीं रहता है। द्वादशांगवाणीका भी यही सार है। अभव्य श्रुतज्ञानका पाठ करनेपर भी इसको प्राप्त नहीं कर सकते। यह एक अमूल्य अमृतका समुद्र है। जो इसमें अवगाहन करते हैं वे कर्मोंसे शुद्ध होजाते हैं।

२२२-अचक्षुदर्शन विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अचक्षुदर्शन क्षयोपशमिक भाव है। अचक्षुदर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणियोंके होता है। इसके द्वारा चक्षुइंद्रियके सिवा स्पर्शनादि चार इन्द्री और मन द्वारा सामान्यपने पदार्थोंका अवलोकन किया जाता है। दर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है। मतिज्ञानमें पदार्थोंका आकार ग्रहण होता है। परन्तु दर्शन उपयोगमें आकारका ग्रहण नहीं होता। आत्माका उपयोग पदार्थोंके ग्रहणके लिये तैयार होता है। दर्शनोपयोगका उपयोग अल्पज्ञानीके मतिज्ञानके पहिले होता है। इसका तात्पर्य केवली भगवानके ज्ञानगम्य है, चैतनागुणके दर्शन, ज्ञान दो भेद हैं। ऐसा भी आगमका मत है।

निश्चयनयसे आत्माके गुणोंमें कोई भेद नहीं है। आत्मा अभेद अखण्ड एक ज्ञायक पदार्थ है।

आत्माके स्वरूपमें कोई राग द्वेष आदि विकार नहीं है, वह स्फटिकमणीके समान परम शुद्ध पदार्थ है। जो भव्यजीव इस आत्माको परम शुद्ध निर्विकार अनुभव करते हैं वही सच्चे मोक्षमार्गपर चलनेवाले सम्यग्दृष्टी हैं। वे अपने शुद्ध आत्माका यथार्थ अनुभव करते हुये सुख शांतिका परम अमृतपान करते हैं और कर्मोंके मध्यमें पड़े हुये भी अपनेको उनसे निराला जानते हैं। जैसे-सुवर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी अलिप्त रहता है।

आत्मा एक परमशांत अद्भुत चन्द्रमा है, जिसको कभी कोई आवरण नहीं हो सकता। जैसे सूर्य निरावर्ण रहता है। आत्मा सूर्यके

समान स्वपर प्रकाशक और परम वीतराग है। इस आत्मतत्वके अनुभव करनेवाले परम योगी होते हैं। जिस तत्वके जाने बिना कोटि ग्रन्थका पाठ ज्ञानी नहीं बना सकता है, क्योंकि आत्मज्ञान ही सार पदार्थ है। बड़े बड़े महर्षि इसी तत्वका रात दिन मनन करते हैं। आत्माको ही परमात्मा निर्मल स्वरूप पदार्थ देखते हैं। और उसीमें मगन होकर अपने जीवनको सफल समझते हैं। निर्जराका साधन वीतराग भाव है, जो आत्माकी अनुभूतिसे भले प्रकार प्राप्त होता है। सर्व तप संयम आदि आत्मज्ञानमें गर्भित हैं। आत्मज्ञानके बिना घोर तप भी निःसार है। आत्माकी अनुभूति सीधी सड़क मोक्षनगरको कही गई है। इसमें कोई रागादिक विकारकी कोई जगह नहीं है। यह एक अद्वैत भाव है, जिसमें सर्व चिन्तवन बन्द हो जाते हैं, मन वचन काय दूर रह जाते हैं। यही धर्मध्यान है, जो कर्मकी निर्जराका कारण है।

२२३-कुअवधिदर्शनविचय-धर्मध्यान, निर्जरातत्व।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। कुअवधि दर्शन एक क्षयोपशमिक भाव है, जो अवधिदर्शनावरणके क्षयोपशमसे होता है। इसको कुअवधि इसलिये कहते हैं कि मिथ्यात्वके उदयके साथ ही होता है। अवधिदर्शनसे [illegible] मिथ्या उपयोग करता है, आर्त ध्यान [illegible] है जिससे घोर कर्मोंको बांधता है और [illegible] है सुख और शांति कभी प्राप्त नहीं [illegible]

वाला है। नारकी, देव, मनुष्य, पशु, सेनी पचेन्द्रिय जीवोंके होसकता है। व्यवहारनयसे दर्शनके भेद होते हैं। निश्चयनयसे आत्माके गुणोंमें भेद नहीं है आत्मा एक अभेद अनुपम पदार्थ है। यह स्वभावसे परम वीतराग आनंदमय है। इसमें कोई रागादिक विकार नहीं हैं न कर्मोंका संयोग है। यह परम निरंजन देव हरएक प्राणीके भीतर विराजमान है। मैं आत्मा हूं और सब अन्य आत्मा मेरे बराबर हैं। ऐसा जाननेसे समभाव प्रगट होता है। तब कोई और विकार नहीं रहते। यह समताभाव परम उपकारी है। वीतरागभावको प्रगट करता है। इससे नवीन कर्मोंका संवर होता है, पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसको भाव निर्जरा कहते हैं। यही धर्मध्यान है। सर्व आपत्तियोंसे दूर है। जो इस समताभावका अनुभव करते हैं वही सम्यग्दृष्टि हैं। उन्हींका जन्म सफल है। उनको सत्य मार्गपर चलते हुए थकान मालूम नहीं होती। क्योंकि वह आनंद अमृतका पान करते हैं और आकुलता रहित रहते हैं। समताभाव गुणोंका प्रकाश करता है और विभावोंको नहीं आने देता, जिससे साधक साध्यकी सिद्धि शीघ्रकर लेता है। और निर्वाणको निकट बुला लेता है और अपने स्वरूपका पूर्ण प्रकाश कर लेता है, परम मंगलमय होजाता है। ध्यान ही सब कामोंमें मुख्य है। जो अपना हित चाहते हैं उनको निरंतर अभ्यास करना चाहिये।

द्वादशांग वाणीका सार यही है कि भाव श्रुतज्ञानको प्राप्त किया जाय। आत्माका अनुभव ही भावश्रुतज्ञान है। जिन २ जीवोंने इसका अनुभव प्राप्त किया है, वे जीव शुद्ध स्वरूपका स्वाद लेते हुए

ाम तृप्त रहते हैं। और अनादिकालसे चली आई हुई बंध पद्धतिका अन्त कर देते हैं। हरएक गुणस्थानमें चौथे अविरत सम्यग्दर्शनसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक आत्मानुभव बढ़ता जाता है। और अन्तमें पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान प्रकाशमान होजाता है। इसीसे कर्मकी निर्जरा होती है और आत्मानंदका प्रकाश होता है। तत्वोंका सार यही है-इसीको पाकर सर्व श्रम दूर होजाता है और निःशंक वृत्ति ठहर जाती है, सब जप तप व्रत इसीसे सफल होते हैं, ज्ञानका पूर्ण प्रकाश होता है।

२२४-क्षयोपशम दानविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार क्षयोपशम भावोंमें क्षयोपशम दान एक लब्धि है, जिसके कारण दान देनेके भाव होते हैं। यहां दानान्तराय कर्मका क्षय नहीं हुआ है, किंतु क्षयोपशम है, जिससे दान देनेकी पूर्ण शक्ति विकाश नहीं हुई है। इस लब्धिका लाभ एकेंद्रिय आदि जीवोंको भी रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान पर्यन्त इस लब्धिका प्रकाश है। सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्यके पांचवें और छठे गुणस्थान पर्यन्त यथासमय दानका विकल्प रहता है। दानान्तरायके उदयसे इच्छित दान नहीं हो सकता। केवली भगवानके दानान्तराय कर्मका क्षय होजाता है, इसलिये उनके अनन्त दानकी शक्ति प्रगट हो जाती है। व्यवहार नयसे इस तरह विचार करता हुआ निश्चयनयसे जब विचार करता है, तो आत्माके गुणोंमें

कोई दोष नहीं है । आत्मा अभेद, निरंजन, ज्ञायक, परम वीतराग, एक अद्भुत सत्रूप पदार्थ है । हरएक आत्मा अपनी सत्ताको भिन्न भिन्न रखता है । निश्चयसे सब आत्माएं समान हैं । इस दृष्टिसे देखते हुए राग द्वेष मोहकी उपाधि नहीं रहती है, परम समताभाव जागृत होजाता है । यही साम्यभाव है, यही मोक्षमार्ग है, क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्रकी एकता है । इसी भावमें रत होनेसे स्वात्मानुभव प्रकट होजाता है । तब सर्व विकल्प मिट जाता है । एक अद्वैत आत्मीक भाव ध्याताके ध्यानमें रह जाता है । तब परम आनन्द अमृतका प्रवाह बहता है । यह अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वाभाविक गुण है । रागादिक मोह विकार होनेके कारण इस सुखका अनुभव नहीं होता । स्वानुभवकी कला चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे प्रारम्भ होजाती है, और जैसे जैसे गुणस्थानमें साधक बढ़ता है, स्वानुभूतिकी निर्मलता और स्थिरता बढ़ती जाती है । यहांतक कि परमात्मामें पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान विकाश होजाता है । सिद्धोंमें भी यह स्वानुभव प्रकाशित रहता है ।

आत्मतत्वके ज्ञाता ही द्वादशांग वाणीके यथार्थ समझनेवाले होते हैं । स्वानुभव ही भाव श्रुतज्ञान है, यही केवलज्ञानका साधक है । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानके साधक नहीं हैं । क्योंकि उनके अभावमें भी केवलज्ञान हो जाता है । स्वतन्त्रताका साधक यह ही आत्मानुभव है ।

योगी तपस्वी बाह्य तप करते हुए इसी तत्वपर दृष्टि रखते हैं । निश्चयसे यही सार तप है । क्योंकि इसमें इच्छाओंका निरोध है ।

यही भाव तब कर्मकी विशेष निर्जराका कारण है। जो आत्महित करना चाहते हैं उन्हें उचित है कि आत्मतत्वको अनेकान्त स्वरूपसे समझ लें और सतत इसका मनन करें तब जैसे दही बिलोनेसे मक्खन निकलता है वैसे भावना भानेसे स्वानुभवका प्रकाश होता है। कर्मकी परतन्त्रताका क्षय इसीसे होता है।

२२५–क्षयोपशम लाभ विचय–धर्मध्यान निर्वेगभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार मिश्र भावोंमें क्षयोपशम लाभ एक वह भाव है जिसके कारण इष्ट वस्तुके लाभमें अन्तराय नहीं पड़ता। लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह शक्ति प्रगट होती है।

एकेन्द्रियादि सब प्राणियोंके यह शक्ति कम या अधिक होती है। बारहवें गुणस्थान तक इसका प्रकाश रहता है। फिर लाभान्तरायके क्षयसे अनन्त लाभका प्रकाश होजाता है। मिथ्यादृष्टि जीव इष्ट वस्तुके लाभमें बहुत हर्ष और वियोगमें बहुत विषाद करता है। सम्यग्दृष्टी जीव इष्ट वस्तुके लाभ व अलाभमें साम्यभाव रखता है। धन धान्यादिकका अधिक लाभ होते हुये उस सम्पत्तिको शुभ कार्योंमें लगाता है। विशेष लाभ होनेपर उन्मत्त नहीं होता। वह जानता है कि मेरी सम्पत्ति आत्मिक गुणोंका विकाश है। परवस्तु छूट जानेवाली है। पाप पुण्यसे उसका संयोग या वियोग होता है। निश्चयनयसे आत्मामें भावोंके [illegible] है।

आत्मा [illegible] अजर अमर अमूर्तिक शुद्ध

धारी है । ६ द्रव्योंमें यही सार है क्योंकि यह सुख और शांतिका भंडार है ।

आत्माका ज्ञान बहुत आवश्यक है । अनेक शास्त्रोंके पढनपर भी आत्मिक ज्ञान विना आत्महित नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्मामें ही हैं । जो आत्मशुद्धिके इच्छुक हैं व भेद विज्ञानपूर्वक आत्मिक ज्ञानको प्राप्त करते हैं । यह आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टकर्म, रागादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मसे निराला है । इसके स्वभावमें कोई विकार नहीं है । कमलनीके पत्तेके समान यह आत्मा सर्व अन्य द्रव्योंसे अलिप्त रहता है । इसका स्वभाव स्फटिकमणिके समान निर्मल है । सम्यग्दृष्टी जीव इसी आत्मतत्वका अनुभव करके आत्मशुद्धिको बढ़ाते रहते हैं । जो कोई आत्मारूपी गंगामें स्नान करते हैं, उनके सर्व कर्म मल धुल जाते हैं । आत्मज्ञानके समान कोई जहाज नहीं है, जो सीधा मोक्ष द्वीपको जाता हो । जो इस पर आरूढ़ होते हैं और दृढ़ताके साथ रहते हैं वे अवश्य भव सागरसे पार हो जाते हैं ।

आत्मज्ञान एक ऐसी कला है जिसके होते हुये सम्यग्दृष्टी मन वचन कायसे क्रिया करते हुये भी आसक्त नहीं होते । तीर्थंकरादि महापुरुषोंने इसी आत्मज्ञानका आश्रय लेकर सिद्धिको प्राप्त किया था । जो भव्य जीव इसलोक और परलोकमें सुख और शांतिको चाहते हैं उन्होंने आत्मज्ञानका आश्रय लेकर सिद्धिको प्राप्त किया था । जो भव्य जीव इस लोक और परलोकमें सुख और शांतिको चाहते हैं उन्हें आत्मज्ञानका आश्रय ही लेना चाहिये । निरंतर आत्मज्ञानको

भावना करनेसे आत्मानुभूति प्रगट होती है तब एक अनुपम अद्वैत भावका अनुभव होता है। यही भाव निर्जरा है, जो कर्मोंको नष्ट कर देती है।

२२६–क्षयोपशम भोगविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकारके मिश्र भावोंमें, क्षयोपशम भोग भी है। भोगान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह शक्ति उत्पन्न होती है जिससे पदार्थोंका भोग किया जा सकता है। यह शक्ति एकेंद्रियादिक सब जीवोंमें कम या अधिक प्रगट रहती है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक इसका प्रकाश रहता है परन्तु बुद्धिपूर्वक उपयोग प्रमत्तविरत छठे गुणस्थान तक रहता है। सम्यग्दृष्टी जीव पदार्थोंका भोग करते हुये भी समभाव रखता है, उन्मत्त नहीं होता है।

निश्चयनयसे आत्मामें गुणोंका या भावोंका भेद नहीं है। यह आत्मा एक स्वतंत्र ज्ञातादृष्टा निरंजन निर्विकार पदार्थ है, जिसके ज्ञानमें सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ एकसाथ झलकते हैं, तो भी कोई विकार नहीं होता है। आत्मा स्वभावसे रागादि विकारोंसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे शरीरादि नो कर्मोंसे परे है। इसका स्वभाव शुद्ध जलके समान परम निर्मल है। इस आत्मतत्वको जो व्यक्ति ठीक ठीक जानते हैं वे मोक्षमार्गपर आरूढ होकर चल सक्ते हैं। आत्मिक ज्ञानके द्वारा आत्माका अनुभव प्रगट होता है। इस अनुभवसे सर्व सङ्कल्प विकल्पोंका अभाव हो जाता है और ध्यानकी अग्नि प्रगट होती है। जिससे कर्ममलका नाश होता है। और आत्मशुद्धि प्रगट होती है।

तथा सुखशान्तिका अनुभव होता है। यह आत्मानुभव अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानसे प्रकाशित होता है। और बढ़ते बढ़ते तेरहवें गुणस्थानमें पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान प्रगट हो जाता है। यही सार्थक तत्व है जिसको पाकर ज्ञानी जीव संतुष्ट हो जाते हैं। आगमका निचोड़ यही है। जो आत्मानुभव किया जाय उसमें कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान आदि षट्कारकोंका विकल्प नहीं है। निर्विकल्प तत्व परतंत्रताका नाश करनेवाला है, स्वतंत्रताको जागृत करनेवाला है।

यही भाव निर्जरा है, यही तप है। उपवास आदि तप बाह्य निमित्त कारण हैं। आत्माकी शुद्धिका उपादान कारण आत्मा ही है। आपसे आपकी शुद्धि होती है। परभावोंसे बंध होता है। स्वभावोंसे मुक्ति होती है।

२१७–क्षयोपशम उपभोगविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार क्षयोपशम भावोंमें क्षयोपशम उपभोग भी है। भोगान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह भाव एकेंद्रियादि सर्व प्राणियोंमें प्रगट होता है। जो पदार्थ बारबार भोगनेमें आवे उसको उपभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, गृह आदि। इस शक्तिके द्वारा उपभोग करनेयोग्य पदार्थोंका उपभोग किया जासकता है। यह शक्ति बारहवे गुणस्थान तक प्रगट रहती है, परन्तु बुद्धिपूर्वक इस शक्तिका उपयोग छठे गुणस्थान तक रह सकता है। मिथ्यादृष्टी जीव उपभोग करते हुए रंजायमान होजाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव आसक्त नहीं होता। तेरहवें गुणस्थानमें अनंत उपभोग

के प्रगट होजाती है। वहां अन्तराय कर्मका क्षय हो जाता है। व्यवहारनयसे ऐसा भेदभाव रहता है। निश्चयनयसे आत्मामें कोई भी भेदभाव नहीं। वह अखण्ड एक ज्ञातादृष्टा पदार्थ है, जिसकी महान शक्ति ज्ञान है, जिसमें सब ज्ञेय पदार्थ यथार्थ जैसेके तैसे प्रकाशमान होते हैं। आत्मा सुखशांतिका सागर है, जिसमें रागादि दोषोंका आगमन नहीं है। आत्मतत्व परम शुद्ध अविनाशी है। इस तत्वको जिन्होंने पाया है और अनुभव किया है, वे मोक्षमार्ग पर चलनेवाले महान आत्मा हैं।

इसी तत्वके ध्यानसे कर्मकलंक जल जाता है और अन्तरात्मा परमात्मा हो जाता है। इस तत्वको पानेके लिये पुनः भावना भानेकी जरूरत है। जिस तरह दूध बिलोनेसे मक्खन निकलता है, उसी तरह भावना भानेसे आत्माका अनुभव प्रगट होता है, यही यथार्थ भाव श्रुतज्ञान है द्वादशांगवाणीका यही सार है गणधरादि महान ऋषी-श्वर इसी तत्वज्ञानमें अपनी आत्म उन्नति करते हैं।

इस तत्वके ध्यानसे सुख शांतिका लाभ होता है और प्रच्छन्न आत्माके गुणोंका विकाश होता है। सम्यग्दृष्टी जीव सदा ही इस तत्वके मननसे संतोषित रहते हैं। निराकुलता प्राप्त करनेका यही उपाय है। जिन जीवोंको संसार समुद्रसे पार होना हो उनको आत्मतत्वरूपी जहाजपर चढ़ना चाहिये और स्थिरताके साथ स्वतंत्रतापर लक्ष रखते हुए सीधे गमन करना चाहिये। आत्मतत्वका अनुभव ही भाव तप है, जो कर्मोंकी निर्जराका कारण है। आत्मानुभव ही ज्ञानियोंका अमृतपान है, जो परम तृप्तिका कारण है।

२२८–क्षयोपशम वीर्य विचार–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। १८ प्रकार मिश्र भावोंमें क्षयोपशम वीर्य भी है। वीर्या तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह प्रगट होता है। एकेंद्रियादि सम्पूर्ण प्राणियोंके इसका प्रकाश कम वा अधिक विद्यमान रहता है। जिससे आत्मीक बल काम करता है। बारहवें गुणस्थान तक यह प्रगट रहता है। फिर वीर्या तरायके क्षयसे अनन्त वीर्य केवली भगवानके प्रगट हो जाता है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें आत्मवीर्य उपयुक्त होता है। इसीके प्रतापसे तपस्वीजन अनेक प्रकारका तप करते हैं। और आत्माको उन्नत बनाते हैं। अशुभसे निवृत्ति शुभमें प्रवृत्ति इसीसे होती है। पुरुषार्थ करनेमें यह सहायक होता है। व्यवहारनयसे ऐसा विचार करके फिर निश्चयसे विचारता है, तो आत्मामें स्वभाव और गुणोंकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है। आत्मा अखण्ड, अभेद, ज्ञाताद्रष्टा परम पदार्थ है। आत्मा निर्विकार निरंजन अविनाशी अमूर्तिक एक स्वतन्त्र वस्तु है।

आत्माका यथार्थ ज्ञान जिनको होजाता है व आत्मस्वातन्त्र्यकी तरफ बढ़ते जाते हैं। और कर्मोदयकी परतंत्रताको मेटते जाते हैं। और भवसागरसे पार होनेमें अग्रसर होते जाते हैं। जहां आत्मिक ज्ञान है वहां सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनों रहते हैं। आत्मज्ञानके द्वारा आत्मानुभव होता है, तब सब विकल्प मिट जाता है और अद्वैत भाव प्रगट होजाता है तब सुख शान्तिका स्वाद आता है। यही धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। आत्मानुभव स्वतन्त्रताके लिये एक परम कला है। इसीको सम्यग्दृष्टी श्रावक मुनि आदि सर्व

अनुभव करते हैं। और मोक्षमार्गको तय करते जाते हैं। आत्मानुभव एक परम रसायन है, जो सर्व रागद्वेषादिक दोषोंको मेटनेवाला है। जहां आत्मानुभव है, वहीं अन्य सब उत्तम गुणोंका विकाश होता है। आत्मानुभव ही भाव निर्ग्रंथ है, यही वीतराग भाव है, यही त्याग और संयम है, यही ब्रह्मचर्य है, यही शील संतोष है, यही अद्भुत आत्मगुण है, जो एक अन्तर्मुहूर्तमें आत्माको परमात्मा बना देता है। यही ज्ञानियोंका परम धर्म है।

२२९-क्षयोपशम सम्यक्त-विचय, धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। सम्यग्दर्शन यद्यपि एक प्रकार है, तथापि कर्माचरणकी अपेक्षा तीन प्रकार है। उपशम, क्षायोपशम या वेदक क्षायक। १८ प्रकार मिश्रभावोंमें क्षयोपशम सम्यक्त भी है। प्रथम उपशम सम्यक्तमें दर्शनमोहनी अनतानुबंधी कषायका उपशम रहता है। क्षयोपशम सम्यक्तमें सम्यक्त मोहनी प्रकृतिका उदय रहता है। जिसके कारण सम्यक्तमें कुछ अतीचार रहता है। इस प्रकृतिके उदयको वेदन करनेसे इसको वेदक सम्यक्त कहते हैं। इसके कई भेद हैं। एक भेद यह है-अनन्तानुबंधी कषायका विसंयोजन हो, अर्थात् प्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन होजाय। और मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृतिका उपशम हो। दूसरा भेद यह है-मिथ्यात्वका क्षय हो और मिश्रका उपशम हो। तीसरा भेद यह है कि मिथ्यात्व और मिश्र दोनोंका क्षय हो। चौथा भेद यह है कि अनंतानुबंधी कषाय मिथ्यात्व और मिश्र इन छहोंका उपशम हो।

यह सम्यक्त उपशम सम्यक्तके बाद होता है। और इसीसे क्षायक सम्यक्त होता है। क्षायक सम्यक्त होनेके पहिले जब सम्यक्त मोहनी उदय आता है और वह उदय क्षायक सन्मुख होता है, तब उसको कृतकृत्य वेदक सम्यक्त कहते हैं। इस सम्यक्तको लिये हुए मनुष्य मरकर चारों गतिमें जा सकता है। वहां क्षायक हो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त चारों गतियोंमें पैदा हो सकता है। इस सम्यक्तकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त। यह सम्यक्त उपशम और क्षायकके समान निर्मल नहीं है। इसमें चल मल अगाढ़ दोष लगता है जो बहुत सूक्ष्म है, अनुभवगम्य है। निश्चयनयसे आत्मामें गुणोंके भेद नहीं हैं। आत्मा अखण्ड अविनाशी भिन्न स्वतंत्र अमूर्तिक पदार्थ है। आत्माका यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना सम्यक्त ज्ञान चारित्र नहीं हो सकता।

आत्मामें सम्पूर्ण संयम तप या क्षमादि धर्म हैं। जिसने आत्माको नहीं जाना उसका शास्त्रका ज्ञान व्यर्थ है। आत्मज्ञानी ही यथार्थ श्रावक व मुनि है। आत्मज्ञानसे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है जिससे सच्ची सुख शांति प्राप्त होती है और यथार्थ तत्वका लाभ होता है। इसके बढ़नेसे आत्माकी शुद्धि होती है और कर्मकी निर्जरा होती है। आत्मानुभव साक्षात् सम्यक्त है, यही भावनिर्जरा है। यही सार है। यही ज्ञानियोंका आश्रय है। परम अमृत है। सिद्धांतका यही निचोड है। जो आत्माका अनुभव करते हैं वे सीधे हैं। सीधे मोक्षमार्ग पर गमन करते हैं। यही उत्कृष्ट ध्यान है।

२३०–क्षयोपशम चारित्रविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार मिश्रभावमें क्षयोपशम चारित्र भी है। यह चारित्र प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंको होता है। यहांपर अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषायोंका उदय नहीं होता है। केवल संज्वलनका उदय है। अन्तर्मूहूर्त छठे और सातवें गुणस्थानका काल है इसलिये साधु इन दोनों गुणस्थानोंमें वारवार आते जाते रहते हैं। जबतक श्रेणी चढ़नेके सन्मुख न हो तबतक यही क्रम रहता है। सातवें गुणस्थानतक धर्मध्यानकी पूर्णता मानी है, जहांपर ध्यान अवस्था ही रहती है। साधु व्यवहारनयसे पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्ति इस तरह १३ प्रकार चारित्रका पालन करता है। मोक्षमार्गपर आरूढ़ होता हुआ, सुख शांतिका उपभोग करता है, आत्माकी उन्नति करता है। धर्मध्यानमें मुख्यता निर्विकल्प भावकी है। इसी भावको वास्तवमें धर्मध्यान कहते हैं।

धर्मध्यान चौथ अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। धर्मध्यानसे शुक्लध्यानमें गमन होता है। इसतरह व्यवहारनयसे विचारना चाहिये। निश्चयनयसे आत्मामें भावोंके भेद नहीं है। वह एक अखण्ड स्वतंत्र ज्ञाताद्रष्टा अनुपम पदार्थ है। उसका स्वरूप ठीक ठीक जाननेसे आत्मबोध होता है। यही आत्मध्यान सम्यग्दृष्टीका परम ध्येय होता है।

आत्मज्ञानी ही सर्व तरहसे माननीय और पूज्य है। क्योंकि वह मोक्षमार्गपर दृढ़तासे जमा रहता है। और निरन्तर भेदविज्ञानपूर्वक

आत्मानुभवके रसको पान करता रहता है । और परम तृप्त रहता है जिन्होंने आत्मानुभव नहीं पाया उनको निर्मल सुख शांतिका ला नहीं होता है । जहां धर्मध्यान है वहांपर कर्मोंकी निर्जरा वीतरागताके प्रभावसे रहती है और सरागभावसे पुण्यकर्मका बंध होता है ।

धर्मध्यानी आत्मानुभवके प्रतापसे अपने आत्माकी निर्मलता करता है । और अनेक प्रकारके धर्म सम्बन्धी भावोंको हटाकर एक समान साम्यभावमें रहता है । यह बात स्वयं सिद्ध है कि जैसा ध्यावे वैसा होजावे । शुद्ध आत्माके ध्यानसे परमात्मा होजाता है । ध्यान एकाग्र भावको कहते हैं । अथवा आत्मज्ञानमें स्थिर होना धर्मध्यान है । धर्मध्यानमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म गर्भित है । और भी सद्गुण धर्मध्यानसे प्रकाशित रहते हैं । यह बात स्वयं सिद्ध है कि अपने ही आत्मानुभवसे अपना लाभ होगा । आत्मानुभव एक ऐसी मीठी औषधि है कि जो भवरोगकी व्यथाको दूर करती है । और आत्माको पुष्ट करती है । धर्मध्यानमें इसी प्रकार कष्टका अनुभव नहीं होता । यही एक उत्तम तप है, जो भावनिर्जरा रूप है और सर्व रागादिक भावोंको मेटनेवाला है । और उपादेय मोक्षतत्वका मूल कारण है । परम विवेकरूप है ।

२३१—संयमासंयम विचय—धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है । संयमासंयम १८ भेद मिश्र भेदोंमेंसे अन्तिम भेद हैं । यह भाव पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावकोंके होता है । प्रत्याख्यानावरणी कषायके उदयसे श्रावकजन पूर्ण संयमको नहीं पाल सकते । एकदेश संयमको

पालते हैं। इसलिये उनके भाव असयम-मिश्रित सयमरूप होते हैं। यद्यपि वे पूर्ण सयम पालना चाहते हैं, परन्तु जबतक आरम्भ परिग्रहका सम्बन्ध है तबतक आरम्भी हिंसासे निवृत्त नहीं होसक्ते। कषायके उदयसे पूर्ण सयमके भाव नहीं होते हैं। यह भाव दर्शन प्रतिमामें स्थूलरूप होता है। जैसे २ प्रतिमायें बढ़ती जाती हैं तैसे २ यह भाव सयमकी तरफ बढ़ता जाता है, और असयमसे हटता रहता है। ११वीं प्रतिमा उद्दिष्ट त्याग है, उसके बाद साधुका आचरण पूर्ण सयमरूप होजाता है। श्रावक जैसे २ बाह्य चारित्ररूप बढ़ाता जाता है वैसे २ अन्तरङ्गमें त्यागभाव बढ़ता जाता है, और आत्मसवेदनकी उन्नति होती जाती है। क्योंकि मुख्य सयम अन्तरङ्गमें आत्मलीनता है।

इस तरह व्यवहारनयसे विचार करके निश्चयनयसे विचार करता है तो आत्मामें स्वभावसे यह सयमासयम भाव नहीं है। आत्मा सदाकाल अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेकी अपेक्षा सयमरूप है। आत्मा एक स्वतंत्र ज्ञाताद्रष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी शुद्ध द्रव्य है। यह सर्व सासारिक विकारोंसे शून्य है। यह स्फटिकमणिके समान ही निर्मल पदार्थ है।

जिसमें सर्व जाननयोग्य विश्वके पदार्थ अपनी भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी पर्यायोंके साथ सदा झलकते रहते हैं, तौभी यह आत्मा किसी भी पर पदार्थमें राग, द्वेप, मोह नहीं करता है, अपने शुद्धोपयोगसे सदा निर्विकल्प रहता है। जो कोई इसके आत्मतत्वको जानते हैं वही आत्मज्ञानी मोक्षमार्गी है। उनके अन्तरङ्गमें सुखशान्तिका विलास रहता है, वे भलेप्रकार अपने

आनंद लेते रहते हैं, कर्मोंके उदयमें समभाव रखते हैं, समताभावको अपना आभूषण बनाते हैं और शांतिमय पथपर चलते हुए संसार-सागरको पार करते जाते हैं, व प्रफुल्लित कमलके समान विकसित रहते हैं। उन्हींके अन्दर गुणस्थानकी अपेक्षा उन्नति होती जाती है। वे कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। यही मुख्य तप है, शुद्ध भाव है। यह उनके भीतर चमकता रहता है। वे स्वानुभवमें मगन रहते हुए आत्मीक शांतिमई अमृतरसका पान करते हैं और खुश होते जाते हैं। परतंत्र-ताको काटते जाते हैं और स्वतंत्रताकी तरफ बढ़ते जाते हैं।

२३२–औदयिक गतिभाव विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है कि किस प्रकार औदयिक भावोंमें ४ गति सम्बन्धी औदयिक भाव होते हैं। पंचम गति मोक्ष है, जो कर्मोंके नाशसे होती है। चार गति गति नामा कर्मके उदयसे होती है। जिस गतिमें जीव जाता है, उस गतिमें उस गति सम्बन्धी भाव उस जीवके होते हैं। नरकमें क्रोधकी तीव्रता, तिर्यञ्च गतिमें मायाचारकी तीव्रता, मनुष्यगतिमें मानकी तीव्रता, देवगतिमें लोभकी तीव्रता रहती है। यद्यपि कषायोंका उदय चारों गतिमें है, तथापि गतिके अनुकूल भाव होते हैं। नरकगतिमें आर्तरौद्र ध्यानके भाव अधिक बने रहते हैं। परस्पर दुःख देनेके भाव बड़े विकट होते हैं। इससे वे सदा आकुलित रहते हैं दुःखोंके पानेका असह्य कष्ट भोगते हैं। नारकियोंके कभी क्षणमात्रके लिये भी शान्ति नहीं मिलती। शारीरिक और मानसिक वेदनाओंसे सदा

पीड़ित रहते हैं। रौद्रध्यानके परिणामोंसे नरकगति प्राप्त होती है। वहां दीर्घकालतक रहना पड़ता है। तिर्यञ्च गतिमें एकेन्द्रिय जीवोंके अज्ञान सम्बन्धी और निर्बलता सम्बन्धी महान कष्ट रहता है। उनके कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या सम्बन्धी भाव होते हैं। दो इन्द्री, तेइन्द्री, चौन्द्री, असैनी पंचेन्द्री जीव मन रहित इन्द्रिय आधीन दुःखोंसे रातदिन संतप्त रहते हैं। वहां महान कष्ट, पराधीनतावश भोगते हैं। सैनी पञ्चेन्द्री तिर्यञ्चोंके मन होता है। जिससे कि मनसे तर्क वितर्क कर सकते हैं। उनके भी भाव अतिशय कुटिल रहते हैं। बहुतसे क्रूर परिणामी जीव दुष्ट होते हैं। वे निरन्तर हिंसामें रत रहते हैं। इनके कृष्ण, नील, कापोतके सिवाय पीत, पद्म, शुक्ल यह शुभ लेश्याएँ भी हो सकती हैं। जिससे वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सकते हैं। और श्रावकके व्रतोंको भी पाल सकते हैं। मनुष्यगतिमें मनके द्वारा विचारशक्ति अधिक होती है, जिससे वे हर प्रकारकी लौकिक और पारलौकिक उन्नति कर सकते हैं। और योग्य कार्यमें ध्यानादिक करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह गति इस अपेक्षासे सब गतियोंसे श्रेष्ठ है।

देवगतिमें पुण्यके फलसे देवगति सम्बन्धी भोग करते हैं। उनके पहिले चार गुणस्थान सम्बन्धी भाव हो सकते हैं। वे जिनेन्द्रकी भक्ति अपने विमानोंके मंदिरोंमें करते रहते हैं। उनके पर्याप्त अवस्थामें पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं। मध्यलोकमें तीर्थङ्करोंके कल्याणकोंमें वह और अन्य अवसरोंमें भक्ति करने आते रहते हैं। इस प्रकार गति सम्बन्धीमें औदयिक भाव होते हैं।

निश्चयनयसे विचार किया जाव तो आत्मा चारों गति सबंधी प्रपञ्चसे रहित है। यह आत्मा शुद्ध, अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, पदार्थ है इसमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। यह अपने स्वरूपमें सदा तन्मय रहता है। आत्माका स्वभाव ही परम निराकुलता सहित वीतराग है। यह अपने स्वरूपमें ऐसा गुप्त रहता है कि किसी प्रकारके विभाव इसमें नहीं होते हैं। कर्मोंका बंध नहीं होता। आत्मज्ञानी मोक्षमार्ग पर चलनेवाले होते हैं, वे हमेशा परतंत्रताकारक कर्मोंकी बेडी काटते रहते हैं। उनके भीतर शुद्धोपयोग रमण करता है। इससे वह स्वतंत्रताकी ओर बढ़ते हैं। उनका यह भाव निर्जरा रूप है।

२३३–कषायविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। औदयिक भावोंमें चार कषाय भी हैं। जो आत्माके भावोंको कलुषित करे उसे कषाय कहते हैं। मुख्य चार भेद हैं–क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हींकी कलुषतासे पाप पुण्य कर्मोंका बंध होता है। मंद कषायसे शुभ भाव होते हैं। तीव्र कषायसे अशुभ भाव होते हैं। शुभ भावसे अघातिया कर्मोंकी पुण्य प्रकृतियोंका बंध होता है। अशुभ भावोंसे पाप प्रकृतियोंका बंध होता है। सातावेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र पुण्य प्रकृतियां हैं। असातावेदनी, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र पाप प्रकृतियां हैं। चार घातिया कर्मोंका बंध कषायके उदयमें बराबर होता रहता है, शुभ भावोंके होनेपर घातिया कर्मोंमें और अघातिया पाप प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग कम पड़ता जाता है।

अशुभ भावोंसे घातिया कर्मोंमें और अघातिया पाप प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग अधिक पड़ते हैं। इन कषायोंके १६ भेद हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जो सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रको घातते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जो एकदेश चारित्रको घातते हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और नौ प्रकारकी नोकषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, यथाख्यात चारित्रको घातते हैं। कषायोंके अंश दो प्रकारके होते हैं, स्थिति अध्यवसाय जो कर्मोंकी स्थिति बांधते हैं। अनुभाग अध्यवसाय जो कर्ममें तीव्र या मन्द रस डालते हैं। कषायोंका बंध नौवें अनुवृत्तिकरण गुणस्थान तक रहता है और उनका उदय दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थानतक रहता है। उसी गुणस्थानतक छह कर्मोंका बंध होता है।

मोहनी और आयु कर्मका बन्ध नहीं होता। आयुका बन्ध सातवें गुणस्थानतक होता है। मोहनीकर्मका बंध नौवें गुणस्थानतक होता है। कषाय ही संसार-भ्रमणका मुख्य कारण है। इस तरह व्यवहारनयसे कषायोंका विचार करके निश्चयनयसे विचार करनेसे आत्मामें कषायोंका उदय नहीं है। आत्मा सदा ही कषाय रहित वीतराग विज्ञानमय है। आत्मा एक अमूर्तीक अविनाशी स्वतंत्र पदार्थ है। इसमें किसी प्रकारके विकार नहीं हैं। यह असंख्यात प्रदेशी एक अनुपम चैतन्य शक्तिका सागर अतींद्रिय सुखसे पूर्ण है। हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न२ है तथापि स्वभावसे सब समान हैं। आत्मज्ञानका लाभ जिन ... है वही समझ सकते हैं। वह सम्यग्दृष्टी

मोक्षमार्गी है और आत्मानुभवको प्राप्त करके सुखशांतिका अनु करते हैं। कर्मकी परतंत्रता मटनेका यही उपादान कारण है। आ आप ही अपने लिये जहाजरूप है, स्वतन्त्र होनेमें यही कारण है

२३४–लिंग औदयिकभाव–विचय धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है कि किसप्रकार औदयिक भावमें तीन लिंग भी हैं। भाव वेद तीन प्रकार हैं–स्त्री पुरुष नपुंसक। इन्हींको भावलिंग कहते हैं। स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषकी कामना होती है। पुवेदके कारण स्त्रीकी कामना होती है। नपुंसक वेदके कारण स्त्री–पुरुष दोनोंकी कामना होती है। देवगतिमें स्त्री पुरुषके भेद दो प्रकार हैं, और जैसा भाववेदका उदय होता है वैसा ही द्रव्यलिंग होता है। नरकगतिमें और सम्मूर्छन तिर्यंचोंमें नपुंसक वेदका उदय होता है। भोगभूमिमें स्त्री पुरुष दो भाव वेद होते हैं। और द्रव्यलिंगी भी वैसा ही होता है। कर्मभूमिके गर्भज मनुष्य और तिर्यंचोंके तीनों ही भाव वेद होते हैं, और द्रव्यलिंग स्त्री पुरुष नपुंसक तीनों होनेपर भी भावलिंग हरएकके तीनों हो सकते हैं। वेदका उदय ९ वें अनुवृत्ति करण गुणस्थान तक रहता है। परंतु भावमें कामविकारकी सम्भावना छठे प्रमत्त गुणस्थान तक रहती है। वेदके उदयसे होनेवाले भावको निरोध करना ज्ञानी जीवका कर्तव्य है। अणुव्रती श्रावक स्वदारसंतोषी होते हैं। महाव्रती पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालते हैं। भाव बाह्य निमित्तोंके आधीन होते हैं।

इसलिये ज्ञानी जीव निमित्तोंका ध्यान रखते हुए वर्तन करते

हैं। आत्माका स्वभाव भाववेदसे रहित है, पूर्ण ब्रह्मभावको रखनेवाला है। निश्चयसे आत्मा परम शुद्ध ज्ञातादृष्टा अविनाशी एक स्वतंत्र पदार्थ है। यह परम वीतराग ज्ञातादृष्टा है। इसमें ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और रागादिक भावकर्मका कोई सम्बंध नहीं है। यह अपने असंख्यात प्रदेशोंको परम शुद्ध रखता है। इसमें शुद्ध दर्पणके समान परम निर्मलता है। इसके ज्ञानमें सब ज्ञेय पदार्थ झलकते हैं, तौभी कोइ विकार नहीं होता है।

वह अपने शुद्ध भावमें निःशंकित और निष्कम्प अचल रहता है। इसमें पर पदार्थका प्रवेश नहीं होता। यह सबसे जुदा अपने स्वरूपका भोगनेवाला है और सुख शांतिका सागर है। आत्मज्ञानके सिवाय कोइ स्वतंत्रताका मार्ग नहीं है। मोक्षमार्गी आत्मज्ञानके द्वारा आत्मानुभवकी प्राप्ति करते हैं और अपने आत्माको शुद्ध करते जाते हैं। यही सार तत्व है, ज्ञानियोंके द्वारा सदा ही वंदनीय है, और मननीय है। यही परम रत्न है। इसमें आत्माकी शोभा है। आत्मज्ञानके लाभ होने पर नर्कमें रहना भी अच्छा है, किन्तु स्वर्गमें रहना आत्मज्ञानके विना अच्छा नहीं। आत्मीक रस एक अद्भुत अमृत है। इससे परमतृप्ति होती है। और हरएक अवस्थामें परम धैर्यका लाभ होता है। यही जीवनका रसायन है। इसके रसीले सदा ही इसके रसका पान करते हैं। मोक्षमार्गके लिये उत्सुक वीरोंका यह तीव्र शस्त्र है और शांत चित्तवालोंका यही एक आभूषण है।

-

२३५–मिथ्यादर्शन विचय–धर्मध्यान, निर्जर

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। औदयिक भाव है, जिसके उदयसे सम्यग्दर्शन नहीं ... मिथ्यादर्शन आत्म विश्वासके अभावको कहते हैं। ... प्रकार है। तौ भी कारणकी अपेक्षा ५ भेद हैं–एकान्त, संशय, अज्ञान, विनय। वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं। ... हो धर्मको मानना अन्यको न मानना एकांत मिथ्यात्व है। द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। समुदायकी अपेक्षा एकरूप है। परन्तु अनेक गुणकी अपेक्षा ... रूप है। वस्तु अपने स्वरूपकी अपेक्षा अस्ति रूप है, परस्व अपेक्षा नास्ति रूप है। ऐसा अनेकांत वस्तु स्वरूप होनेपर ... मानकर एकरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

विपरीत मिथ्यात्व वह है जो अधर्मको धर्म मानले, हिं... पंच पापोंको शुभ फलदायक मान ले। संशय मिथ्यात्व वह है कई कोटिके उठाकर किसीका भी निर्णय न करना। अज्ञान ... वह है कि किसी तत्वका निश्चय करनेके लिये आलसी र... मूढ़तासे देखादेखी धर्मको मानना। विनय मिथ्यात्व वह है–जो बि... तत्वका निश्चय न करके सभी प्रचलित धर्मोंमें आदर करना, आत्मा सच्चा हित न विचारना।

इस प्रकार मिथ्यादर्शनके कारण यह जीव तत्वका निश्चय ... कर पाता और विषय कषाय जिनसे पुष्ट हो, वही धर्म–क्रियाओं ... मानने लगता है या संसारमें पूर्ण आसक्ति रखता है। अपना आत्म

गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक पाया जाता है। इस कारण आत्मा नेत्र पदार्थोका त्रिकालवर्ती ज्ञान नहीं हो पाता है। अज्ञानभावके कारण एकेन्द्री आदि जीव अपनी इन्द्रियोंसे बहुत थोडा जानते हैं। जितना ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है उतना ज्ञान प्रगट होता है। अज्ञानके कारण मिथ्यादृष्टी जीव तत्त्व ज्ञानको नहीं पा सक्ते हैं और इसलिये आत्मकल्याण नहीं कर सक्ते। अज्ञानभाव अन्धकारमय है। जिसके अन्धेरेमें पदार्थोंका सच्चा स्वरूप नहीं जान पडता है। अज्ञानभावके कारण लौकिक और पारलौकिक कार्य बहुधा असफल होते हैं।

जैसे अज्ञानी मनुष्य किसी यन्त्रके चलानेकी विधि न जानकर यन्त्रको चला नहीं सकता, वैसे ही अज्ञानी जीव धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थको साधन नहीं कर सकता है और कार्योंको बिगाड डालता है। धर्म पुरुषार्थके लिये ज्ञानका पाना बहुत आवश्यक है। जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, ये सात तत्त्व और पुण्य पापको लेकर नौ पदार्थ हैं, इनका ज्ञान होना जरूरी है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूपको जान सके कर्मोंके बंधनको काटनेका उपाय कर सके। इसलिये तत्वज्ञानके देनवाले ग्रन्थोंका अच्छी प्रकार पठनपाठन करना चाहिये। ज्ञानके साधनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। श्रुतज्ञान केवलज्ञानका कारण है। द्वादशांग वाणीका सार आत्मध्यान है। आत्मध्यानके द्वारा आत्माका अनुभव होता है। आत्मानुभवमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित हैं।

आत्माका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान

है । आत्माके स्वरूपमें लीनता सम्यक्चारित्र है । ज्ञानके साधनके लिये जैन शास्त्रोंका स्वाध्याय पांच प्रकार करना चाहिये । शास्त्रोंको पढ़ना और सुनना। प्रश्न करके शंकाओंको निवारण करना । वारम्वार शास्त्रोंके अर्थका विचार करना । शुद्धताके साथ शास्त्रोंको कण्ठस्थ करना और ज्ञान हुये धर्मका उपदेश देना । अज्ञानके नाशके समान जीवका कोई हित नहीं है । अज्ञान बड़ा भारी अन्धकार है । ज्ञान सूर्यके प्रकाश होनेपर यह दूर होता है । ज्ञानके समान कोई दान नहीं है । जगतके प्राणियोंको सम्यग्ज्ञानका दान करके अज्ञानको मेटना चाहिये ।

अज्ञानकी रात्रिमें जगत सो रहा है । अपने सच्चे हितको भूले हुये है । अज्ञानकी शय्यापर सोनेवालोंको जगाना चाहिये । अज्ञानके समान कोई वैरी नहीं है । ज्ञानके समान कोई मित्र नहीं है । अज्ञानका उदय राहुके विमानके समान है । अज्ञानका परदा हटनेसे ज्ञान भानुका प्रकाश होता है । निश्चयनयसे विचार किया जाव तो अज्ञानका नामतक आत्मामें नहीं है ।

आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी, परम वीतराग स्वतंत्र पदार्थ है । आत्माका अनुभव अमृत रसायन है । जो उसको पान करते हैं अमर हो जाते हैं । सब ही महात्मा लोग इस अमृतका पान करते हैं । इसीसे सुख शांतिका स्वाद आता है । आत्मानुभव ही स्वतंत्रताके पानेका उपाय है । यही भावनिर्जरा है, यही सार तत्व है, ज्ञानियोंको मंगलदायक है ।

२३७-असयत भाव विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार करता है। औदयिक भावमें असयत भाव भी गर्भित है। जहांतक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है वहांतक असयत भाव बना रहता है, सयम लेनके भावका न होना असयत भाव है। असयमी प्राणी, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह इन पाच प्रकारके पापोंसे विरक्त नहीं होता है। पांचों इन्द्रियोंको वशमें नहीं रखता है। पृथ्वी आदिक छ प्रकारके प्राणियोंकी दया नहीं पालता है। वह असयत भाव मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर अव्रत सम्यक्त चौथे गुणस्थानतक रहता है। एकेंद्रियादिक प्राणी असैनी पचेन्द्रिय पर्यन्त सब असयमी होते हैं। असयत भाव पाचवें देशव्रत गुणस्थानमें एकदेश छूट जाता है। छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमें बिलकुल नहीं रहता। असयमी प्राणी विवेकपूर्वक वर्तन नहीं करता है। स्वार्थके लिये हिंसादि पापोंको स्वच्छ दतासे करता है। नरक, तिर्यच, देव, मनुष्य, चारों गतियोंमे भ्रमण करता है। जब कि सयमी प्राणी देवगतिके सिवाय और गतिमे नहीं गमन करता है, अथवा मुक्त होजाता है। असयत भाव निर्दयताका प्रचार *करनेवाला है और ससारके क्लेशोंका मूल है। सयमभाव परम मर्यादामें* प्राणीको रखनेवाला है। असयम भावसे अपनी हानि यह होती है कि कषायोंकी वृद्धि होजाती है और दूसरे प्राणियोंको हानि पहुचती है। असयम भाव ससार-भ्रमणका कारण है। असयमसे मन, वचन, काय चचल होते हैं। असयम भाव जीवनको पतित करनेवाला है। सयम भाव जीवनको उच्च बनानेवाला है। असयम भाव आकुलताका

कारण है, वह आरम्भ व बहुत परिग्रहका हेतु है। असयम भावमे तृष्णाका समुद्र बढ जाता है, विनयका ह्रास होजाता है।

असयमसे मायाकारकी वृद्धि होजाती है। असयम भाव सतोषको नहीं आने देता है। असयमभाव कर्मबन्धका कारण है, रागद्वेषको बढानेवाला है। असयमभाव द्यूतरमण आदि सप्त व्यसनोंका कारण है। असयमभाव जगतमें अनीतिको विस्तारनेवाला है। सयमभाव नीति और धर्मको पुष्ट करता है। असयमभाव दुर्गतिका कारण है। असयमभाव प्राणीके उत्तम पुरुषार्थके साधनमें सफल नहीं होने देता। निश्चयनयसे आत्माका कोई असयमभाव नहीं है।

आत्मा स्वभावसे परम सयमी ज्ञाताद्रष्टा अनन्त शक्तिका धारी है। आत्मा स्वय एक दृढ़ किला है, जिसमें परवस्तुका प्रवेश नहीं होसकता आत्मा सुख-शातिका भडार है। परम अनुपम पदार्थ है। आत्मज्ञान ही परम धर्म है। इसीके द्वारा आत्मानुभव होता है जिससे पापको दग्ध करनेवाली ध्यानकी अग्नि प्रज्वलित होती है, यही भाव निर्जरा है, जो आत्मीक स्वतंत्रताका कारण है।

२३८—असिद्धत्व विचय, धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। ससारमें जब तक जीव पाप पुण्य कर्मोंसे बधा हुआ भ्रमण किया करता है, तब तक इसके असिद्धत्व भाव पाया जाता है। पूर्ण शुद्ध अवस्थाको जब आत्मा प्राप्त करलेता है, तब वह आत्मा सिद्ध कहलाता है। अर्थात् असिद्धत्व भावका नाश होजाता है। सिद्धत्व भावमें आत्मा

२३७-असंयत भाव विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार करता है। औद-यिक भावमें असंयत भाव भी गर्भित है। जहांतक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है वहांतक असंयत भाव बना रहता है, संयम लेनेका भावका न होना असंयत भाव है। असंयमी प्राणी, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच प्रकारके पापोंसे विरक्त नहीं होता है। पांचों इन्द्रियोंको वशमें नहीं रखता है। पृथ्वी आदिके छः प्रकारके प्राणियोंकी दया नहीं पालता है। वह असंयत भाव मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर अव्रत सम्यक्त चौथे गुणस्थानतक रहता है। एकेंद्रि-यादिक प्राणी असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सब असंयमी होते हैं। असंयत भाव पांचवें देशव्रत गुणस्थानमें एकदेश छूट जाता है। छठे प्रमत्त-विरत गुणस्थानमें बिल्कुल नहीं रहता। असंयमी प्राणी विवेकपूर्वक वर्तन नहीं करता है। स्वार्थके लिये हिंसादि पापोंको स्वच्छंदतासे करता है। नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य, चारों गतियोंमें भ्रमण करता है। जब कि संयमी प्राणी देवगतिके सिवाय और गतिमें नहीं गमन करता है, अथवा मुक्त होजाता है। असंयत भाव निर्दयताका प्रचार करनेवाला है और संसारके क्लेशोंका मूल है। संयमभाव परम मर्यादामें प्राणीको रखनेवाला है। असंयम भावसे अपनी हानि यह होती है कि कषायोंकी वृद्धि होजाती है और दूसरे प्राणियोंको हानि पहुंचती है। असंयम भाव संसार-भ्रमणका कारण है। असंयमसे मन, वचन, काय चंचल होते हैं। असंयम भाव जीवनको पतित करनेवाला है। संयम भाव जीवनको उच्च बनानेवाला है। असंयम भाव आकुलताका

कारण है, वह आरम्भ व बहुत परिग्रहका हेतु है। असयम भावसे तृष्णाका समुद्र बढ जाता है, विनयका ह्रास होजाता है।

असयमसे मायाचारकी वृद्धि होजाती है। असयम भाव सतोषको नहीं आन देता है। असयमभाव कर्मबधका कारण है, रागद्वेषको बढानेवाला है। असयमभाव द्यूतरमण आदि सप्तव्यसनोंका कारण है। असयमभाव जगतमें अनीतिको विस्तारनेवाला है। सयमभाव नीति और धर्मको पुष्ट करता है। असयमभाव दुर्गतिका कारण है। असयमभाव प्राणीके उत्तम पुरुषार्थके साधनमें सफल नहीं होने देता। निश्चयनयसे आत्माका कोई असयमभाव नहीं है।

आत्मा स्वभावसे परम सयमी ज्ञातादृष्टा अनन्त शक्तिका धारी है। आत्मा स्वय एक दृढ किला है, जिसमें परवस्तुका प्रवेश नहीं होसकता आत्मा सुख–शांतिका भडार है। परम अनुपम पदार्थ है। आत्मज्ञान ही परम धर्म है। इसीके द्वारा आत्मानुभव होता है जिससे पापको दग्ध करनेवाली ध्यानकी अग्नि प्रज्वलित होती है, यही भाव निर्जरा है, जो आत्मीक स्वतत्रताका कारण है।

२३८–असिद्धत्व विचय, धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। ससारमें जब तक जीव पाप पुण्य कर्मोंसे बधा हुआ भ्रमण किया करता है, तब तक इसके असिद्धत्व भाव पाया जाता है। पूर्ण शुद्ध अवस्थाको जब, आत्मा प्राप्त करलेता है, तब वह आत्मा सिद्ध कहलाता है। अर्थात् असिद्धत्व भावका नाश होजाता है। सिद्धत्व भावमें आत्मा

पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी रहता है। किसी प्रकारकी चिन्तायें विह्वल नहीं करती हैं। अनन्तकाल तक सिद्धत्व भावका उदय सदा काल बना रहता है। निकट भव्य जीव कर्मोंके नाश कर लेनेपर असिद्धत्व भावका उच्छेद कर डालते हैं। असिद्धत्व भावका उदय जब तक रहता है तब तक यह जीव पूर्ण निराकुल सुखको प्राप्त नहीं करता। और कर्मोंके बन्धके अनुसार देव मनुष्य तिर्यंच नरक गतियोंमें नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेकर संसारी सुख दुख भोगा करता है। यह असिद्धत्व भाव अनादिकालसे संसारकी परिपाटी चला रहा है।

हरएक ज्ञानी जीवको उचित है कि असिद्धत्वभावके नाश करनेका प्रयत्न करे। क्योंकि जब तक इसका उदय है तबतक परतन्त्रताका नाश नहीं हो सकता। सिद्धत्वभावमें अनन्त कालतक परिपूर्णता रहती है। सिद्ध भगवान अपने स्वरूपमें तन्मय होते हुए आनन्द अमृतका सदा पान करते रहते हैं। और परम निर्भय रहते हुए सर्व संसारी दु:खोंसे छूटे रहते हैं। सिद्धत्वभाव प्राप्त करनेका उपाय अपने ही शुद्ध आत्माका अनुभव है। भव्यजीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके भेदविज्ञानपूर्वक जब आत्माका अनुभव करते हैं तब स्वानुभव या आत्मध्यान प्राप्त कर लेते हैं। इसी स्वानुभवके अभ्याससे कर्मोंके आवरणका नाश होता है। और वह भव्यजीव गुणस्थानोंकी श्रेणीपर चढ़ता हुआ तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानसे अर्हन्त परमात्मा हो जाता है। फिर चौदहवें गुणस्थानको स्पर्श करके सर्व प्रकार शरीरोंसे रहित सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

आत्माका अनुभव ही सिद्धपदका साधक है। इसका अभ्यास

चिरकाल तक करना चाहिये। बड़े बड़े योगी ऋषीश्वर इसी स्वानुभवके मार्गसे सिद्धपदको पहुंचे हैं और आगामी पहुंचेंगे। सिद्धोंका आकार मूर्तिक नहीं है तो भी अन्तिम शरीरसे कुछ कम आत्माके प्रदेशोंका आकार रहता है। एक सिद्ध जहां विराजमान हैं, अनन्त सिद्ध वहां अवकाश पा सकते हैं तो भी परस्पर नहीं मिलते। सिद्धोंमें आठ गुण प्रसिद्ध हैं—सम्यग्दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मभाव। सिद्ध भगवान इन्द्रियोंसे और मनसे अगोचर हैं। जो स्वात्मानुभव करता है उसको सिद्ध स्वरूपकी झलक आजाती है। असिद्धत्वके नाशका उपाय अपने स्वरूपका आचरण है। इसको प्राप्त करनेका उपाय अपने स्वरूपका ज्ञान है। ज्ञानसे ही ध्यान होता है। ध्यान ही स्वतन्त्रता पानेका मार्ग है।

२३०–लेश्याविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। २१ प्रकार औदयिक भावोंमें छः लेश्यायें भी हैं। यह लेश्यायें संसारी जीवोंके शुभ अशुभ उपयोगोंके दृष्टान्त हैं। इसीसे इनको भावलेश्या कहते हैं। शरीरके रंगोंको द्रव्यलेश्या कहते हैं। यहां भावलेश्या मुख्य है। इन्हींसे कर्मोंका आस्रव होता है लेश्यायें छः हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे पहिली तीन लेश्यायें अशुभ हैं, शेष तीन शुभ हैं। कृष्णलेश्या अशुभतम है। नीललेश्या अशुभतर है। कापोतलेश्या अशुभ है, पीतलेश्या शुभ है, पद्मलेश्या शुभतर है, शुक्ललेश्या शुभतम है।

कृष्णलेश्यामें कषायोंकी बहुत तीव्रता होती है। नीललेश्यामें उतनी तीव्रता नहीं होती। कापोतलेश्यामें कषायोंकी तीव्रता पहिलेकी अपेक्षा कम होती है। पीतलेश्यामें मंद कषाय होनेसे परके साथ उपकारभाव होता है। पद्मलेश्यामें अपनी हानि सहन करके भी परके साथ उपकार करनेका भाव होता है। शुक्ललेश्यामें वैराग्यभाव होता है। कषाय और योगोंकी चंचलतासे लेश्यायें होती हैं। छह लेश्याओंका एक दृष्टान्त है।

जंगलमें छह आदमी छह लेश्याके धारी चले जारहे हैं। दूरसे एक आमवृक्ष देखकर प्रत्येकके भिन्न भाव हुए। कृष्णलेश्यावाला चाहता है कि इस वृक्षको जडमूलसे काटकर आम लेकर तृष्णा पूरी की जाय। नीललेश्यावाला विचारता है कि सिर्फ तना काट लिया जावे। कापोतलेश्याधारी यह विचारता है कि आमशाखायें केवल तोड ली जावे। पीतलेश्यावाला विचारता है कि वृक्षोंके कच्चे पक्के आम तोड लिये जावें। और पद्मलेश्यावाला विचारता है कि पके आम तोड लिये जवें। शुक्ललेश्यावाला परम सन्तोषधारी विचारता है कि जमीनपर पडे हुए पके आम चुन लिये जावें। लेश्याओंके मध्यम अशोंसे आयु कर्मका बंध होता है।

प्रत्येक लेश्याके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य इस प्रकार तीन भेदसे कुल १८ भेद होते हैं। लेश्याओंके अनुसार जीव चार गतियोंमें जाता है। नारकमें तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। तिर्यंचोंमें चौइन्द्री तक भी तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। असैनी पंचेंद्रियके पीतलेश्याको लेकर चार तक हो सकती हैं। सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें और मनुष्योंमें छहों लेश्यायें होती हैं। देवोंके और भोगभूमियोंके तीन शुभ

लेश्यायें होती हैं। भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिषी जातिक देवोंमें अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ लेश्यायें होती हैं। चौथ गुणस्थान तक छहों लेश्यायें होती हैं। ५ वेस ७ वे गुणस्थान तक पीत शुक्ललेश्या होती है। ८ वेसे १३ वें गुणस्थान तक शुक्ललेश्या होती है। ११ वे १२वें गुणस्थानोंमें कषायके न होनेपर भी योगकी चचलतासे शुक्ललेश्या होती है। १४ वे गुणस्थानमें लेश्या नहीं होती। तब अरहंत परमात्मा सिद्धगतिको प्राप्त हैं। पुण्य पापका लेप लेश्याओंसे होता है। लेश्या आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्मा लेश्या रहित परम शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा स्वतन्त्र पदार्थ है। पूर्ण सुख-शांतिका सागर है। जो आत्माको समझकर उसमें तल्लीन हो जाते हैं वही आत्मज्ञानी मोक्षमार्गी हैं। वे ही आत्मानुभव कर सकते हैं और वीतरागभावसे कर्मकी निर्जरा करते हैं। यही भावनिर्जरा है। इसीका साधन करना चाहिये, तब लेश्या रहित अवस्था प्राप्त हो सकेगी।

२४०—जीवत्व पारिणामिक भाव, धर्मविचय, धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। तीन प्रकार पारिणामिक भावोंमें प्रथम भाव जीवत्व है। ये भाव हरएक जीवका स्वभाव है। हरएक जीवमें जीवत्व सामान्यभाव है। प्रत्येक जीव स्वभावसे समान है। चेतना ज्ञान दर्शन सुख वीर्य यह विशेष गुण हरएक जीवमें पाये जाते हैं। चेतनासे प्रयोजन ज्ञान चेतनासे है। प्रत्येक जीव स्वभावसे अपने ज्ञानमें स्वभावका अनुभव करता है, कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका नहीं। रागद्वेषपूर्वक मन,

कायसे काम करना और उसका अनुभव करना कर्मचेतना है, जो कि संसारी जीवोंमें पाई जाती है, मुख्यतासे त्रस जीवोंमें पाई जाती है। सुख दुःखका अनुभव करना कर्मफल चेतना है। यह भी संसारी प्राणियोंमें पाई जाती है। मुख्यतासे एकेन्द्री जीवोंमें होती है। ज्ञान गुणसे प्रयोजन सपूर्ण जानने योग्य पदार्थोंका ज्ञान है। संसारी जीवोंमें ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान कम व अधिक पाया जाता है। इसलिये ज्ञानके आठ भेद हो गये हैं। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। दर्शनगुणसे जीव सपूर्ण पदार्थोंको सामान्य ग्रहण करता है। संसारी जीवोंमें दर्शनगुण कम या अधिक पाया जाता है। इसलिये दर्शनके चार भेद होगये हैं--चक्षु अचक्षु, अवधि, केवल। आत्मामें अनन्त वीर्य है, जिससे किसी प्रकारकी स्वाभाविक निर्बलता नहीं है। संसारी जीवोंमें अन्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेके अनुसार वीर्य कम व अधिक पाया जाता है। आनन्द गुण भी आत्मामें स्वभावसे पाया जाता है। इससे स्वभावमें थिरता होनेसे सुखका अनुभव होता है। संसारी जीवोंमें सुख गुणका प्रकाश मोहनी कर्मके उदयमें इन्द्रिय सुख व दुख रूप कम व अधिक पाया जाता है। परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवोंमें सम्यक्तके प्रभावसे सच्चे सुखका अनुभव होता है।

जीवत्व भाव जीवका निजधर्म है। यही वस्तु स्वभाव है। संसारी जीवोंमें जीवत्व भावमें आवरण है। जबतक कर्मोंका आवरण नहीं हटे तबतक शुद्ध जीवत्व प्रगट नहीं होता। इसके लिये जीवत्वको लक्ष्यमें लेकर उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जीवत्वको ध्यानमें लेकर उसीका ध्यान मनन करना चाहिये। तब आत्मज्ञानके प्रतापसे आत्माका अनुभव प्रगट होगा। अनुभव ही ध्यानकी अग्नि है, जो कर्म ईंधन जलाती है। आत्मानुभवमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों गर्भित हैं। ध्येयरूप ध्यानसे ध्यानकी सिद्धि होती है। जो कोई आत्मतत्वको कर्म नोकर्म आदिकसे भिन्न जानता है और उसीका मनन करता है, उसके भीतर आत्मप्राप्तिसे सुख शांतिका स्वाद आता है।

यही धर्म है, क्योंकि यही जीवको अपने जीवत्वमें पहुचा देता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा इसी तत्वको मनन करते हैं। और अपना सच्चा हित संपादन करते हैं। व्यवहार चारित्र निमित्त कारण है। निश्चय चारित्र साक्षात् उपादन कारण है। आत्माका अनुभव ही निश्चय चारित्र है। तीर्थंकरादि महापुरुष भी इसी तत्वका ध्यान करते हैं। जहा आत्मानुभव है, वहा सपूर्ण धर्मके अंग हैं, वहीं यथार्थमें वीतरागता प्रगट होती है, रागद्वेषादि कषाय भावका क्षय होता है।

चौथे गुणस्थान अविरत सम्यग्दर्शनमें आत्मानुभव दोजके चद्रमाके समान होता है। यही बढते २ तेरहवें गुणस्थानमें पूर्णमासीके चन्द्रमा समान होजाता है। यही परतन्त्रताका नाशक और स्वतन्त्रताका उपाय है। गृहस्थ या साधु हरएकको उचित है कि जीवत्व गुणको प्रगट करनेके लिये हरएक धार्मिक आचरणमें इस तत्वपर दृष्टि रक्खे।

२४१-भव्यत्वभावविचय-धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंमें भव्यत्व भाव भी है। निश्चयसे जीवमें

जीवत्व भाव ही है। व्यवहारनयसे जिन जीवोंके भीतर सम्यक्त्व भाव तथा मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता है उनके लिये भव्यत्व कहा गया है। भव्यत्व भावके होते हुये योग्य निमित्तोंके मिलनेपर सम्यक्तकी प्राप्ति होजाती है। निकट भव्य जीव आगमके अभ्याससे तथा परके उपदेशसे या स्वभावसे आत्मतत्वका यथार्थ बोध हो जाता है। तब संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य भाव हो जाते हैं। और निज स्वरूपकी प्राप्तिकी रुचि प्राप्त होजाती है। तब वह भव्य जीव मोक्ष मार्गके लिये उद्योग करता है, स्वात्मानुभवके लिये प्रयत्नशील हो जाता है और अपनी शक्ति तथा समयानुसार भेदविज्ञान द्वारा आत्म चिन्तवन करता है और सम्यक्तके आठ लक्षणोंको प्रकाशित करता है। संवेग भावसे आत्म धर्ममें प्रेमभाव रखता है। और इसीलिये जो सच्चे आत्मज्ञानी हैं उनसे प्रेमभाव रखता है। निर्वेद भावमें सर्व पर पदार्थोंसे वैराग्य भाव रखता है। निन्दा और गर्हाभावमें अपने दोषोंका विचार मनमें वचनसे करता है। और उनके दूर करनेकी भावना करता है। उपशम भावमें अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठियोंकी आराधना करता है। वात्सल्य भावमें धर्मात्माओंसे अत्यंत धर्मप्रेम रखता है और अनुकम्पा भावमें प्राणीमात्रकी दया करके उनके दुःखोंके निवारणका उद्यम करता है।

निश्चयसे वह अपने आत्मासे परम प्रेमभाव रखता है। अपने आत्माको सर्व प्रकारके कलुषित भावसे बचाता है। भव्यजीव सच्ची श्रद्धाके बलसे आपत्तियोंके आनेपर भी अपने सिद्धांतसे च्युत नहीं है। भव्यत्व भावका प्रकाश अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें

प्रारम्भ होता है और सिद्ध होनेतक अपना प्रकाश बढ़ाता जाता है। भव्यत्व भाव जहां प्रगट होता है वहां भव जालसे छूटनकी कुंजी हाथमें आ जाती है। निश्चयनयसे भव्यत्व भावका कोई कथन या विकल्प नहीं होसक्ता। आत्मा अपने शुद्ध जीवत्व भावमें विराजमान रहता है और अपने अभेद स्वभावसे अपनको ऐसा दृढ रखता है कि कोई परका प्रवेश न हो सके। निश्चयसे यह आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्षादि तत्वोंसे पर हैं। यह अपने स्वरूपके स्वादमें मगन रहता है। और स्वतन्त्रतासे अपनेमें शोभायमान होता है। निश्चयके जो ज्ञाता हैं वे ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी और महात्मा हैं। वे ही निश्चय तत्वको जानकर तत्वका अनुभव करते हैं और परम सन्तोषित रहते हैं।

२४२–अभव्यत्व विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार करता है। व्यवहारनयसे तीन प्रकार पारिणामिक भावोंमें अभव्यत्व भावको भी लिया गया है। सर्वज्ञके ज्ञानमें झलका है कि इस लोकमें कितने ही जीव ऐसे हैं जिनमें सम्यग्दर्शनकी योग्यता नहीं है। ऐसे जीवोंमें अभव्यत्व भाव पाया जाता है। अभव्य जीव यद्यपि यहांतक उन्नति करता है कि प्रायोग लब्धिको प्राप्त करले तथा नव ग्रैवेयिक तक चला जाय, परन्तु मिथ्यात्व कर्मका उपशम नहीं कर सक्ता, न अनन्तानुबन्धी कषायके उदयको मिटा सक्ता है। इसलिये उसको सत्यरूपमें आत्मतत्वका बोध नहीं होता। ऐसा सूक्ष्म मिथ्यात्व भाव है कि उसके अन्तरङ्गसे नहीं जाता। वह बाह्यमें साधु व श्रावकके व्यवहार पा-

नको ठीक ठीक पलता है, भव्यजीव जैसा आचरण करता है, परन्तु परिणामोंमें आत्मानुभवको नहीं प्राप्त कर सकता। अभव्यत्व भावके कारण उसकी दृष्टि सूक्ष्म आत्म-तत्वपर नहीं जाती। अभव्य जीव मन्द कषायके पुण्य कर्मको बांध लेता है। और उसके फलसे यथासम्भव सांसारिक साताकारी सम्बन्धोंको पाता है, परन्तु संसारसे पार होनेका अवसर नहीं पाता है। निश्चयनयसे अभव्यत्व भाव जीवमें नहीं है। जीव जीवत्व भावको रखनेवाला है। जीवका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा परम वीतराग शुद्ध है।

इसमें कोई कर्म या नोकर्मका सम्बन्ध नहीं है। यह अपनी सत्ता भिन्न रखता है। इस जीवमें कोई संकल्प विकल्प नहीं होता। यह जीव अनादिकालसे अपने स्वभावमें स्थित है। इसके भीतर मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान तथा गति इंद्रिय आदि १४ मार्गणायें नहीं हैं। न इसमें एकेन्द्रि द्वि-इन्द्रिय आदि १४ जीवसमास हैं, न इनमें क्रोधादि चार कषाय, न हास्यादि नोकषाय हैं। न इनमें कर्मोंके बंधस्थान हैं, न उदयस्थान हैं। न स्थितिबंध अध्यवसाय स्थान हैं। तथा न कोई अनुभाग स्थान हैं। न योग स्थान हैं न कोई संयम लब्धि स्थान हैं। न कोई कर्म निर्जरा स्थान हैं। न कोई वर्ग हैं न वर्गणा हैं न स्पर्द्धक हैं। न रस है, न गंध है न वर्ण है न स्पर्श है। न इनमें कोई अन्य द्रव्यका संयोग है। न गुणोंके भेद हैं। न भावोंके भेद हैं। न इसमें चारित्रके भेद हैं। न ज्ञानके भेद हैं। न दर्शनके भेद हैं।

यह परम स्वतंत्र पदार्थ है। जो कोई इस आत्मतत्वको अच्छी

वह समझता है वह सर्व चिन्ताओंको मेटकर एकान्त तिष्ठकर परम श्रद्धापूर्वक आत्माका मनन करता है। भेदविज्ञानसे सर्व अनात्मीक भावोंको दूर करता है और अपने शुद्ध स्वभावमें तन्मय होता है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी एकताको प्राप्त करके आत्मानुभवको पाता है और परम सुख शांतिका लाभ करता है। सन्तोषित होकर मोक्षमार्गको तय करता हुआ एकदिन स्वतंत्र और मुक्त होजाता है। आत्मानुभव ही भाव निर्जरा है, जो कर्मोंको क्षय करती है।

२४३–ईर्यासमिति विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। मुनिगण तेरह प्रकार व्यवहार चारित्रमें पांच समितियोंको भी पालते हैं। अहिंसा महाव्रतकी रक्षाके लिये ईर्यासमितिका साधन करते हैं। दिवसमें प्रकाश होते हुये प्रासुक भूमिमें चार हाथ जमीन आगे देखकर चलते हैं। जिससे जीवोंको कोई बाधा न पहुंचे। हरएक जीव संसारमें जीना चाहता है तब उनके प्राणोंकी रक्षा करना महाव्रती साधुओंका परम कर्तव्य है। अहिंसा मुख्य धर्म है। और धर्म इसीमें गर्भित है। अहिंसाके लिये प्रमाद छोड़कर प्रयत्नशील होना जरूरी है। मनमें हिंसात्मक विचार नहीं करना चाहिये। हिंसाकारी वचन नहीं बोलना चाहिये। कायसे हिंसारूप क्रिया नहीं करना चाहिये। जगतमें ६ कायके प्राणी हैं पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक। त्रसकायमें दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री प्राणी गर्भित हैं। इन सबकी रक्षा करना प्रत्येक म

धर्म है। साधुओंका तो परम धर्म है। इसीलिये साधु विशेष करके मार्गमें चलते हुए ईर्यासमितिको पालन करते हैं। निश्चयनयसे अपने आत्माका आत्मामें कषाय रहित होकर वर्तन करना ईर्यासमिति है। आत्माका स्वभाव निश्चयसे परम शुद्ध है। ज्ञाताद्रष्टा अमूर्तीक अविनाशी है। यह आत्मा अपनी सत्ताको सदा स्थिर रखता है। आत्माके स्वभावमें कर्मोंका सम्बन्ध और नो कर्मका सम्बन्ध नहीं है। इसका स्वरूप ऐसा दृढ़ है कि इसमें कोई पर वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता है। यह आत्मा परमानंद और परम शांतिका सागर है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इसी शांतिसागरमें डुबकी लगाते हैं और अपने कर्म मैलको धोते हैं। आत्माके सत्य स्वरूपका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और इसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और उसीमें लीन होजाना सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंकी एकता जहां होती है वहां आत्मानुभव प्रगट होता है। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। इसीपर चलकर तीर्थंकर आदि महापुरुष भवसागरके पार हो जाते हैं। सर्व सिद्धांतका सार आत्मानुभव है। भेदविज्ञानके द्वारा विचार करनेसे यह आत्मा सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे भिन्न अपने स्वरूपमें निश्चल झलकता है। एकांतमें तिष्ठकर मनको निश्चल कर ज्ञान वैराग्यके साथ आत्माको आत्मरूप ध्याना चाहिये। तब वारवार अभ्यास करनेसे आत्मानुभव प्रगट होगा। जैसे दूधके बिलोनेसे मक्खन निकल आता है। रागद्वेष मोहसे कर्मबंध होता है तब वीतराग भावसे कर्मोंका क्षय होता है। स्वतंत्रताकी प्राप्तिका उपाय एक आत्मानुभव है जो जिस तरह बने प्राप्त करना चाहिये और सुखी होना चाहिये।

२४४–भाषासमिति विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। पाच समिति योंमें दूसरी भाषासमिति है। मुनिगण अपनी वाणी अमृतके समान परम मिष्ट इष्ट उच्चारण करते हैं जिससे श्रवण करनेवाले परम सुखी और तृप्त होते हैं। और धर्म रसायनको पाकर और उसको पीकर सन्तोषित होते हैं। उनकी वाणीसे समभाव प्राप्त होता है। और अनादिकालकी अविद्याका नाश होता है। मिथ्यात्वभाव दूर होता है मोक्षमार्गका प्रकाश होता है। जिनवाणीका विस्तारसे ज्ञान होता है और धर्मप्रभावना होती है। पशुपक्षी भी जिनवाणीको सुनकर शांत होजाते हैं। अनेक मिथ्यात्वी जीव सम्यक्तको ग्रहण करते हैं उनकी अमृतवाणीमें कठोरता नहीं होती। भाषाको बहुत सभालकर बोलते हैं, जिसस किसीका मन पीडित नहीं होता। उनकी वाणीसे आत्म तत्वका प्रकाश होता है। जिससे जीव अपने स्वरूपको पहचान कर आत्मलीन होते हैं। वाणीसे जगतके जीवोंका परम उपकार होता है। उनकी वाणीमें सार तत्वज्ञान भरा रहता है। भाषासमिति भाषाकी समीचीन प्रवृत्तिको कहते हैं, जिसस किसी प्रकारकी दुविधा नहीं रहती, और इससे महान बोध होता है, साधु और श्रावक धर्मका प्रकाश होता है, वाणी चन्द्रमाके समान उज्वल होती है, अज्ञानमें सोते प्राणी जाग जाते हैं और अपने हितको पहिचानकर स्वहितके लिये उद्यमी होते हैं। अहिंसाका भाव दिलमें बैठाते हैं। जगतके प्राणी तृष्णाकी दाहमें जलते हैं, उनकी दाहको मुनिगण साधु शीतल वाणीसे शमन करते हैं।

भाषा समिति सत्य महाव्रतकी दृढ़ता करती है और परिणामोंक
सरल रखती है, परमकल्याणकारणी है। इस समितिका पालन एक
देश श्रावकोंको भी करना चाहिये। इस समितिसे वाणीकी शोभ
होती है। निश्चयनयसे इस समितिका कोई कार्य नहीं है। आत्मा
निश्चयनयसे सर्व प्रपंच रहित ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी परम शुद्ध है।
इस आत्मामें आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म व अन्य किसी द्रव्यका
सम्बन्ध नहीं है। इसके आत्मप्रदेश परम शुद्ध हैं। निर्विकार परम
वीतराग आत्माका तत्त्व है। इसमें संकल्प विकल्प नहीं। इस आत्म-
तत्त्वको जो समझते हैं, वे ही आत्मज्ञानी हैं। उन्हींके अन्तरङ्गमें
आत्मानुभव प्रगट होता है जो साक्षात् मोक्षका मार्ग है। आत्मानुभवसे
ही जीवका परम हित होता है। आत्मानुभवके बिना शास्त्र पाठ
कार्य कर रहे हैं। आत्मा अनुभव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्-
चारित्रको प्रकाश करनेवाला है आत्मानुभवसे वीतरागता प्रगट होती
है, जिससे कर्मकी निर्जरा होती है। आत्मानुभव ही सार तप है।
यही सच्चा सुख प्रदान करता है। सर्व मंगल आत्मानुभव है। सर्व ही
सम्यग्दृष्टी श्रावक और मुनि इसीके द्वारा अपनी आत्म उन्नति करते
हैं। यही आत्माका परम उपकारी है। सिद्ध भगवान भी उसी आत्मा
अनुभवमें परम आनन्द भोगते हैं। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग स्वरूप
है। इसीके प्रतापसे जीवका परम हित होता है। और रागद्वेष
मोहका अभाव होता है। और सुख-शांतिका लाभ होता है।
आत्मानुभव ही सच्चा तीर्थ गुरुदेव है। व्यवहार चारित्रका पालन
इसीके निमित्त किया जाता है। यही स्वतन्त्रताका द्वार है।

२४५-एषणासमिति विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। पांच समिमें एषणासमिति तीसरी है। मुनिगण ४६ दोषरहित ३२ अन्तरायटकर आहार करते हैं। दातार नवधाभक्तिसे आहार दान करते हैं। नेका पड़गाहन हैं। पाद प्रक्षालन करते हैं। उच्चासनपर विराजमान हैं। नमस्कार करते हैं पूजन करते हैं। मन वचन कायको रखते हैं। आहारकी शुद्धि रखते हैं। इसतरह बहुत भक्तिपूर्वक हार देते हैं।

मुनिगण सरस निरसका विचार न करके समभावसे आहार लेने। अन्तरङ्ग शुद्धिका कारण बहिरङ्ग निमित्त है। इस कारण मुनि-शुद्ध आहार लेकर शरीरको स्थित रखते हैं। दातार भी द्रव्य देयोग्य विधिसे दान देकर महान पुण्य बंध करते हैं। यदि शुद्ध हार नहीं मिलता तो आहार नहीं करते हैं। और मुनिगण वृत्ति-संख्यान तप आहारको जाते हुए कोई नियम धारण कर लेते हैं, उसकी पूर्ति न होनेपर आहार नहीं करते हैं। निश्चयसे आत्माको आत्मीक आनन्दका लाभ करना एषणा समिति है। आत्मा व्यवहार एषणासमितिके विकल्पसे बाहर है। आत्माका स्वभाव परम शुद्ध अविनाशी ज्ञायकमात्र है। यह आत्मा अपनी सत्ता स्वतंत्र रखता है। या पदार्थोंसे इसका सम्बंध नहीं है। न आठों कर्मोंका न शरीरादि नो कर्मोंका न रागादि भाव कर्मोंका सम्बंध है। पुद्गल धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश व काल इनसे निराला है। संसारी और सिद्धका भेद आत्मामें नहीं है।

यह आत्मा एकेन्द्रियादि १४ जीव समास, मिथ्यात्वादि १४

गुणस्थान, गत्यादि १४ मार्गणाके विकल्पसे परे है। यह आत्मा परम निर्मल है। इसके ज्ञानमें सब जानने योग्य पदार्थ साक्षात् झलकते हैं, तो भी कोई विकार नहीं होता है। आत्माके तत्वको जो जानते हैं वही सम्यग्दृष्टी श्रावक तथा मुनि है। आत्मतत्वके ध्यानसे आत्मानुभव प्रगट होता है।

भेदविज्ञानके द्वारा तत्वका गम्भीर विचार उत्पन्न होता है जिसके मनन करनेसे आत्मानुभव प्रगट होता है। यह अनुभव ही सार वस्तु है। इसको पाकर भव पुरुष वीतरागभावसे आनंदका लाभ करते हैं। ज्ञानियोंका मूल मंत्र आत्मानुभव है। इसके प्रभावसे कर्मोंका आस्रव रुकता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। मोक्षमार्गका यही खास तत्व है। आत्माके रसीकोंका यही आत्मरस है। अनादिकालकी तृष्णाके मिटानेको यही शीतल जलधारा है। आत्मानन्दके जो भूखे हैं उनके लिये यह परम अमृत भोजन है, संसार-रोगके शमनके लिए अपूर्व औषधि है, वीतरागतारूपी पवनके लेनेके लिये एक अपूर्व उपवन है, समता नारीसे मिलानेके लिये परम मित्र है, गुणरूपी रत्नोंका भण्डार है, भव आतापके शमनके लिये अपूर्व चन्द्र है।

आत्माको पुष्ट करनेके लिये दृढ रसायन है। परम मंगलस्वरूप है। आत्मा अनुभवके करनेवाले ही आत्माका विकाश करते हैं। यही एक कमल है जिसमें परमानंदकी सुगंध आती है। यही भाव निर्जरा है। इससे द्रव्य कर्मकी स्थिति घटती है और उनकी शीघ्र निर्जरा होजाती है।

४६—आदाननिक्षेपण समिति विचय—धर्म ध्यान, निर्जराभाव।
ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। पांच समितियोंमें आदाननिक्षेपण समिति चौथी है। अहिंसाके पालनके हेतु इस व्यवहारकी आवश्यकता है कि किसी वस्तुके उठाने धरनेमें इस बातका पूरा ख्याल रखा जाय कि किसी प्राणीको पीड़ा न हो। अहिंसा ही धर्मका मुख्य झण्डा है। मन, वचन, कायसे भाव और द्रव्य हिंसाको टालनेका पूरा उद्यम करना चाहिये, क्योंकि कोई प्राणी क्लेश उठाना नहीं चाहता, इसलिये हमको अभयदान देकर उनकी रक्षा करनी चाहिये। जगतमें दया और प्रेम बहुत आवश्यक माननीय मानवी कर्तव्य है। महाव्रती साधुओंका तो मुख्य धर्म है कि पूर्ण अहिंसाको धारण करें, आरम्भजनित हिंसा भी न करें। निश्चयसे अपने आत्मीक शुद्ध भावको ग्रहण करना, और राग द्वेषादिक विकारोंको त्यागना आदाननिक्षेपण समिति है। व्यवहारनयसे समितियां कही गई हैं। निश्चयनयसे आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा पूर्ण निराकुल ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक पदार्थ है। इसका संयोग किसी भी परपदार्थसे नहीं है। इसमें कोई वर्णादि और रागादि भाव नहीं हैं। यह आठ कर्म व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है। आत्मा स्फटिक मणिके समान निर्मल है। इसमें सब द्रव्योंके गुण पर्याय एक ही साथ विना क्रमके स्पष्टतया झलकते हैं, तौ भी मनोज्ञ पदार्थ में राग भाव और अमनोज्ञ पदार्थ द्वेष भाव नहीं पैदा करता। आत्माके तत्वको जो यथार्थ समझते हैं, वे ही सम्यग्ज्ञानी हैं। स्वरूपमय एकीभाव उनको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकी यही विधि है।

श्रुतज्ञानमें बड़े महात्माओंने इसी आत्मतत्त्वको ठीकर जानकर वह आत्मानुभव प्राप्त किया था जिसके बिना द्वादशांगका पाठ भी कार्यकारी नहीं है इसीके द्वारा गुणस्थानोंमें उन्नति होती है, और कर्मोंका संवर और उनकी निर्जरा होती है। आत्मानुभवमें वीतरागता पूर्ण साम्यभाव झलक जाता है। जिससे साधकको साध्यकी सिद्धि करनेमें बड़ी सुगमता होती है। जैसे लवण बिना व्यञ्जनोंका स्वाद नहीं आता, वैसे आत्मानुभव बिना अन्य धर्मसाधनोंका स्वाद नहीं आता। यह ही भवसागरके पार होनेका जहाज है। इसमें कोई छिद्र नहीं है जिससे कर्माश्रव होसके। यह अमृत रसायन है, इसको पानेवाले अमर होजाते हैं। भवबंधनोंको काटनेकी यह तेज छुरी है। स्वहितचितकोंको मेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभव प्राप्त करना चाहिये और सुखशांतिका लाभ करना चाहिये। यही भाव निर्जरा है, यही सार तप है। इसमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म गर्भित हैं। धर्मका मुख्य अंग यही है।

२४७-उत्सर्गसमितिविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है-पांचवीं समिति उत्सर्ग है। इसको पालते हुए साधु मलमूत्रादिको जन्तुरहित स्थानमें निक्षेपण करते हैं, जिससे प्राणियोंको पीड़ा न हो। अहिंसा धर्मका यह एक अंग है। अहिंसाका पालन हरएक मानवके लिये आवश्यक है। साधु महाव्रती होते हैं, इससे स्थावर और त्रस दोनों प्रकारके जन्तुओंकी रक्षा करना उनका परम कर्तव्य है। जगतमें हरएक प्राणी अपने जीवनकी रक्षा चाहता है। इसलिये हरएकका

कर्तव्य हरएककी रक्षा करना है। यद्यपि अहिंसामें वीतरागभाव गर्भित है, तथापि सरागभावसे प्राणियोंकी रक्षा करना दयाधर्म है, उसको भी अहिंसा कहते हैं। अहिंसा दो प्रकारकी है—भाव अहिंसा, द्रव्य अहिंसा। रागद्वेष मोहादि भावोंसे अपनी आत्माके शुद्ध भावोंकी रक्षा करना भाव अहिंसा है। इन्द्रिय आदि बाह्य प्राणोंकी रक्षा करना द्रव्य अहिंसा है। यत्तरङ्ग अहिंसा, बाह्य अहिंसाका कारण है। जहां भावहिंसा होती है, वहां द्रव्य हिंसा संभव है।

सब प्राणियोंमें उत्तम मनुष्य है, इस मनुष्यको अन्तरङ्गमें विश्व-प्रेम रखना चाहिये, और अपने पास जो मन वचन काय धन आदि सम्पत्ति हो उसको परके उपकारमें व्यय करना चाहिये। जो परिग्रह संग्रह करते हैं, और तृष्णासे व्याकुल रहते हैं, वह अपने [illegible] भावसे अपनी आत्माका बहुत बुरा करते हैं। पांचों समितियां [illegible] रक्षाके व्यवहारकी अपेक्षासे कही गई हैं। [illegible] परकीय भावोंका त्याग निश्चयसे उत्सर्ग समिति है। अपनी आत्माको शुद्ध रखनेका प्रयत्न करना अन्तरङ्ग समिति है। निश्चयनयसे आत्मामें उत्सर्ग समितिका कोई उपयोग नहीं है। क्योंकि निश्चयसे आत्मा विकल्प रहित और भेदभाव रहित है। यह आत्मा [illegible] अविनाशी परम शांति और सुखका अथाह सागर है, जिसमें [illegible] अवगाहन करते हैं तो भी उसका पार नहीं पाते हैं। [illegible] एक अद्भुत पदार्थ है। जिसके अनुभवमें यह आ जाता है [illegible] शमन हो जाती हैं। आत्मतत्व एक मनोहर [illegible] है, जिसमें [illegible] गुणरूपी वृक्ष शोभायमान हैं।

मुमुक्षु जीव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंको भिन्न २ मनन करता है। फिर अखण्ड रूपसे अभेदमें लय- होजाता है, तब स्वात्मानुभव प्रकाश करता है। इसके सूर्यके समान प्रकाशसे अज्ञान मोहकी सेना मिट जाती है, और धार्मिक बलका प्रभाव प्रगट होता जाता है। आत्मतत्वकी उपमा चन्द्रमासे भी दे सक्ते हैं, क्योंकि एक समय मात्र अनुभवसे परमानंदमई अमृतका स्वाद आता है। आत्मा-नुभव परम निर्मल स्फटिकमणिके सदृश है, जिसमें आप ही दृष्टा है, आप ही दृश्य है। अपनी ही परिणतिका दर्शन है। इसमें मोक्षमार्ग गर्भित है क्योंकि यही भाव अनुभव होनेके योग्य है। आत्मानुभव एक ऐसा गुप्त किला है जिसके अन्दर परदेशियोंका गमनागमन नहीं है। आत्मा अपने स्वदेशमें तिष्ठा हुआ निर्भय रहता है, किसी प्रकारकी मानसिक इच्छाएं नहीं सताती हैं। आत्मा निर्मल सुख सिद्धान्तका सागर है, जिसकी अनन्तताका कोई पता नहीं जो अपना हित करना चाहे, उसको जैनसिद्धान्तके द्वारा आत्मतत्वको समझना चाहिये। जिसने आत्माको जान लिया उसने सब ही जान लिया। आत्मज्ञान ही भाव निर्जरा है। यही सार तप है। परका त्याग होना ही उत्सर्ग समिति है।

२४८—मनोगुप्तिविचयधर्मध्यान—निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। साधु-ओंके १३ प्रकार चारित्रमें तीन गुप्ति भी हैं। उनमेंसे प्रथम मनोगुप्ति मन सदा विकल्प किया करता है। उसको रोकना और अपने

आत्माके स्वभावमें लीन करना मनोगुप्ति है। यदि आत्म स्वभावमें मन स्थिर न हो तो तत्त्वोंके विचारमें मनको लगा देना भी मनोगुप्ति है। क्योंकि अशुभ योगसे बचाना और शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोगमें रहना आवश्यक है। आदर्श मनोगुप्ति शुद्धोपयोगमें रहना है। मन दो प्रकारका होता है–भाव मन, और द्रव्य मन। भाव मन विचार करने रूप है। द्रव्य मन हृदय स्थानमें आठ पाखडीके कमलाकार है, जो सूक्ष्म मनोवर्गणाओंसे बनता है। तर्क वितर्क करके किसी वस्तुका निर्णय करना भावमनका काम है। मन सहित जीव ही मिथ्यादर्शनको हटाकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कर सकता है। जब आत्मामें मन स्थिर होजाता है, तो उपयोग स्वसंवेदनमय होजाता है। और संकल्प विकल्प मिट जाता है। मनोगुप्तिके धारी मुनि मोक्षमार्गमें उन्नति करते हुए कर्मोंकी निर्जरा करते हैं।

मनोगुप्तिके द्वारा सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और अन्तमें केवलज्ञान प्रकट होजाता है। मनोगुप्ति बड़ी उपकार करनेवाली है। इसीसे कर्मोंका संवर होता है। व्यवहारनयसे तीन गुप्तियोंका विचार होता है। निश्चयनयसे मनोगुप्तिका कोई निर्देश नहीं है, क्योंकि निश्चयसे आत्मा मन, वचन, कायसे अगोचर है। आत्मा एक स्वतन्त्र, अविनाशी, अमूर्तीक पदार्थ है, जिसमें कोई गुणोंके भेद नहीं हैं। आत्मा अखण्ड, अभेद और निर्विकल्प है। यद्यपि अनेक गुणोंका समुदाय है, तथापि सर्व गुण एक दूसरेमें व्यापक हैं। आत्मतत्व ही सार वस्तु है। इसको जो समझते हैं, वही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हैं, क्योंकि निश्चयसे आत्मा

सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा ही सम्यक्चारित्र है। जिनवाणीका सार आत्मज्ञान है, उसके बिना व्यवहार ज्ञान और व्यवहार चारित्र कार्यकारी नहीं है।

आत्मज्ञानी ही भवसागरसे पार होनेमें यथायोग्य उद्यम कर सकता है। आत्मज्ञानी आत्मरसिक होता है, और आत्मानुभव द्वारा आत्मीक आनन्दके रसका पान करता है। आत्मज्ञानके सिवाय और कोई जीवका खेवटिया नहीं है। अल्प शास्त्र ज्ञानी भी आत्मज्ञानसे केवलज्ञानी हो जाता है। आत्मज्ञानसे बढ़कर भवरोगके शमनकी कोई औषधि नहीं, सर्व मनोरथोंका मेटनवाला आत्मज्ञान है। इसीसे आत्मा मोक्षमहलमें प्रवेश करता है। जहां किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है-सदाके लिये निराकुलताका लाभ होजाता है।

आत्मज्ञानसे ही आत्मानुभव प्राप्त होता है। आत्मानुभव ही क्षीरसमुद्रके समान आनंदरूपी अमृतका सागर है। इसमें ज्ञानीजन निरंतर निमज्जन करते हैं और शांत रसका पान करते हैं। जहां मनोगुप्ति है वहां ही आत्मानुभव है, वहां ही भावनिर्जरा है, वही सार तत्व है, इसका अनुभव तत्वज्ञानीको होता है।

२४९-वचनगुप्ति विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। तीन गुप्तियोंमें वचनगुप्ति भी शामिल है। वचनोंको कहना बंद करके मौन रहना और अपने आत्माके विचारमें तन्मय रहना वचनगुप्ति है। यदि न होसके, तो वैराग्यमयी भावोंका पढ़ना और विषयकषायों से

जिह्वाको बचाना वचनगुप्ति है। वचनोंका प्रयोग स्वपर हितकारी होना चाहिये। वचनगुप्तिकी शक्ति अपूर्व है। इससे अपने अन्तरङ्गके विचार दूसरोंको मनमें बिठाय जा सक्ते हैं और एक आदमी अपने वचनोंसे करोडोंका उपकार कर सक्ता है। उनको सत्य मार्ग बतला सकता है। अज्ञान अन्धकार मिटा सक्ता है। अवगुणोंको मिटाकर गुणोंमें परिवर्तन करा सकता है। मानवोंका भूषण वचन है। वचनोंसे मोक्षमार्गका प्रकाश पा सक्ता है। वचन भाषा वर्गणाओंसे बनता है। जो वर्गणाएं सर्वत्र भरी हुई हैं। वचन भाषात्मक और अभाषात्मक दो प्रकार के होते हैं। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंका व्यवहार भाषात्मक है। कोई प्रकारकी खास भाषा न होकर अपने भावको प्रकट करनेवाले वचन अभाषात्मक हैं।

वचनगुप्तिके द्वारा विकथाओंसे बचा रहता है। शान्तरसका प्रवाह अपने अन्तरंगमें प्रसारित होता है। वचनगुप्तिमें मनोबलकी पुष्टि होती है, और जगतमें सुव्यवस्थाका प्रचार होता है, जिससे जगतके मानव अपने व्यवहारको ठीक करते हैं। वचन पुद्गल कृत रचना है, आत्माके स्वभावसे भिन्न है। निश्चयनयसे आत्मा वचनोंकी प्रवृत्तिसे जुदा है। अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र है। गुण पर्यायवान होनेपर भी निश्चयसे अभेद है, और निर्विकल्प है। आत्मस्वभावके ज्ञाता ही ज्ञानी महात्मा कहलाते हैं। उनहीको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे स्वात्मानुभव होता है, जिससे आनन्दामृतका स्वाद आता है, गुप्त शक्तियोंका प्रकाश होता है, और आत्मा उन्नतिके [illegible]

सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा ही सम्यक्चारित्र है। जिनवाणीका सार आत्मज्ञान है, उसके विना व्यवहार ज्ञान और व्यवहार चारित्र कार्यकारी नहीं है।

आत्मज्ञानी ही भवसागरसे पार होनेमें यथायोग्य उद्यम कर सकता है। आत्मज्ञानी ही आत्मरसिक होता है, और आत्मानुभव द्वारा आत्मीक आनंदके रसका पान करता है। आत्मज्ञानके सिवाय और कोई जीवका खेवटिया नहीं है। अल्प शास्त्र ज्ञानी भी आत्मज्ञानसे केवलज्ञानी हो जाता है। आत्मज्ञानसे बढकर भवरोगके शमनकी कोई औषधि नहीं, सर्व संशयोंका मेटनेवाला आत्मज्ञान है। इसीसे आत्मा मोक्षमहलमें प्रवेश करता है। जहां किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है-सदाके लिये निराकुलताका लाभ होजाता है।

आत्मज्ञानसे ही आत्मानुभव प्राप्त होता है। आत्मानुभव ही क्षीरसमुद्रके समान आनंदरूपी अमृतका सागर है। इसमें ज्ञानीजन निरन्तर निमज्जन करते है और शांत रसका पान करते हैं। जहा मनोगुप्ति है, वहा ही आत्मानुभव है, वहा ही भावनिर्जरा है, वही सार तत्व है, इसका अनुभव तत्वज्ञानीको होता है।

२४९—वचनगुप्ति विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। तीन गुप्तियोंमें वचनगुप्ति भी शामिल है। वचनोंको कहना बद करके मौन रहना और अपने आत्माके विचारमें तन्मय रहना वचनगुप्ति है। यदि ध्यान न होसके, तो वैराग्यमयी भावोंका पढना और विषयकषायों से

जिह्वाको बचाना वचनगुप्ति है। वचनोंका प्रयोग स्वपर हितकारी होना चाहिये। वचनगुप्तिकी शक्ति अपूर्व है। इससे अपने अन्तरङ्गके विचार दूसरोंको मनमें बिठाया जा सकते हैं और एक आदमी अपने वचनोंसे करोडोंका उपकार कर सकता है। उनको सत्य मार्ग बतला सकता है। अज्ञान अंधकार मिटा सकता है। अवगुणोंको मिटाकर गुणोंमें परिवर्तन ला सकता है। मानवोंका भूषण वचन है। वचनोंसे मोक्षमार्गका प्रकाश पा सकता है। वचन भाषा वर्गणाओंसे बनता है। जो वर्गणाएं सर्वत्र भरी हुई हैं। वचन भाषात्मक और अभाषात्मक दो प्रकारके होते हैं। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंका व्यवहार भाषात्मक है। कोई प्रकारकी खास भाषा न होकर अपने भावको प्रकट करनेवाले वचन अभाषात्मक हैं।

वचनगुप्तिके द्वारा विकथाओंसे बचा रहता है। शान्तरसका प्रवाह अपने अन्तरंगमें प्रसारित होता है। वचनगुप्तिमें मनोबलकी पुष्टि होती है, और जगतमें सुव्यवस्थाका प्रचार होता है, जिससे जगतके मानव अपने व्यवहारको ठीक करते हैं। वचन पुद्गल कृत रचना है, आत्माके स्वभावसे भिन्न है। निश्चयनयसे आत्मा वचनोंकी प्रवृत्तिसे जुदा है। अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र है। गुण पर्यायवान होनेपर भी निश्चयसे अभेद है, और निर्विकल्प है। आत्मस्वभावके ज्ञाता ही ज्ञानी महात्मा कहलाते हैं। उनहीको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे स्वात्मानुभव होता है, जिससे आनन्दामृतका स्वाद आता है, गुप्त शक्तियोंका प्रकाश होता है, और आत्मा उन्नतिके मैदानमें दौड़कर बढ़ता जाता है।

यहांतक कि पूर्ण धर्मात्मा होजाता है, कृतकृत्य होजाता है, समस्त समाजके झगड़ोंसे निवृत्त होजाता है। आत्मानुभव परम उपकारी है। इसीसे श्रुतज्ञानका विकास होता है। पांचों ज्ञानमें श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। निश्चयसे आत्मा पूर्ण ज्ञानका सागर है, इसकी महिमा अपार है, सत पुरुषोंका रमणक्षेत्र है। दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। जो आत्मामें रत होते हैं, उनका अनादि संसार कट जाता है। परतन्त्रताका नाश होकर स्वतन्त्रताका प्रकाश होजाता है। यही भाव-निर्जरा है।

२५०-कायगुप्तिविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। तीन गुप्ति-योंमें कायगुप्ति भी साधुओंका चारित्र है। ध्यानके समय कायसे ममत्व छोड़कर अपनी आत्मामें तन्मय रहना कायगुप्ति है। कायको सम्हाल कर स्वाधीन रखना और आसनकी दृढ़ता रखनेसे क्षुद्र प्राणि-योंकी रक्षा रहती है। और अहिंसाधर्मका पालन होता है। अहिंसा ही मुख्य धर्म है। जिससे किसी प्राणीको बाधा न पहुंचे। इस तरह प्रमाद छोड़कर कायगुप्ति पालना मुख्य धर्म है। यह व्यवहारनयसे चारित्रका भेद है। निश्चयनयसे चारित्र एक वीतराग भाव है जो कषायोंके क्षयसे उत्पन्न होता है। यह आत्माका स्वभाव है। आत्मामें निश्चयनयसे कोई भेद नहीं है। आत्मा अभेद अखण्ड अविनाशी स्वतंत्र पदार्थ है। इसके महात्म्यके ज्ञाता सम्यग्दृष्टी होते हैं। यही मोक्षमार्गपर चलते हुये उन्नति करते हैं। आत्मा आनंदसागर है।

इसमें भव्य जीव अवगाहन करके अपनी शुचिता करते हैं। आत्माके पास कोई आस्रवकार नहीं है, जिससे कर्म आसके, नोकर्मका सचय होसके। कर्म नोकर्मका निर्माण पुद्गल द्रव्यसे होता है। पुद्गलका संबध ससार है। पुद्गलद्रव्यको छोडकर आत्मामें विश्राम करना ज्ञानी पुरुषोंका धर्म है। आत्मा एक अपूर्व किला है, जिसमें पर वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मज्ञानसे आत्मिक अनुभवकी प्राप्ति होती है, आत्मानुभवमें भेदविज्ञान होजाता है। आत्मानुभव परम सार गुण है, जो भवरोगोंको शमन करता है। इसकी शक्ति अपार है। इसीसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और आत्मा स्वभावमें निश्चल हो जाता है, सर्व आपत्तियोंका मूल कट जाता है, आत्माकी शक्ति विकसित हो जाती है, हमेशाके लिये आत्मा सुखी होजाता है। स्वतत्रता पानेका उपाय यही है। द्वादशागवाणीका यही सार है। आत्मा विलासियोंका क्रीडावन है। परमात्मा प्रकाशका उपाय है। यह निर्विकल्प तत्व मन वचन कायके अगोचर है, समताभावका सागर है, परम वीतराग भावका प्रकाशक है, धर्मवृक्षका मूल है और सच्चे सुखकी खान है।

ता० २१-१-४२] [ब्र० सीतलप्रसाद।

नोट—पूज्य ब्रह्मचारीजीका लखनऊमें लिखा गया यह अन्तिम लेख है। इसके बाद आप नहीं लिखवा सके थे और ता० १०-२-४४ को प्रात काल लखनऊमें ही आपका स्वर्गवास हुआ था।